आधुनिक आर्थिक सिद्धान्त

लेखक

धर्मेन्द्र सिंह कुशवाहा, एम० ए०
अर्थशास्त्र विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग

प्रकाशक
गौतम ब्रदर्स, कानपुर

मूल्य ६।)
या
६·५० नये पैसे

पूज्य

माता व पिता

को

सादर समर्पित

प्रथम संस्करण की

भूमिका

अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों के अध्ययन का महत्व निर्विवाद है। व्यवहारिक समस्याओं को भली प्रकार समझने तथा हल करने के लिए इन सिद्धान्तों का उचित ज्ञान अति आवश्यक है। विश्वविद्यालयों में भी आर्थिक सिद्धान्तों का अध्ययन अत्यन्त महत्वपूर्ण है। प्रयाग विश्वविद्यालय अपने 'सैद्धान्तिक दृष्टिकोण' के लिए प्रसिद्ध ही है। अन्य विश्वविद्यालयों, उदाहरणार्थ आगरा तथा राजपूताना विश्वविद्यालयों में भी सिद्धान्तों के अध्ययन को उचित स्थान दिया गया है। सम्भवतया इस वजह से ही बी० ए० तथा बी० कॉम के विद्यार्थियों के लिए वहाँ सिद्धान्त-विषयक अलग प्रश्न-पत्र (अर्थशास्त्र, प्रथम प्रश्न-पत्र) होता है।

अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों के अध्ययन का महत्त्व तो दिन-प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है; परन्तु आर्थिक सिद्धान्तों को हिन्दी में प्रस्तुत करने वाली पुस्तकें गिनी-चुनी ही हैं। इनमें भी अधिकांश अनुवाद मात्र हैं। कुछ पुस्तकों में सिद्धान्तों के अतिरिक्त अन्य विषयों का भी समावेश है। कदाचित् इस कारण इनमें सिद्धान्तों का विस्तृत और आधुनिक विवेचन संभव नहीं हो सका है। प्रस्तुत पुस्तक में आर्थिक सिद्धान्तों का विस्तृत और आधुनिकतम विवेचन प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। प्रत्येक सिद्धान्त के सम्बन्ध में आधुनिक विचारों का इस प्रकार समावेश किया गया है कि विद्यार्थी उसे सरलता से समझ लें तथा अर्थशात्र के वर्त्तमान रूप से परिचित हो जायँ। विषय-सूची में प्रत्येक अध्याय के विषय को कुछ उप-शीर्षकों में लिख दिया गया है।

प्रस्तुत पुस्तक लिखने में मुझे अनेक व्यक्तियों से सहायता मिली है, मैं उन सब को धन्यवाद देता हूँ। जिन अर्थशास्त्रियों के विचारों ने मुझे प्रभावित किया है उनका उल्लेख यथास्थान कर दिया गया है। श्री ज्ञानेन्द्र सिंह ने पुस्तक की पाण्डुलिपि तैयार करने तथा प्रूफ संशोधन में मेरी बहुत मदद की है, इसके लिए मैं उन्हें धन्यवाद देता हूँ। सुश्री शीलकुमारी ने न केवल पुस्तक की पाण्डुलिपि तैयार करने में मेरी मदद की है वरन् उसे लिखने और पूरा करने के लिए मुझे बराबर प्रेरित और प्रोत्साहित किया है। उनकी सहायता धन्यवाद के शिष्टाचार से परे है, अतः धन्यवाद देकर मैं उसे अवमानित नहीं करना चाहता।

मुझे आशा है कि यह पुस्तक बी० ए० तथा बी० कॉम के विद्यार्थियों के लिए उपयुक्त सिद्ध होगी। अन्य विश्वविद्यालयों के अतिरिक्त आगरा तथा राजपूताना विश्वविद्यालयों के बी० ए० तथा बी० कॉम के विद्यार्थी भी अर्थशास्त्र के प्रथम प्रश्न-पत्र के लिए इसे अत्यन्त उपयोगी पायेंगे, ऐसा मेरा विश्वास है। मेरा अनुरोध है कि पाठक पुस्तक की त्रुटियों की ओर मेरा ध्यान आकर्षित करें ताकि भविष्य में उन्हें दूर किया जा सके।

कॉटेज, बलरामपुर हाउस, इलाहाबाद—२
२ दिसम्बर, १९५४

धर्मेन्द्र सिंह कुशवाहा

द्वितीय संस्करण की

भूमिका

प्रस्तुत पुस्तक का पहला संस्करण लगभग एक वर्ष में ही समाप्त हो गया। इस पुस्तक के शीघ्र प्रकाशित न होने का कारण मुख्यतः मेरा स्वास्थ्य ही था।

इस संस्करण में अनेक स्थानों पर पर्याप्त संशोधन किये गये हैं। अनेक अध्यायों में कतिपय विषयों का विवेचन अधिक विस्तृत कर दिया गया है तथा कुछ नये विषयों का भी समावेश किया गया है। फलस्वरूप पुस्तक के पृष्ठों की संख्या भी बढ़ गई है।

श्री कृष्ण लाल ने, जो विश्वविद्यालय के अर्थशास्त्र विभाग में मेरे सहयोगी भी हैं, पुस्तक में अपेक्षित संशोधन से सम्बन्धित अनेक सुझाव दिये हैं। इसके लिये मैं उन्हें धन्यवाद देता हूँ।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, मुद्रा, सार्वजनिक राजस्व आदि विषयों पर इस पुस्तक का दूसरा भाग शीघ्र ही प्रकाशित होगा।

कॉटेज, बलरामपुर हाउस,
इलाहाबाद–२,
५ मार्च, १९५८

धर्मेन्द्र सिंह कुशवाहा
अर्थशास्त्र विभाग,
प्रयाग विश्वविद्यालय

By the Same author

1. Co-operation in the East & the West. (Co-author)
2. Economic Essays in Honour of Prof. Rudra.
3. Studies in Economic Theory. (Co-author)
4. Indian Economic. by Jathar & Ben

[Revised & Presented
its Hindi Edition]

विषय-सूची

परिचय

उपभोग

अर्घ के सिद्धान्त या मूल्य-निर्धारण

वितरण

स्वत्व सिद्धान्त, मजदूरी का सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त, श्रम की वास्तविक सीमान्त उत्पत्ति, टासिग का सिद्धान्त, सापेक्षिक मजदूरी का अन्तर, स्त्रियों की कम मजदूरी, श्रम संघ और मजदूरी, न्यूनतम मजदूरी ।

अध्याय ३०—व्याज

'व्याज' की परिभाषा, वास्तविक तथा कुल व्याज, व्याज निर्धारण के सिद्धान्त, माँग और पूर्ति का सिद्धान्त या क्लासिकल सिद्धान्त, व्याज का त्याग या प्रतीक्षा सिद्धान्त, सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त व्याज का आस्ट्रियन सिद्धान्त, फिशर का समय-अधिमान सिद्धान्त, तरलता अधि-मान या केन्स का सिद्धान्त, केन्स के सिद्धान्त की श्रेष्ठता, आलोचना, तरलता अधिमान और क्लासिकल सिद्धान्त की तुलना, व्याज की शून्य और ऋणात्मक दर ।

अध्याय ३१—लाभ

लाभ के सम्बन्ध में दो विचारधारायें, पहली विचारधारा के अनुसार लाभ के प्रकार—कुल लाभ, वास्तविक लाभ, शुद्ध लाभ, सामान्य लाभ, अतिरिक्त लाभ, दूसरी (आधुनिक) विचारधारा—लाभ केवल साहसोद्यम का प्रतिफल है, मार्शल का [illegible]— पूंजी पर वार्षिक लाभ की दर, प्रत्यावर्तन पर लाभ की दर, लाभ के सिद्धान्त, माँग और पूर्ति का सिद्धान्त, सिद्धान्त की विशेषता, सिद्धान्त की आलोचना, लाभ का लगान या अतिरिक्त सिद्धान्त, लाभ प्रवैगिकसिद्धान्त, प्रो० नाइट का सिद्धान्त, समाजवादी धारणा, लाभ का महत्व, लाभ, लगान और व्याज का अन्तर ।

अध्याय ३२—लगान

लगान का अर्थ, लगान के सम्बन्ध में क्लासिकल विचारधारा, सर विलि-यम पैटी, एडम स्मिथ तथा जे०बी० से के विचार,, रिकार्डो का सिद्धान्त, रिकार्डो के सिद्धान्त के दो प्रकार के विश्लेषण, रिकार्डो के सिद्धान्त की आलोचना, खानों तथा मकानों का लगान, समान उपजाऊ भूमि और लगान, भूमि के सुधार तथा यातायात की सुविधाओं का लगान पर प्रभाव, योग्यता का लगान, आभास लगान, आभास लगान का महत्व, लगान, आभास लगान और व्याज का पारस्परिक अन्तर, आधुनिक विचारधारा, लगान और मूल्य का सम्बन्ध ।

परिचय
INTRODUCTION

अध्याय १

अर्थशास्त्र क्या है?

(WHAT IS ECONOMICS ?)

अर्थशास्त्र की परिभाषा

मान लीजिये आप विश्वविद्यालय में किसी विद्यार्थी का पता लगाना चाहते हैं। केवल इतना कह कर कि वह विश्वविद्यालय के छात्र हैं आप उन्हें नहीं पा सकते। विश्वविद्यालय के छः हजार विद्यार्थियों में उन्हें ढूँढ़ निकालना लगभग असम्भव है। इसके लिये कुछ अधिक हवाला देना पड़ेगा। इतना और जान लेने पर कि वह बी० ए० प्रथम वर्ष में अर्थशास्त्र के विद्यार्थी हैं, उन्हें ढूँढ़ने का कार्य कुछ सरल अवश्य हो जाता है मगर पूरा नहीं होता। अब उन्हें अर्थशास्त्र के प्रथमवर्ष के छः सौ विद्यार्थियों में ढूँढ़ना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त जब यह भी मालूम हो जाता है कि वह सेक्सन 'ब' के विद्यार्थी हैं तथा उनके वैकल्पिक विषय अमुक हैं, तब उन्हें सरलता से ढूँढ़ा या पहचाना जा सकता है। विद्यार्थियों के समूह में एक विद्यार्थी को जानने, ढूँढ़ निकालने के लिये हमें पूर्ण हवाला देना पड़ता है।

ठीक इसी प्रकार ज्ञान राशि अपार है। तर्क, गणित, रसायन आदि अनेक शास्त्र उसमें समाहित हैं। इस ज्ञान राशि में से अर्थशास्त्र को ढूँढ लेना—यह जान लेना कि अर्थशास्त्र क्या है—एक सरल कार्य नहीं है। इसके लिये हमें उपर्युक्त उदाहरण की तरह पूरा हवाला देना पड़ेगा—उसकी सारी विशेषतायें एक साथ बतानी होंगी, तभी अर्थशास्त्र की एक उचित परिभाषा सम्भव हो सकेगी। संयोगवश अर्थशास्त्र की परिभाषा का इतिहास उपर्युक्त उदाहरण से मिलता जुलता है। अर्थशास्त्र की प्रारम्भिक परिभाषा से लेकर अब तक उसमें जो परिमार्जन और परिशोधन हुआ है, मोटे तौर पर हम उसे विकास की तीन श्रेणियों के रूप में देख सकते हैं।

अर्थशास्त्र की परिभाषा का पहला रूप (Adam Smith) एडम स्मिथ तथा उनके अनुयाइयों ने प्रस्तुत किया। यह लोग अर्थशास्त्र को धन का विज्ञान मानते हैं। एडम स्मिथ के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ के शीर्षक 'वैल्थ आव नेशन्स' (Wealth of Nations) से ही यह ध्वनि निकलती है, ग्रन्थ का अवलोकन इसकी पुष्टि करता है, कि अर्थशास्त्र धन का विज्ञान है। प्रश्न यह है कि यह परिभाषा अर्थशास्त्र के पहचानने, अर्थशास्त्र क्या है, यह ठीक प्रकार से जानने में, हमारी कहाँ तक मदद करती है। इस दृष्टिकोण से इसमें मुख्यतया तीन कमी हैं। एक तो यह कि इस परिभाषा के अनुसार

अर्थशास्त्र केवल धन से सम्बन्धित रह जाता है। धन एक साध्य बन जाता है जिसकी प्राप्ति के लिये मनुष्य प्रयत्न करता है। वास्तव में धन एक साधन है जिसका अस्तित्व मनुष्य की इच्छाओं की पूर्ति के लिये ही है। अर्थशास्त्र के अध्ययन का क्षेत्र तो मानव व्यवहार है, एक साधन विशेष नहीं। यह परिभाषा हमारा ध्यान धन पर केन्द्रित करती है, मानव-व्यवहार पर नहीं। इस प्रकार हमारा ध्यान अध्ययन के एक महत्त्वपूर्ण पहलू की ओर जाता ही नहीं। दूसरे यह कि इस परिभाषा में धन शब्द का प्रयोग एक संकुचित अर्थ में किया गया है। प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने धन के अर्थ में केवल मूर्त पदार्थों (Physical and tangible objects) को ही लिया है। इस अर्थ के कारण, यह परिभाषा विषय के क्षेत्र को संकीर्ण अथवा संकुचित बनाती है। किसी भी विषय की परिभाषा को सरल एवम् सुबोध होना चाहिये। अतः उसमें ऐसे शब्दों का प्रयोग न होना चाहिये जिनकी फिर परिभाषा देनी पड़े। उपर्युक्त परिभाषा इस दृष्टिकोण से भी त्रुटिपूर्ण हैं। उसमें प्रयुक्त धन शब्द की अर्थशास्त्र में साधारण बोल-चाल के अर्थ से भिन्न एक अलग परिभाषा है। इस परिभाषा का यह तीसरा दोष है।

अर्थ आस्त्र की यह परिभाषा इन तीन कारणों से एक सम्यक परिभाषा नहीं है। ज्ञानराशि में अर्थशास्त्र को पहचानने में वह हमारी पूरी मदद नहीं कर सकती। जो विषय के केवल एक पहलू पर हमारा ध्यान केन्द्रित करती हो, उसके क्षेत्र को सीमित करती हो तथा जिसमें शाब्दिक कठिनाई भी हो, उसे हम एक उचित परिभाषा कैसे कह सकते हैं?

दूसरी महत्त्वपूर्ण परिभाषा प्रो० मार्शल की है। इनके अनुसार अर्थशास्त्र जीवन के **साधारण-व्यापार** में मानव-जाति का अध्ययन है। वह **वैयक्तिक एवम् सामाजिक कार्य** के उस अंश की परीक्षा करता है जो क्षेम (welfare) के लिये **मौतिक साधनों की प्राप्ति तथा उपयोग** से घनिष्टतम रूप से सम्बन्धित हो।* पहली परिभाषा की तुलना में यह परिभाषा कहीं अच्छी है। न केवल वह उसके दोष (धन के ऊपर एकांगी बल देना) को ही दूर करती है वरन् विषय का उचित ज्ञान कराने में भी समर्थ है। इसका अर्थ यह नहीं है कि यह परिभाषा त्रुटिहीन है। उसे पूर्णरूप से स्वीकार करने से पूर्व हमें उसकी परीक्षा करनी होगी। इसके लिये उसमें कही हुई मुख्य बातों का अध्ययन करना होगा।

प्रो० मार्शल ने अर्थशास्त्र के बारे में तीन मुख्य बातें कही हैं।

---

*"Economics is a study of mankind in the ordinary business of life. It examines that part of individual and social action which is most closely connected with the attainment and use of the material requisites of well-being." Marshall—*Principles of Economics.*

(१) अर्थशास्त्र मनुष्य का जीवन के साधारण व्यापार में अध्ययन करता है।

(२) वह वैयक्तिक-एवम् सामाजिक कार्यों से ही सम्बन्धित है।

(३) वह भौतिक साधनों की प्राप्ति तथा उपयोग से घनिष्टतम रूप से सम्बन्धित कार्यों अथवा उनके अंशों की परीक्षा करता है।

इन तीन बातों का विश्लेषण करके ही हम प्रो० मार्शल की परिभाषा के बारे में कोई धारणा बना सकते हैं। उनके अनुसार अर्थशास्त्र मनुष्य के साधारण जीवन की क्रियाओं का अध्ययन करता है। इससे यह ध्वनि आती है कि जीवन साधारण तथा असाधारण व्यापारों में विभक्त है तथा अर्थशास्त्र केवल साधारण व्यापार से सम्बन्धित है और दूसरे प्रकार के व्यापारों से उसे कोई सरोकार नहीं है। प्रश्न यह है कि जीवन का यह विभाजन कहाँ तक उचित है? जीवन के कार्य कलापों के मध्य साधारण एवम् असाधारण की विभाजन रेखा खींचना लगभग असम्भव है। जो कार्य एक व्यक्ति के लिये साधारण है वही दूसरे के लिये असाधारण हो सकता है और होता है। अतः साधारण व्यापार का एक निश्चित एवम् स्पष्ट अर्थ नहीं हो सकता। अस्पष्टता के अतिरिक्त इस विभाजन को स्वीकार कर लेने से अर्थशास्त्र का क्षेत्र संकीर्ण हो जाता है। हमें मानव-व्यवहार का अध्ययन उसकी सम्पूर्णता में करना चाहिये। जीवन का विभाजन करके केवल एक भाग का अध्ययन करना अपूर्ण है। अतः प्रो० मार्शल का पहला कथन त्रुटिपूर्ण है।

दूसरी मुख्य बात यह है कि अर्थशास्त्र वैयक्तिक एवम् सामाजिक कार्यों से सम्बन्धित है। इसका अर्थ यह हुआ कि अर्थशास्त्र केवल उन मनुष्यों के कार्यों का अध्ययन करता है जो समाज के सदस्य हों। इस प्रकार अर्थशास्त्र केवल सामाजिक व्यक्तियों के कार्यों का अध्ययन करता है।[1] समाज के बाहर रहनेवाले व्यक्ति उसके अध्ययन के क्षेत्र के बाहर हैं। अतः हमारा अध्ययन सामाजिक व्यक्तियों तक ही सीमित है। विषय के क्षेत्र को इस प्रकार संकीर्ण करना उचित नहीं है। जंगल में रहने वाले एक साधु की क्रियायें भी उपभोग आदि के अन्तर्गत उसी प्रकार देखी जा सकती हैं जिस प्रकार समाज में

---

[1] कुछ अर्थशास्त्रियों का मत है कि प्रो० मार्शल ने यह नहीं कहा है कि अर्थशास्त्र व्यक्तिगत कार्यों का अध्ययन नहीं करता। अतः यह कहना कि अर्थशास्त्र केवल सामाजिक व्यक्तियों के कार्यों का अध्ययन करता है, समीचीन नहीं है। हम इस बात को मानने के लिए तैयार नहीं हैं। यदि प्रो० मार्शल समाज के अन्दर और बाहर रहने वाले सभी व्यक्तियों का अध्ययन करने को प्रस्तुत होते तो वे केवल व्यक्तिगत कार्य (individual action) कह कर काम चला सकते थे। कार्य शब्द के लिए प्रयुक्त वैयक्तिक एवम् सामाजिक विशेषण इस बात को स्पष्ट कर देते हैं कि वे केवल उन्हीं व्यक्तियों के कार्यों का अध्ययन अर्थशास्त्र के अन्तर्गत मानते हैं जो समाज के सदस्य हों।

रहने वाले एक व्यक्ति की । अत: अर्थशास्त्र का क्षेत्र उपर्युक्त रीति से सीमित कर देना अनुचित है ।

अन्तिम मुख्य बात यह है कि अर्थशास्त्र केवल उन्हीं कार्यों का अध्ययन करता है जो भौतिक साधनों की प्राप्ति तथा उपयोग से घनिष्टतम रूप से सम्बन्धित हैं । इससे स्पष्ट है कि जो कार्य उपर्युक्त प्रकार के नहीं हैं वे अर्थशास्त्र के अन्तर्गत नहीं आते । उदाहरण के लिये एक मजदूर के कार्यों का अध्ययन अर्थशास्त्र के अन्तर्गत होगा क्योंकि उसके कार्य उक्त साधन की प्राप्ति (मासिक वेतन या दैनिक मजदूरी) से सम्बन्धित हैं । इसके विपरीत एक व्यक्ति का गायन अर्थशास्त्र के अध्ययन के क्षेत्र से बाहर है क्योंकि वह भौतिक साधनों की प्राप्ति तथा उपयोग से सम्बन्धित नहीं है । यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो उपर्युक्त दोनों कार्य——मजदूरी तथा गायन—एक से ही हैं । दोनों ही मनुष्य की इच्छाओं की सन्तुष्टि करते हैं । पहला कार्य मनुष्य की रुपया कमाने की इच्छा की तृप्ति करता है तथा दूसरी गाने की । मगर इस परिभाषा के अनुसार हम केवल पहले प्रकार के कार्यों को अर्थशास्त्र के अन्तर्गत मानते हैं ; दूसरे प्रकार के कार्य अर्थशास्त्र के बाहर हैं । इस कथन से न केवल अर्थशास्त्र का क्षेत्र सीमित होता है वरन् मानव-क्रियायें दो भागों में विभाजित हो जाती हैं । भौतिक साधनों की प्राप्ति तथा उपयोग सम्बन्धी क्रियायें आर्थिक (economic) हैं, उनका अध्ययन अर्थशास्त्र में होता है । शेष क्रियायें अनार्थिक (non-economic) हैं ।

उपर्युक्त विश्लेषण से——मुख्य तत्वों की परीक्षा से——प्रो० मार्शल की परिभाषा भी त्रुटिपूर्ण ठहरती है । मगर फिर भी यह विषय की पहली परिभाषा से अधिक अच्छी है । इसके अनुसार अर्थशास्त्र केवल धन का विज्ञान नहीं है। वह मानव विज्ञान है । धन तो एक साधन मात्र है । उसका अस्तित्व मनुष्य के लिये ही है । अतएव अर्थशास्त्र धन का अध्ययन तो है परन्तु विशेष रूप से वह मनुष्य का अध्ययन है । इस प्रकार यह परिभाषा हमारा ध्यान एक महत्वपूर्ण पक्ष की ओर आकर्षित करती है तथा अर्थशास्त्र का रूप समझने में अधिक सहायक है । फिर भी विषय का पूर्ण क्षेत्र स्पष्ट करने में वह असमर्थ है । इसकी तुलना अध्याय के प्रारम्भ में दिये हुये उदाहरण के दूसरे कथन से की जा सकती है ।

ऊपर अर्थशास्त्र की दो परिभाषायें दी गई हैं । हम यह भी कह चुके हैं कि दूसरी परिभाषा पहली से अच्छी है । मगर इन दोनों में एक बात, जोकि उनका दोष भी है, समान है । दोनों परिभाषायें मनुष्य की कुछ क्रियाओं का अध्ययन करती हैं तथा कुछ का नहीं । पहली परिभाषा के अनुसार केवल धन से सम्बन्धित कार्य ही अर्थशास्त्र के अध्ययन का विषय है तथा दूसरी के अनुसार केवल भौतिक साधनों की प्राप्ति तथा उपयोग से सम्बन्धित कार्य ही अर्थशास्त्र के अन्तर्गत आते हैं । इस प्रकार प्रो० मार्शल तथा अन्य पूर्ववर्ती परिभाषायें मनुष्यों के कार्यों को दो भागों में विभाजित कर देती हैं

एक तो आर्थिक क्रियायें हैं जो अर्थशास्त्र के अध्ययन का विषय है दूसरी अनार्थिक (non-economic) क्रियायें हैं जो हमारे अध्ययन के क्षेत्र के बाहर हैं। वास्तव में मानव क्रियाओं का यह वर्गीकरण (classification) उचित नहीं है। प्रो० मार्शल की परिभाषा की अन्तिम बात का विश्लेषण करते समय हम इस ओर संकेत भी कर चुके हैं। इस समानता के कारण इन सब परिभाषाओं को (जिनमें प्रो० मार्शल की परिभाषा भी सम्मिलित है) वर्गकारिणी (classificatory) कहा जाता है। बाद की परिभाषाओं में यह दोष नहीं रहा है। एक बात और, उपर्युक्त परिभाषायें धन अथवा भौतिक साधनों पर विशेष बल देती हैं, इस कारण इन्हें भौतिक परिभाषायें (materialist definitions) भी कह सकते हैं।

अर्थशास्त्र की तीसरी महत्वपूर्ण परिभाषा प्रो० राबिन्स (Robbins) की है। प्रो० राबिन्स "लण्डन स्कूल आव इकनामिक्स" (London School of Economics) में अर्थशास्त्र के प्रोफेसर हैं। इन्होंने उपर्युक्त परिभाषाओं की त्रुटियों को दूर करने का सफल प्रयत्न किया है। इनके अनुसार अर्थशास्त्र वह विज्ञान है। जो मानव व्यवहार का अध्ययन साध्यों तथा बहुपयोगी परिमित साधनों के सम्बन्ध के रूप में करता है।[१] संक्षेप में इसकी व्याख्या इस प्रकार है।

प्रत्येक व्यक्ति की आवश्यकतायें[२] अनगिनत होती है। वह उन्हें उनकी विशेषता अथवा महत्ता के क्रम से लगा लेता है। ऐसा करना नितान्त आवश्यक है क्योंकि आवश्यकताओं की संतुष्टि के साधन सीमित है इसलिये समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति असम्भव है। उपलब्ध सीमित साधन कुछ गिनी चुनी आवश्यकताओं की ही पूर्ति कर सकते हैं। प्रत्येक व्यक्ति विशेष अथवा महत्वपूर्ण आवश्यकताओं की पूर्ति पहले करेगा। इसीलिये आवश्यकताओं को विशेषता के क्रम से लगाया जाता है। निश्चय ही आवश्यकताओं का क्रम सीमित साधनों की ही देन है। सीमित साधनों तथा साध्यों के सम्बन्ध की इतिश्री यहीं नही हो जाती। साधनों के अनेक उपयोग होते हैं। हम उन्हें उसी उपयोग में लाते हैं जो सबसे अच्छा हो। एक व्यक्ति का उदाहरण लीजिये जिसके पास साधन के रूप में केवल एक रुपया है। वह उसका प्रयोग भूख मिटाने, सिनेमा देखने, किताब खरीदने आदि के लिये कर सकता है। यदि उसकी पहली आवश्यकता सबसे तीव्र है तो वह उसका प्रयोग भूख मिटाने के लिये ही करेगा। तभी उसे अधिकतम सन्तोष प्राप्त होगा। और इसलिये वही रुपये का (सीमित साधन का) सबसे अच्छा उपयोग होगा। साधनों के सीमित होने

१ 'Economics is a science which studies human behaviour as a relationship between ends and scarce means which have alternative uses.—L. Robbins '*The Nature and Significance of Economic Science*.'

२. प्रो० राबिन्स ने साध्य शब्द का प्रयोग आवश्यकता के अर्थ में किया है।

के कारण हमें साध्यों के बीच उनकी विशेषता अथवा महत्ता के अनुसार चुनाव करना पड़ता है। बहुपयोगी होने के कारण हमें उनके उपयोग का भी चुनाव करना पड़ता है। अतः स्पष्ट है कि साध्यों तथा बहुउपयोगी सीमित साधनों के सम्बन्ध का रूप चुनाव करना (choice-making) है। अब हम राबिन्स की परिभाषा को दूसरे शब्दों में इस प्रकार दुहरा सकते हैं—'अर्थशास्त्र वह विज्ञान है जो मनुष्य के कार्यों का अध्ययन चुनाव करने के दृष्टिकोण (from the point of view of choice-making) से करता है।' इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि अध्ययन का यह दृष्टिकोण साधनों के सीमित तथा बहुउपयोगी होने पर ही निर्भर है।

यहाँ शंका की जा सकती है कि क्या साधन अवश्यमेव ही सीमित एवम् बहु-उपयोगी होते हैं? प्रो० राबिन्स का उत्तर है, हाँ, निश्चय ही साधन सीमित तथा बहुउपयोगी होते हैं। यदि ऐसा न होता तो हमारे सामने कोई समस्या ही न होती। असीमित साधन होने पर सारी आवश्यकताओं की पूर्ति की जा सकती है तथा उनके चुनाव का प्रश्न ही नहीं उठता। साधनों के सीमित होने के कारण ही हम उन्हें विशेषतानुसार क्रमबद्ध करते हैं ताकि केवल वे ही आवश्यकतायें छूट जायँ तो महत्व पूर्ण नहीं है। साथ ही यदि साधन सीमित भी हो परन्तु उनका केवल एक ही प्रयोग हो, तो चुनाव का प्रश्न नहीं उठेगा। उदाहरण के लिये यदि एक व्यक्ति के पास कुछ ईंधन है और उसका प्रयोग केवल जलाने के लिये है तब उसे ईंधन के प्रयोग के विषय में कोई निर्णय नहीं करना है। उसे ईंधन के प्रयोग के बारे में सोचने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि उसका केवल जलाने का ही प्रयोग है। अतः स्पष्ट है कि चुनाव की समस्या साधनों के सीमित तथा बहुउपयोगी होने के कारण ही है।

प्रो० राबिन्स के अनुसार सीमित शब्द का अर्थ वस्तु की मात्रा या परिमाण की कमी नहीं है। उनके अनुसार केवल वे ही वस्तुएँ सीमित हैं जिनकी पूर्ति माँग से कम है। उदाहरण के लिये ताजे और सड़े अण्डों को ही लीजिए। संख्या में ताजे अण्डे सड़े अण्डों की अपेक्षा कहीं अधिक हैं परन्तु उनकी पूर्ति माँग की अपेक्षा कम हैं अतः वे सीमित (Scarce) हैं। दूसरी ओर सड़े अण्डे संख्या में सीमित होने पर भी सीमित नहीं है। उनकी माँग शून्य है। प्रत्येक वस्तु के अनेक उपयोग होते हैं। यह हो सकता है कि एक वस्तु के अन्य उपयोग मूर्खतापूर्ण हों। उदाहरण के लिए फाउन्टेनपेन का उचित प्रयोग लिखना है, मगर उससे जेब की शोभा बढ़ाने का काम भी ले सकते हैं। कंघे से आप बाल सँवारते हैं, मगर उसे फेंक कर किसी को मार भी सकते हैं, बच्चे को खेलने के लिए भी दे सकते हैं इत्यादि। अतः यह निर्विवाद है कि साधन बहु उपयोगी होते हैं।

यह थी प्रो० राबिन्स की परिभाषा की एक व्याख्या। उनके अनुसार अर्थ-शास्त्र एक विज्ञान है। वह मानव-व्यवहार का अध्ययन करता है। चाहे एक मनुष्य

समाज में रहता हो अथवा अकेले सुनसान जंगल में या कहावती राबिन्स क्रुसो के समान निर्जन द्वीप में, वह हमारे अध्ययन का विषय है। इस परिभाषा के अनुसार मनुष्य की सभी क्रियायें हमारे अध्ययन का विषय है परन्तु उनका अध्ययन एक विशेष दृष्टिकोण से—चुनाव करने (choice making) के दृष्टिकोण से—किया जाता है। यही दृष्टिकोण अर्थशास्त्र का रूप निर्धारित करता है। उदाहरण के लिये एक व्यक्ति प्रतिदिन अपने खेत की देख रेख करता है। इस व्यक्ति के किसी भी दिन के कार्य को लीजिये। उसके पास अनेक कार्य (साध्य)—घूमना, बाजार जाना, गपशप इत्यादि हैं जिनमें वह खेत की देखरेख को सबसे महत्वपूर्ण समझता है। इन साध्यों की पूर्ति के लिए उसके पास साधन सीमित (एक दिन) हैं। इस साधन को वह अनेक प्रकार से प्रयोग में ला सकता है परन्तु वह उसका उपयोग केवल उपर्युक्त प्रकार से करता है। अतः इस व्यक्ति का कार्य–खेत की देखरेख–साध्य और साधनों के चुनाव के रूप में हमारे सम्मुख आता है और इसलिए अर्थशास्त्र के अध्ययन का विषय है। यदि इसी व्यक्ति के खेत की देखरेख के कार्य को हम, पैदावार अथवा उपज की वृद्धि आदि के रूप में देखें तो इस कार्य का अध्ययन सम्भवतया भूगोल के अन्तर्गत होगा। स्पष्ट है कि अर्थशास्त्र के ऊपर केवल यही एक दृष्टिकोण का बन्धन है, अन्यथा प्रत्येक क्रिया अर्थशास्त्र के अन्तर्गत है। यहाँ क्रियाओं का आर्थिक तथा अनार्थिक वर्गों में विभाजन नहीं है। अब अर्थशास्त्र के क्षेत्र की व्यापकता तथा उसका रूप भलीभाँति हमारे सामने आ जाता है। ज्ञान राशि में से अर्थशास्त्र को पहचाना जा सकता है, क्योंकि उसकी सम्पूर्ण विशेषतायें विदित हो गई हैं। इसकी तुलना अध्याय के प्रारम्भ में दिए हुये उदाहरण के तीसरे कथन से की जा सकती है जहाँ विद्यार्थियों के समूह में से एक क्षात्र को तभी पहिचाना जा सका था जब उससे सम्बन्धित सारी बातें मालूम हो गई थी।

प्रो० राबिन्स की परिभाषा के उपर्युक्त अध्ययन के बाद हम सहज ही कह सकते हैं कि वह, अन्य परिभाषाओं से कहीं अच्छी हैं। वर्गकारिणी परिभाषाओं में सर्वश्रेष्ठ प्रो० मार्शल की परिभाषा से उनकी तुलना कीजिए। प्रो० मार्शल की परिभाषा अस्पष्ट थी तथा अध्ययन के क्षेत्र को संकीर्ण बनाती थी।[1] प्रो० राबिन्स की परिभाषा निश्चय ही अर्थशास्त्र के क्षेत्र को विस्तृत करती है, साथ ही वह अधिक स्पष्ट भी है। वर्गकारिणी परिभाषायें मनुष्य के कार्यों को दो भागों में विभाजित करके देखती है तथा केवल आर्थिक क्रियाओं का अध्ययन करती हैं। प्रो० राबिन्स की परिभाषा में ऐसा कोई वर्गीकरण नहीं है। उनके अनुसार मनुष्य की प्रत्येक क्रिया अर्थशास्त्र के अध्ययन का विषय है। उसके लिए केवल एक विशेष दृष्टिकोण को अपनाना होता

[1]देखिये पिछले पृष्ठ जहाँ प्रो० मार्शल की परिभाषा की मुख्य बातों की विवेचना की गई है।

है। प्रो० राबिन्स की परिभाषा की विशेषताओं तथा इस तुलना के अध्ययन के बाद यह स्वाभाविक ही है कि उसे एक उचित परिभाषा मान लिया जाय। इसी बात को ध्यान में रखते हुए हमने प्रारम्भ में उनके प्रयत्न को सफल कहा था। हमारा अर्थ यह नहीं है कि उसमें किसी प्रकार की कमी नहीं है। अब हम इस परिभाषा की समीक्षा प्रस्तुत करेंगे।

समीक्षा (Criticism)

प्रो० राबिन्स ने सीमित शब्द की व्याख्या करते हुए कहा है कि केवल वे ही वस्तुयें सीमित हैं जिनकी पूर्ति माँग से कम हो। अतः कलम पेन्सिल आदि सीमित (scarce) है क्योंकि इनकी पूर्ति कम है और माँग अधिक परन्तु हम वायु को सीमित नहीं कह सकते क्योंकि उसकी पूर्ति अपार है और उसके लिए हमें कोई मूल्य नहीं चुकाना होता। सीमित शब्द के इस अर्थ पर यदि विचार किया जाय तो उसमें कुछ त्रुटि दृष्टिगोचर होगी। उदाहरण के लिए गर्मियों में आप हवा के लिए विजली के पंखों का प्रयोग करते हैं, उसके लिये मूल्य चुकाते हैं। उस समय आप हवा को असीमित नहीं कह सकते। अतः स्पष्ट है कि वायु भी मुफ्त नहीं मिलती, उसके लिए परिश्रम करना पड़ता है, यह भी सीमित है। वह इसलिए सीमित नहीं है कि उसकी पूर्ति कम हो गई है (यह कहना हास्यास्पद है कि गर्मियों में वायु की पूर्ति कम हो जाती है) वरन् इसलिए कि उसकी प्राप्ति के लिए हमें प्रयत्न करना पड़ता है। कलम, पेंसिल आदि इसलिए सीमित है क्योंकि उन्हें प्राप्त करने के लिए हमें प्रयत्न करना पड़ता है जिसे हम मूल्य के रूप में चुकाते हैं। अतः सीमित शब्द की सही व्याख्या यह होनी चाहिए कि जिन वस्तुओं को प्राप्त करने के लिए हमें प्रयत्न करना पड़ता है वे हमारे लिए सीमित हैं। इस अर्थ में सभी साधन सीमित हैं, वायु, पानी इत्यादि।

इस सम्बन्ध में एक साधारण भ्रान्त धारणा का दूर करना अनुपयुक्त न होगा। साधारणतया कहा जाता है कि वायु हर जगह विद्यमान है उसे प्राप्त करने में-साँस लेने में—कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता है। अतः वह असीमित है। यह भूल है। उदाहरण के लिये आप केवल १५ मिनट तक लम्बी साँस लीजिए। आपको स्वयं थकान मालूम होगी। यह साँस लेने में किए हुए प्रयत्न के कारण है। साधारणतया साँसें छोटी होती हैं तथा हम उनके इतने अभ्यस्त होते हैं कि उनके लिये किये हुये प्रयत्न का हमें भान ही नहीं होता परन्तु इसका अर्थ यह नहीं हैं कि उसके लिए हमें प्रयत्न नहीं करना पड़ता। यदि वायु को केवल इसलिए असीमित कहा जाय क्योंकि उसके प्राप्त करने में किए हुए परिश्रम का हमें साधारणतया भान नहीं होता तब तो शायद संसार की अधिकांश वस्तुयें असीमित हैं। मिट्टी के बर्त्तन वनाते-बनाते एक कुम्हार को इतनी आदत पड़ जाती है कि उन्हें बनाने में उसे किसी परिश्रम का भान नहीं होता। एक चित्रकार अपने अभ्यास एवम् तल्लीनता के कारण चित्र बनाने

में किसी परिश्रम को महसूस नहीं करता। क्या केवल इसीलिये हम यह कह सकते हैं कि मिट्टी के बर्त्तन तथा चित्र इत्यादि असीमित हैं ? ऐसा कहना गलत होगा। उनके बनाने में परिश्रम करना पड़ता है अतएव वे सीमित हैं। इसी प्रकार वायु पानी आदि भी सीमित है क्योंकि उनके प्राप्त करने में प्रयत्न करना पड़ता है। सच तो यह है कि सभी साधन सीमित हैं।

प्रो० राबिन्स ने साधनों के लिये सीमित एवम् बहुउपयोगी विशेषणों का प्रयोग किया है। परिभाषा में अनावश्यक (unnecessary or superfluous) शब्दों का प्रयोग नहीं होना चाहिये। हम देख चुके हैं कि प्रत्येक साधन सीमित है तथा उनके अनेक उपयोग हैं। भले ही अन्य उपयोग बुद्धिमानों के न हों परन्तु वे होते अवश्य हैं। ऐसी दशा में जब प्रत्येक साधन सीमित एवम् बहुउपयोगी है, इन शब्दों का प्रयोग अनावश्यक है। इस आलोचना के बारे में प्रो० राबिन्स का कहना है कि साधनों की इस प्रकृति को स्पष्ट करने एवम् उस पर बल देने के लिये ही इन शब्दों का प्रयोग किया गया है। इस आधार पर हम इन शब्दों के प्रयोग को उचित भले ही मान लें अन्यथा उनका प्रयोग त्रुटिपूर्ण है।

प्रो० राबिन्स ने साध्यों शब्द का प्रयोग किया है। वास्तव में साध्य तो केवल एक होता है। उन्होंने इस शब्द का प्रयोग निम्नतर साध्यों के लिये किया है जो कि अन्तिम साध्य की प्राप्ति के स्वयं साधन हैं। इस अर्थ के लिये आवश्यकतायें (wants) शब्द अधिक उपयुक्त था।

प्रो० राबिन्स के इस मत की, यदि साधन सीमित हो परन्तु उनका केवल एक ही प्रयोग हो तो चुनाव की समस्या नहीं रहती, भी आलोचना हुई हैं। उन्होंने उदाहरण देते हुये कहा कि यदि एक व्यक्ति के पास कुछ ईंधन है और यदि ईंधन का केवल जलाने का ही प्रयोग हो, तो उसके सामने चुनाव की समस्या नहीं रहती। आलोचकों का कथन है कि ईंधन का एक प्रयोग होने पर भी चुनाव की समस्या बनी रहती है उसे यह सोचना पड़ता है कि वह ईंधन का प्रयोग अभी करे या बाद में। पानी गरम करने के लिये करे या तापने के लिये इत्यादि। यह आलोचना भ्रमपूर्ण है।' किसी साधन का प्रयोग किस समय किया जाय इस बारे में चुनाव की आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता की तीव्रता (Intensity of want) इस बात का निर्णय करती है कि कब साधन का प्रयोग उसकी पूर्ति के लिये किया जाय। ईंधन का प्रयोग तो केवल जलाने का है। अतः आप उसका प्रयोग किसी जानवर के मारने आदि के लिये नहीं कर सकते। पानी गरम करना, तापना आदि ईंधन के उपयोग नहीं हैं। ये तो अग्नि के उपयोग हैं जो ईंधन के जलाने से उत्पन्न होती है। अग्नि के अनेक उपयोग हो सकते हैं उसके विषय में उदाहरण में कहीं नही कहा गया है कि

उसका एक प्रयोग है। ईंधन का केवल एक ही प्रयोग है और वह जलाने का है अतः इस बारे में चुनाव की समस्या नहीं है।

एक अन्य प्रचलित आलोचना यह है कि इस परिभाषा में अर्थशास्त्र का ऐसा सूक्ष्म दृष्टिकोण प्रस्तुत किया गया है कि एक सामान्य व्यक्ति उसे सरलता से नहीं समझ सकता। उदाहरण के लिये ईसाई धर्म के प्रचारकों के कार्य को साधारणतया धार्मिक (Religious) कहा जाता है। यदि उनके कार्यों को हम चुनाव करने के दृष्टिकोण से देखें तो वे अर्थशास्त्र के अन्तर्गत होंगे। एक सामान्य व्यक्ति इस प्रकार के कथन से भ्रमित होकर सोचने लगता है कि क्या अर्थशास्त्र धर्मशास्त्र आदि एक ही हैं। वास्तव में यह कठिनाई निर्मूल है। प्रत्येक विज्ञान मनुष्य की क्रियाओं को अपने-अपने दृष्टिकोण से देखता है। यदि इस बात को ध्यान में रखा जाय तो सारी कठिनाई दूर हो जायगी। इसके अतिरिक्त दृष्टिकोण की सूक्ष्मता परिभाषा का दोष नहीं होती, उसे सही होना चाहिए। अर्थशास्त्र का दृष्टिकोण सही है, अतः परिभाषा दोषहीन है।

हम अर्थशास्त्र की कतिपय मुख्य परिभाषाओं का अध्ययन कर चुके हैं। अब हम अर्थशास्त्र की समस्त परिभाषाओं को दो विभागों में बाँट सकते हैं।

(१) वर्गकारिणी परिभाषायें तथा

(२) वे परिभाषायें जिनमें ऐसा वर्गीकरण नहीं है।

पहले प्रकार की परिभाषाओं में वे सब सम्मिलित हैं जिनमें मनुष्य की क्रियाओं को दो भागों में बाँटा गया है। प्रो० मार्शल, उनके पूर्ववर्ती तथा आधुनिक समय में प्रो० पीगू (Prof. Pigou) की परिभाषायें इसी प्रकार की हैं। दूसरी प्रकार की परिभाषाओं में प्रो० राबिन्स की परिभाषा मुख्य है। संसार के अधिकांश अर्थशास्त्री परिभाषा के विषय में प्रो० राबिन्स से सहमत हैं। हम भी अपने अध्ययन के लिये इसी परिभाषा को सही मानकर चलेंगे। हम ऊपर प्रो० राबिन्स की परिभाषाओं की विशेषताओं को देख चुके हैं। उसके विरुद्ध की हुई आलाचनाओं के प्रत्युत्तर भी दे चुके हैं। इसके अतिरिक्त प्रो० राबिन्स की परिभाषा की एक और विशेषता है। अर्थशास्त्र के समस्त सिद्धान्त मनुष्य के कार्यों के पीछे एक उद्देश्य मानते हैं और उसी पर आधारित हैं। यह परिभाषा उस उद्देश्य को हमारे सामने स्पष्ट रूप से लाती है।

मानवकार्यों में निहित उद्देश्य

साधनों के सीमित होने के कारण मनुष्य अपनी सारी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकता। वह महत्त्वपूर्ण आवश्यकताओं को छाँट लेता है। केवल इतना ही नहीं वह अपने बहुउपयोगी साधनों का सबसे अच्छा प्रयोग (best use) करता है। ऐसा करने में उसका उद्देश्य अधिकतम सन्तुष्टि की प्राप्ति है। यही मानव कार्यों के पीछे छिपा हुआ आर्थिक उद्देश्य या लक्ष्य है। प्रत्येक कार्य इसी उद्देश्य के अनुसार

किया जाता है अर्थात् किसी आवश्यकता की पूर्ति इसी दृष्टिकोण से की जाती है कि उससे अधिकतम सन्तुष्टि की प्राप्ति हो। यदि ऐसा न होता तो आवश्यकताओं के छाँटने तथा साधनों के सबसे अच्छे प्रयोग का प्रश्न ही न उठता। यदि आप आगे चलकर अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों का अध्ययन करते समय उनके बारे में जरा भी सूक्ष्मता से विचार करेंगे तो आपको स्वयं मालूम हो जायगा कि उनका आधार यही उद्देश्य है।

EXERCISES

1. "Economics is the study of mankind in the ordinary business of life; it examines that part of the individual and social action which is most closely connected with the attainment and with the use of the material requisites of well-being." (Marshall) Discuss this definition fully in the light of Robbins' definition of Economics.

Agra U. B. A. 1952

2. Carefully discuss Marshall's definition of Economics. Examine the changes introduced by Prof. Robbins to his definition of Economics. Agra U. B. A. 1948

3. According to Prof. Robbins the main concern of the economist is not with "material" means, nor with "welfare." Explain this in the light of traditional and modern definitions of Economics.

Agra U. B. Com. 1953.

4. Define Economics, and describe its subject-matter and scope.

Agra U. B. Com. 1953.

5. Discuss critically Marshall's definition that Economics is a study of mankind in the ordinary business of life.

Allad. U. B. Com. 1953.

6. Discuss the subject-matter of Economics. Is Economics a positive or a normative science ? (for the latter part see, chapter III)

Allad. U. B. A. 1950

7. Give Marshall's definition of Economics, Show in what way Prof. Robbins' definition is an improvement over Marshall's. Do you prefer Robbins' definition ? Give reasons for your answer.

Allad. U. B. Com. I 1950.

8. State & Comment upon Robbins' definition of Economics.

Allad. U. B. A. 1949

9. Discuss critically Robbins' definition of Economics and show why his definition is superior to the other definitions of Economics.

Allad. U. B. A. 1956.

10. Compare and contrast Marshall's definition of Economics with that of Robbins. Allad. U. B. A. Part I 1957.

अध्याय २

विज्ञान और कला

(SCIENCE OR ART)

हम अर्थशास्त्र की परिभाषा का अध्ययन कर चुके हैं। अब हम उससे सम्बन्धित अन्य बातों पर विचार करेंगे। उदाहरण के लिये कुछ विद्वान अर्थशास्त्र को कला कहते है; परन्तु क्या सचमुच अर्थशास्त्र कला है ? यहाँ हम इसी प्रश्न पर विचार करेंगे। हम पिछले अध्याय में प्रो० राबिन्स की परिभाषा को स्वीकार कर चुके हैं उसके अनुसार अर्थशास्त्र एक विज्ञान है। अतः हम अर्थशास्त्र को कला नहीं कह सकते। एकही विषय को विज्ञान एवम् कला कह कर पुकारना अवैज्ञानिक एवम् अशुद्ध है। विज्ञान और कला एक दूसरे से भिन्न हैं मगर इससे यह न समझना चाहिये कि वे एक दूसरे से असम्बद्ध हैं। विज्ञान और कला के रूप पर विचार करने से यह बात स्पष्ट हो जायेगी।

बहुधा विज्ञान को क्रमबद्ध या व्यवस्थित ज्ञान कहा जाता है; मगर ज्ञान तो व्यवस्थित होता ही है। जहाँ क्रम और व्यवस्था नहीं है उसे हम सूचना, समाचार आदि भले ही कह लें, पर ज्ञान नहीं कह सकते। अब हम अनावश्यक शब्द क्रमबद्ध को हटा कर यह कह सकते हैं कि विज्ञान ज्ञान है। विज्ञान अथवा ज्ञान मानसिक होता है। हम किसी शारीरिक कार्य (physical action) को ज्ञान नहीं कह सकते। हाँ, शारीरिक कार्यों का कारण परिणाम के दृष्टिकोण से अध्ययन (अध्ययन मानसिक होता है) विज्ञान के अन्तर्गत हैं। अतः हम कह सकते हैं कि विज्ञान ज्ञान है, मनुष्य के कार्यों का कारण-परिणाम के दृष्टिकोण से अध्ययन है, तथा मानसिक है।

विज्ञान के व्यवहार को कला कहते हैं। वह व्यवहार रूप होती है, मानसिक नहीं। इसलिये ये दोनों एक दूसरे से भिन्न हैं परन्तु असम्बद्ध नहीं हैं क्योंकि विज्ञान का व्यवहार पक्ष ही कला है। कला विज्ञान के सिद्धान्तों को कार्य-कुशलता से व्यवहार रूप देने में है। अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों को जितनी ही निपुणता से व्यवहार रूप दिया जायेगा इस विज्ञान के दृष्टिकोण से उतना ही अच्छा कला का रूप होगा। उदाहरण के लिये अर्थशास्त्र के अनुसार अधिकतम सन्तोष उस समय प्राप्त होगा जब विभिन्न वस्तुओं पर खर्च किये हुये धन की सीमान्त इकाइयों की उपयोगिता समान हो। व्यवहार में इस सिद्धान्त को अपनाने की कार्यकुशलता में ही कला है। जितनी सफलता से एक व्यक्ति सन्तोष को अधिकतम कर लेगा, हमारे लिये वह उतना ही अच्छा कलाकार होगा।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, हम अर्थशास्त्र को (जो कि एक विज्ञान है) कला नहीं मानते परन्तु इससे यह न समझना चाहिये कि उसके व्यवहार पक्ष को हम अस्वीकार करते हैं। प्रत्येक विज्ञान का व्यवहार पक्ष होता है। विज्ञान का व्यवहार पक्ष ही कला है। अर्थशास्त्र का भी व्यवहार पक्ष है जो उस समय हमारे सामने आता है जब उसके सिद्धांतो को कार्यान्वित किया जाता है। अत: अर्थशास्त्र विज्ञान की भी कला है, यद्यपि वह स्वयं कला नहीं है। बहुधा ऐसा कहने से भ्रम उत्पन्न हो जाता है अत: हम अर्थशास्त्र के व्यवहार-पक्ष को उसका कला पक्ष कह कर पुकारेंगे।[1]

अर्थशास्त्र और कला के सम्बन्ध का प्रश्न प्राचीन समय से विवादास्पद रहा है और इसके बारे में विभिन्न मत रहे हैं। अर्थशास्त्र कला है अथवा विज्ञान, इस विवाद का इतिहास बड़ा ही रोचक है। अत: पाठकों के लिये हम उसे संक्षेप में नीचे दे रहे हैं।

क्लासिकल अर्थशास्त्रियों ने अर्थशास्त्र को केवल विज्ञान के रूप में देखा। इस समूह के सभी अर्थशास्त्री—रिकार्डो (Ricardo) से लेकर केर्नस (Cairnes)—तक अर्थशास्त्र को धन तथा उसके उत्पादन और वितरण का अध्ययन मानते थे। प्रसिद्ध अर्थशास्त्री जे० बी० से० ने स्पष्ट रूप से कहा कि अर्थशास्त्रियों का कर्तव्य जनता को यह बताना है कि क्यों एक वस्तु दूसरे का परिणाम है। अर्थशास्त्रियों को उसके कारणों को दिखा देना चाहिये, यही काफी है। चाहे निष्कर्ष का स्वागत किया जाय या उसे ठुकराया जाय, उसे कोई सलाह नहीं देनी चाहिये[2] अत: अर्थशास्त्र का कार्य केवल सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना ही माना गया। व्यवहारिक समस्यायें उसके

---

[1]अर्थशास्त्र की कला वाक्यांश के आधार पर कुछ लोग कहते हैं कि अर्थशास्त्र का विज्ञान' भी होना चाहिये। यदि हम ऐसा कहने लगें तो प्रश्न यह उठता है कि अर्थशास्त्र क्या है—विज्ञान अथवा कला। निश्चय ही अर्थशास्त्र विज्ञान और विज्ञान और कला दोनों नहीं हो सकता। अत: इस कठिनाई को दूर करने के लिए हमने 'अर्थशास्त्र का कला पक्ष,' वाक्यांश का प्रयोग किया है। हम सरलता से कह सकते हैं कि अर्थशास्त्र विज्ञान है। उसके व्यवहार-पक्ष को हम कला पक्ष कहते हैं। प्रो० मार्शल ने इस कठिनाई को दूसरी प्रकार से हल किया है। वे अर्थशास्त्र की कला अथवा उसका कला पक्ष आदि न कह कर उसके व्यवहार पक्ष को विज्ञान का प्रयोग-रूप (Applied Science) कहते हैं।

[2]"What we owe to the public is to tell them how and why such and such fact is the consequence of another. Whether conclusion be welcomed or rejected, it is enough that the economist should have demonstrated its causes, but he must give no advice." J. B.Say

क्षेत्र के बाहर थीं। व्यवहारिक समस्यायें पेचीदा होतीं हैं और उनके हल के लिए अर्थशास्त्र के अतिरिक्त अन्य सामाजिक विज्ञानों की जानकारी आवश्यक है अत: उनका समावेश अर्थशास्त्र के अन्दर नहीं किया गया। व्यवहारिक-पक्ष पर जोड़ न देने का एक कारण यह भी था कि तत्कालीन पूँजीवादी व्यवस्था की समस्याओं का हल अर्थशास्त्र के सिद्धांतों ने उचित रूप से कर दिया था। अत: क्लासिकल अर्थशास्त्रियों ने अर्थशास्त्र को अन्य प्राकृतिक विज्ञानों (भौतिक शास्त्र आदि) के समान ही माना तथा इसी प्रकार उसका विकास किया।

समाज वादियों ने उपर्युक्त विचार-धारा का विरोध किया। उन्होंने अर्थशास्त्र को मुख्यतया कला के रूप में देखा। उनके लिये अर्थशास्त्र का व्यवहार पक्ष प्रधान हो उठा। इसका कारण यह था कि उन्हें अनेक समस्याओं का हल करना था और इस लिये अर्थशास्त्र को व्यवहार-रूप देना अति आवश्यक था।

आधुनिक क्लासिकल (Neo-Classical) अर्थशास्त्रियों ने (जिनमें प्रो० मार्शल मुख्य हैं) मध्यम मार्ग का अनुसरण किया। ये लोग अर्थशास्त्र के क्लासिकल अर्थशास्त्रियों द्वारा दिये हुए वैज्ञानिक रूप को बनाये रखना चाहते थे परन्तु साथ ही उसके व्यवहार पक्ष को भी भुलाना नहीं चाहते थे। प्रो० मार्शल ने साफ साफ कहा है कि जीवन विशेषतया सामाजिक जीवन के व्यवहारिक संचालन का अर्थ-शास्त्र पथ-प्रदर्शन करता है। ऐसा करते हुए भी यह विज्ञान अनेक राजनीतिक मामलों से अलग रहता है जबकि एक व्यवहार-कुशल व्यक्ति ऐसा नहीं कर सकता। अत: हमें अर्थशास्त्र को विशुद्ध एवम् प्रयोग-रूप अथवा व्यवहारिक विज्ञान कहना चाहिये, विज्ञान और कला नहीं। [१]

उपर्युक्त संक्षिप्त इतिहास को देखने से पता चलता है कि परिस्थितियों के अनुसार ही अर्थशास्त्र के कला-पक्ष पर जोर दिया गया है। वर्तमान समय में भी हम उसके व्यवहार-पक्ष को भुला नहीं सकते। वस्तुत: आज अर्थशास्त्र का कला पक्ष और भी प्रधान हो उठा है। संसार के सामने अनेक आर्थिक समस्यायें हैं जिन्हें अर्थशास्त्र को व्यवहार में लाये बिना हल नहीं किया जा सकता। बेरोज-गारी, उत्पादन की वृद्धि, जीवन के स्तर को उठाना आदि अनेक समस्याओं के हल में, प्रत्येक देश व्यस्त है। हम भी अर्थशास्त्र के कला-पक्ष को पूरी मान्यता देते हैं

---

[१] Its functions according to Marshal are "to obtain guidance in the practical conduct of life and specially social life." But in giving guidance as to them the science "shuns many political issues which the practical man cannot ignore, it is therefore a science pure and applied, rather than a science and an art."

परन्तु उसे कला नहीं कह सकते। कला अथवा विज्ञान ? इस प्रश्न का निश्चित उत्तर यही है कि अर्थशास्त्र एक विज्ञान है परन्तु उसका कला पक्ष भी है। अर्थशास्त्र का व्यवहारिक रूप ही उसका कला-रूप है। संसार की वर्तमान आर्थिक समस्याओं के हल के लिये आज उसके कला पक्ष का महत्व निर्विवाद है।

EXERCISES

1. Is Economics a science or an art ? If you call it a science is it a positive or normative seience ? (for the latter part, see the next chapter). Allad. U. B. A. 1953.

अध्याय ३

अर्थशास्त्र और आदर्श विज्ञान

(ECONOMICS AND THE NORMATIVE SCIENCE)

अर्थशास्त्र और कला के सम्बन्ध के अतिरिक्त एक दूसरी बात की भी चर्चा अर्थ शास्त्र में अक्सर की जाती है। बहुधा प्रश्न किया जाता है कि वह वास्तविक विज्ञान है अथवा आदर्श विज्ञान ? इस प्रश्न का उत्तर देने से पहले हम यह जनाने का प्रयत्न करेंगे कि वास्तविक विज्ञान और आदर्श विज्ञान क्या है ?

प्राय: विज्ञान को वास्तविक विज्ञान तथा आदर्श विज्ञान नामक दो भागों में बाँटा जाता है। यह विभाजन कहाँ तक उचित है, यहाँ इस बात पर विचार न कर हम यह देखेंगे कि इसका अर्थ क्या है ? वास्तविक विज्ञान "क्या है" का अध्ययन करता है तथा आदर्श विज्ञान 'क्या होना चाहिये' का। उदाहरण के लिये गुलाब के पौदे पर लगे हुये एक फूल को लीजिये जिसका रंग मुरझा गया हो। फूल इस समय क्या है (मुरझाया हुआ है) और क्यों, इसका अध्ययन हम वास्तविक विज्ञान में करते हैं। दूसरे शब्दों में कारण और परिणाम का अध्ययन वास्तविक विज्ञान है। फूल को क्या होना चाहिये था, इसका अध्ययन हम आदर्श विज्ञान में करते हैं। सुन्दरता को अपना आदर्श मानकर यदि हम यह देखने की चेष्टा करें, कि फूल का रंग इस समय लाल होना चाहिये था तब हमारा अध्ययन आदर्श विज्ञान के अन्तर्गत है। यही बात मनुष्यों के सम्बन्ध में भी लागू होती है। मनुष्यों के कार्यों का अध्ययन वे जैसे हैं उसी दशा में करना अर्थात् "क्या है" का अध्ययन करना, यही वास्तविक विज्ञान है। यदि हम इन्हीं कार्यों का अध्ययन किसी आदर्श विशेष के अनुसार करें तो वह अदर्श विज्ञान होगा। यों तो प्रत्येक मनुष्य के कार्य किसी न किसी आदर्श के अनुसार होते हैं क्योंकि वह उसी काम को करता है जो वह समझता है कि उसे करना चाहिये। यदि इस बात को मान लिया जाय तब मनुष्य का प्रत्येक कार्य आदर्श विज्ञान के अध्ययन का विषय होगा। परन्तु आदर्श विज्ञान में आदर्श शब्द का यह अर्थ नहीं है। उसके अनुसार सबके लिये एक निश्चित आदर्श होना चाहिये। बहुधा कहा जाता है कि यह आदर्श नैतिक होना चाहिये अर्थात् नीतिशास्त्र के अनुसार निश्चित होना चाहिये।[1] इस

---

[1] आदर्श विज्ञान को नैतिक आदर्श से सम्बन्धित कर के उसे हम संकीर्ण बना देते हैं। अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, राजनीति शास्त्र आदि के बारे में जब हम विचार करते हैं और आदर्श विज्ञान का उपर्युक्त अर्थ लेते हैं तब सभी विषय बहुत कुछ समान हो जाते हैं। वास्तव में प्रत्येक विषय का अपना आदर्श होता हैं, अतः उन पर एक नैतिक आदर्श का लादना समीचीन प्रतीत नहीं होता। यदि हम केवल नैतिक आदर्श को ही आदर्श मानें तब तो आदर्श का अर्थ एकदम संकुचित हो जाता है।

अर्थ के अनुसार आदर्श विज्ञान एक सुनिश्चित नैतिक आदर्श के दृष्टिकोण से मानवीय कार्यों का अध्ययन है ; परन्तु यह परिभाषा बहुत ही संकुचित है । हमारे विचार से आदर्श विज्ञान को एक सुनिश्चित आदर्श (नैतिक ही नहीं) के अनुसार अध्ययन कहना अधिक उपयुक्त होगा । अर्थशास्त्र के बारे में इस प्रश्न का निर्णय करने के लिये हम आदर्श विज्ञान की पहली परिभाषा ही लेकर चलेंगे ।

अर्थशास्त्र की जिस परिभाषा को हम मान चुके हैं उसके अनुसार अर्थशास्त्र एक विज्ञान है । वह मनुष्य के कार्यों का चुनाव (choice) के दृष्टिकोण से अध्ययन करता है । वह मानवीय कार्यों में, वे जैसे हैं उसी दशा में, साध्यों तथा बहुउपयोगी सीमित साधनों के सम्बन्ध की खोज करता है । इस प्रकार वह मनुष्य के कार्यों का, 'वे क्या हैं,' के रूप में अध्ययन करता है । साध्यों को कैसा होना चाहिये—उनके औचित्य तथा अनौचित्य, उनकी नैतिकता अथवा अनैतिकता आदि के बारे में अर्थ शास्त्र मौन है । वह तो मनुष्य के कार्यों में, वे कैसे भी क्यों न हों, साध्य साधन के सम्बन्ध का निर्वाह देखता है । चोरी तथा ईश्वर-भजन (नीति पहले को बुरा तथा दूसरे को अच्छा कहती है) दोनों ही उसके अध्ययन के विषय हैं क्योंकि दोनों में उपर्युक्त सम्बन्ध का निर्वाह है । एक चोर अपने साध्य (धन) की प्राप्ति के लिये सीमित साधन (समय) का प्रयोग उसी प्रकार करता है जिस प्रकार एक भक्त अपने साध्य (ईश्वर-प्राप्ति) के लिये सीमित साधन (समय) का प्रयोग करता है । दोनों कार्य साध्य-साधन का सम्बन्ध प्रस्तुत करते हैं अतएव दोनों ही अर्थशास्त्र के अन्तर्गत हैं । हम किसी भी कार्य को यह कह कर नहीं छोड़ सकते कि नीति के अनुसार उसे अमुक प्रकार का होना चाहिये और क्योंकि वह ऐसा नहीं है इसलिये हम उसका अध्ययन नहीं करेंगे । ऐसा कहना भ्रमपूर्ण होगा । प्रो० राबिन्स ने भी कहा है कि अर्थशास्त्री साध्यों के बारे में निष्पक्ष होता है । इससे स्पष्ट है कि अर्थशास्त्र क्या होना चाहिये का अध्ययन नहीं करता 'वह क्या है' का अध्ययन करता है । अतः अर्थशास्त्र वास्तविक विज्ञान है, आदर्श विज्ञान नहीं ।

ऊपर हमने आदर्श विज्ञान को नैतिक आदर्श से सम्बन्धित करके देखा था । हमारा निष्कर्ष यह था कि इस अर्थ में अर्थशास्त्र आदर्श विज्ञान नहीं है । प्रश्न यह है कि यदि हम आदर्श विज्ञान की दूसरी परिभाषा को लें तब हमारा निष्कर्ष क्या होगा ? उस अर्थ में हम अर्थशास्त्र को आदर्श विज्ञान, यदि ऐसा कहना उचित हो, कह सकते हैं । हम प्रथम अध्याय के अन्त में बता चुके हैं कि प्रत्येक मनुष्य के कार्यों के पीछे एक उद्देश्य छिपा होता है । प्रत्येक मनुष्य अपनी सन्तुष्टि को अधिकतम करना चाहता है—यह उद्देश्य उसके प्रत्येक कार्य के पीछे होता है, यही उसका आदर्श है । प्रत्येक कार्य इसी आदर्श को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है । अतः साध्य-साधन सम्बन्ध के दृष्टिकोण से मनुष्यों के कार्यों के अध्ययन में यह सुनिश्चित आदर्श—अधिकतम

सन्तुष्टि—निहित होता है। इसीलिये इस अर्थ में हम अर्थशास्त्र को आदर्श विज्ञान कह सकते हैं परन्तु यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो ऐसा कहना उचित नहीं होगा क्योंकि एक ही विषय को दो प्रकार का विज्ञान (आदर्श तथा वास्तविक) कैसे कहा जा सकता है ?

इस बात पर विचार करने के लिये हमें विज्ञान की परिभाषा पर फिर से विचार करना होगा। हम कह चुके हैं कि विज्ञान ज्ञान है, कारण परिणाम के दृष्टिकोण से अध्ययन है। वास्तविक विज्ञान की परिभाषा में ही हम कह चुके हैं कि वह "क्या है" का अध्ययन है अथवा कारण परिणाम का अध्ययन है। इस प्रकार विज्ञान तथा वास्तविक विज्ञान एक ही है। इसलिये हमने अर्थशास्त्र को बिना किसी हिचकिचाहट के वास्तविक विज्ञान मान लिया था। जब विज्ञान तथा वास्तविक विज्ञान एक ही है तब विज्ञान को—वास्तविक तथा आदर्श दो भागों में कैसे बाँटा जा सकता है ? यह विभाजन तो संभव ही नहीं है। तब आदर्श विज्ञान का क्या अर्थ है ? निश्चय ही आदर्श विज्ञान एक अलग विज्ञान को इंगित नहीं करता। उसके दूसरे शब्द विज्ञान पर विचार कीजिये। विज्ञान वास्तविक विज्ञान है। अतः आदर्श विज्ञान को हम आदर्श (वास्तविक) विज्ञान भी कह सकते हैं। आदर्श विशेषण से वास्तविक विज्ञान का कोई नया विभाग नहीं बन जाता वरन् वह एक विशेषता की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करता है। विज्ञान अथवा वास्तविक विज्ञान 'क्या है' का अध्ययन करता है। इस अध्ययन को हम एक सुनिश्चित आदर्श से सम्बन्धित करके भी देख सकते हैं। वह उसका अर्थात् वास्तविक विज्ञान का आदर्शवादी पहलू (normative aspect) है। अध्ययन वहीं है, केवल हमने उसे आदर्श से सम्बन्धित रूप में देखा है। अतः आदर्श विज्ञान वास्तविक विज्ञान का एक पहलू है एक अलग विभाग नहीं।

अर्थशास्त्र उपर्युक्त अर्थ ही में आदर्श विज्ञान है। अर्थात् उसका भी एक आदर्शवादी पहलू (normative aspect) है। जब हम मानवीय क्रियाओं के अध्ययन को आदर्श—अधिकतम सन्तुष्टि—से सम्बन्धित करके देखते हैं तभी अर्थशास्त्र का आदर्शवादी पहलू हमारे सामने आता है। आदर्श विज्ञान शब्द से विज्ञान के विभाजन की स्पष्ट ध्वनि आती है, जो सर्वथा असंगत है, इसलिये हम उसे आदर्शवादी पहलू कहना अधिक उचित समझते हैं। अर्थशास्त्र तथा वास्तविक और आदर्श विज्ञान के सम्म्बन्ध में अब हम स्पष्ट रूप से कह सकते हैं कि अर्थशास्त्र विज्ञान अथवा वास्तविक विज्ञान है परन्तु उसका आदर्शवादी पहलू भी है जो उस समय हमारे सम्मुख आता है जब हम अपने अध्ययन को अधिकतम सन्तुष्टि के आदर्श से सम्बन्धित करके देखते हैं ध्यान रहे, नैतिकता के अर्थ में हम अर्थशास्त्र के आदर्शवादी पहलू की विवेचना नहीं कर रहे हैं।

हमारे उपयुक्त मत का अर्थशास्त्र की परिभाषा से पूर्णतया सामंजस्य हो जाता है। उसके अनुसार अर्थशास्त्र विज्ञान हैं तथा अर्थशास्त्री साध्यों के विषय में निष्पक्ष हैं। यही बात हमारी ऊपर दी हुई विवेचना से स्पष्ट है। हम कार्यों (साध्यों) के बारे में निष्पक्ष हैं। हमारे लिये सभी कार्य समान हैं क्योंकि हमारा आदर्श तो अधिकतम सन्तुष्टि है, वह चाहे किसी प्रकार का क्यों न हो। हम एक बार फिर दुहरा कर, कि अर्थशास्त्र वास्तविक विज्ञान है तथा उसका आदर्शवादी पहलू है, इस विवाद को समाप्त करते हैं।

EXERCISES

1. Dicsuss the claims of Economics to be regarded as a science.
Rajputana U. 1949.

2. Explain the scope of Economics as (a) Positive Science, (b) a normative science and (c) an art. What should be its true scope in your opinion.
Agra U. B. Com. 1946.

अध्याय ४

अध्ययन प्रणाली

(METHODS OF STUDY)

मूलतः प्रत्येक विज्ञान के अध्ययन में हमें कार्य-कारण के सम्बन्ध की खोज करनी पड़ती है। इस खोज के लिये हम तर्कशास्त्र की दो प्रणालियों का प्रयोग करते हैं। इन्हें क्रमशः आगमन एवम् निगमन प्रणाली कहते हैं। आगमन प्रणाली का रूप उसके प्रयोग के अनुसार बदलता रहता है। उसके विशेष प्रयोग के अनुसार हम उसे ऐतिहासिक (historical) आंकिक (statistical) तथा विश्लेषणात्मक (analytical) रीति भी कह कर पुकारते हैं। इसी प्रकार निगमन (deductive) प्रणाली के रूप भी बदलते रहते हैं। उसके विशेष प्रयोग के अनुसार अथवा कार्य प्रणाली के किसी विशेष पहलू के अनुसार उसे गणितात्मक (mathematical) सूक्ष्म अथवा अस्थूल रीति (Abstract Method) भी कहते हैं। अध्ययन प्रणाली के ये विभिन्न रूप वास्तव में आगमन एवम् निगमन प्रणाली के ही परिवर्तित रूप हैं।

आगमन प्रणाली में हम विशेष से सामान्य की ओर चलते हैं अथवा कम सामान्य से अधिक सामान्य की ओर। निगमन प्रणाली में हम सामान्य से विशेष की ओर, अथवा अधिक से कम सामान्य की ओर चलते हैं। ये दोनों प्रणालियाँ कार्य-कारण के सम्बन्ध की खोज के लिये अति आवश्यक हैं, और इनका प्रयोग अर्थशास्त्र एवम् अन्य सभी विज्ञानों के अध्ययन में होता है। नीचे दिये हुये उदाहरणों से आगमन एवम् निगमन प्रणालियों का रूप स्पष्ट हो जायेगा।

मान लीजिये हम विश्वविद्यालयों के छात्रावास में रहने वाले विद्यार्थियों का मासिक औसत खर्च जानना चाहते हैं। यह जानने का एक सरल उपाय है। हम इलाहाबाद यूनिवर्सिटी के किसी छात्रावास उदाहरणार्थ सर पी० सी० बनर्जी छात्रावास के विद्यार्थियों के खर्च का मासिक औसत निकाल लेते हैं। हम यह जानते हैं कि विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों की, विशेषतया उनकी जो छात्रावास में रहते हैं आदतें समान होती हैं अतः उनके खर्चे के मद भी समान और खर्च भी समान होते हैं। इस अनुमान पर हम केवल एक विशेष छात्रावास (सर पी० सी० बनर्जी छात्रावास) के विद्यार्थियों के औसत खर्च को विश्वविद्यालय के छात्रावास में रहनेवाले विद्यार्थियों का औसत खर्च मान सकते हैं। इस प्रकार एक विशेष उदाहरण से हम एक सामान्य निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं। यही—विशेष से सामान्य की ओर चलना—आगमन

प्रणाली है। एक दूसरा उदाहरण लीजिये। हम जानते हैं कि मनुष्य नाशवान् है। अतः हम कह सकते हैं कि राम जो एक मनुष्य है वह भी नाशवान है। यहाँ हम एक सामान्य कथन से––मनुष्य नाशवान है––एक विशेष निष्कर्ष–राम भी नाशवान है––पर पहुँचते हैं। यही निगमन प्रणाली है।

उपर्युक्त उदाहरणों से दोनों प्रणालियों का रूप स्पष्ट हो गया होगा; परन्तु इससे यह न समझना चाहिये कि ये दोनों एक दूसरे से एकदम भिन्न हैं। ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे स्पष्ट है कि आगमन प्रणाली में निरीक्षण का बहुत ही महत्त्वपूर्ण हाथ है। उसी के सहारे हम विशेष उदाहरण से सामान्य निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। विद्यार्थियों की आदतों आदि के सूक्ष्म निरीक्षण के आधार पर ही हम उपर्युक्त उदाहरण में केवल एक छात्रावास के विद्यार्थियों के औसत खर्च से विश्वविद्यालय के छात्रावासों में रहने वाले समस्त विद्यार्थियों के औसत खर्च का अनुमान लगा सके थे। यदि आप निगमन प्रणाली पर सूक्ष्मतया विचार करें तो आप देखेंगे कि निरीक्षण का उसमें भी महत्त्वपूर्ण हाथ है। अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों को ही लीजिये। उनके अनुमानों (assumption) को हम स्वेच्छाचारिता से नहीं चुन सकते। उन्हें जीवन के व्यापार में से सावधानी से चुनना पड़ता है। हम स्वतन्त्र प्रतिस्पर्धा (free competition) के स्थान पर एकाधिकार (monopoly) का अनुमान लेकर नहीं चल सकते क्योंकि प्रतिस्पर्धा एकाधिकार की अपेक्षा वास्तविकता के अधिक निकट है। इसी प्रकार हम व्यक्तिगत स्वार्थ (self interest) के स्थान पर निःस्वार्थ भावना (selfless motive) का अनुमान नहीं ले सकते। यथार्थ के प्रति आँखें बन्द करके, निरीक्षण को हटाकर, हम निगमन प्रणाली का अनुशरण नहीं कर सकते। इसी प्रकार आगमन प्रणाली भी निगमन के बिना अधूरी है। निरीक्षण के आधार पर विशेष से सामान्य की ओर बढ़ने के लिये हमें तर्क अथवा सूक्ष्म विवेचन का आश्रय लेना ही होगा। तभी उसे एक सामान्य निष्कर्ष का रूप दिया जा सकता है।

अतः स्पष्ट है कि निगमन अर्थशास्त्र के आधारों का मूल वास्तविक जीवन के निरीक्षण में है। अध्ययन को अवास्तविक होने से बचाने के लिये ऐसा करना अत्यावश्यक है। यही बात आगमन के बारे में भी सच है। इस प्रणाली के अन्तर्गत इकट्ठे किये हुये आँकड़ों से आर्थिक दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण फल केवल विश्लेषण, तुलना आदि के सहारे ही निकाले जा सकते हैं। प्रो० डरबिन ने ठीक ही कहा है कि आँकड़े स्वतः नहीं बोलते। केवल विश्लेषण, तुलना आदि के द्वारा ही वह कुछ बता सकते हैं।[१]

[१] "Facts do not speak for themselves. It is only by analysis, comparison, hypothesis and prophecy that they can be made to speak at all."—Prof. Durbin '*Methods of Research*'. *Economic Journal* June 1933.

इससे स्पष्ट है कि आगमन प्रणाली भी निगमन के बिना अपूर्ण है। इन दोनों के सहयोग से ही हम उचित परिणाम पर पहुँच सकते हैं। प्रश्न यह उठता है कि अर्थशास्त्र में इन प्रणालियों का प्रयोग कब और कहाँ तक होता है ?

इस बारे में यह जान लेना ही पर्याप्त होगा कि जब किसी विशेष घटना (Particular Phenomenon) की पुष्टि के लिये अनेक और विभिन्न उदाहरण नहीं मिलते अथवा निरीक्षण एवम् प्रयोग कठिन या असम्भव होते हैं। तब आगमन प्रणाली पर भरोसा नहीं किया जा सकता और यदि इतने पर भी उसका प्रयोग किया जायेगा तो परिणाम अनिश्चयात्मक होंगे। ऐसी दशा में निगमन प्रणाली का प्रयोग आवश्यक हो जाता है। केवल इसलिये नहीं कि आगमन प्रणाली का प्रयोग नहीं हो सकता वरन् इसलिये कि उसकी सहायता से आगमन प्रणाली द्वारा मिले हुये परिणामों की (यदि आगमन प्रणाली का प्रयोग किया गया हो) जाँच और पुष्टि भी हो जाती है। इसी प्रकार जब किसी आर्थिक विषय के बारे में उसकी व्यापक—विशेषताओं (Universal Characteristics) रूपरेखा आदि का ज्ञान अपूर्ण हो, अथवा वे आधारभूत प्रवृत्तियाँ जो मानव व्यवहार को निश्चित करती हैं पूरी तरह जाँच में न आती हों तो निगमन प्रणाली का प्रयोग नहीं होता या इस प्रकार कहिये कि उसके प्रयोग पर भरोसा नहीं किया जा सकता। कुछ भी हो, हमें प्राप्त परिणामों की जाँच और पुष्टि आगमन प्रणाली से करनी होगी। यदि हम केवल एक ही प्रणाली पर भरोसा करें तो गलत परिणामों की सम्भावना है। श्मौलर (Schmoller) ने ठीक ही कहा है कि हम आर्थिक विषयों की पारस्परिक-निर्भरता को जानना चाहते हैं। इसके लिये आवश्यक वैज्ञानिक विचार के हेतु हमें आगमन एवम् निगमन दोनों की ही आवश्यकता है, ठीक उसी प्रकार से जिस प्रकार कि चलने के लिये बाँये और दाँये दोनों पैरों की आवश्यकता होती है।[१] कारण और परिणाम के सम्बन्धों को ढूँढने के लिये हमें हर वैज्ञानिक प्रणाली का प्रयोग करना पड़ता है।[२]

निस्सन्देह अर्थशास्त्र के कुछ क्षेत्रों में हम निगमन प्रणाली पर अधिक निर्भर रहते

---

[१] "Observation and description, definition and classification are the preparatory activities. But what we desire to reach thereby is a knowledge of inter-dependence of economic phenomena.... Induction and deduction are both needed for scientific thought as the right and left foot are both needed for walking."—Schmoller.

[२] "There is not any one method of investigation which can properly be called the method of economics but every method must be made serviceable in its proper place either singly or in combination with others"—Marshall.

है तथा अन्य क्षेत्रों में आगमन प्रणाली पर। उदाहरण के लिये उत्पादन के क्षेत्र में जहाँ निरीक्षण एवम् घटनाओं का विभाजन अधिक सम्भव है आगमन प्रणाली का ही अधिक प्रयोग होता है। उत्पत्ति के नियम (Laws of Increasing and Diminishing Returns), जनसंख्या का सिद्धान्त आदि मुख्यतया धैर्य सहित किये हुये निरीक्षण पर ही आधारित हैं। इसके विपरीत वितरण (Distribution) मे, जैसे ब्याज व मजदूरी के सिद्धान्त (Theories of Interest and wages) जहाँ अनुसन्धान कर्त्ता को अधिक सूक्ष्म और सामान्य सिद्धान्तों से काम पड़ता है, निगमन प्रणाली ही अधिक प्रयोग में लाई जाती है।

कुछ विद्वान् आगमन एवम् निगमन प्रणालियों में किसे श्रेष्ठतर कहा जाय, ऐसा प्रश्न उठाते हैं। हमारे मत से यह अनुचित है। दोनों प्रणालियाँ एक दूसरे की पूरक हैं अतः पहले एक को लेकर उसके गुण और दोष की चर्चा करना, फिर दूसरी के गुण-दोष का विवेचन समीचीन नहीं है। हमें इन दोनों प्रणालियों के समन्वय से कार्य करना है और उस दशा में इस प्रकार का विवेचन निरर्थक है। यदि हम किसी व्यक्ति से यह कहें कि केवल दायें पाँव से आप सुगमता से नहीं चल सकते, अतः दायाँ पाँव दोषपूर्ण है तो सम्भवतया इसे आप बुद्धिमानी कहने से अवश्य सकुचेंगे।

हमारा निष्कर्ष यही है कि चाहे हम अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन आगमन से करें अथवा निगमन से, यह आवश्यक है कि प्राप्त परिणामों की पुष्टि दूसरी प्रणाली से कर लेना चाहिये। लण्डन स्कूल आव इकनामिक्स के अर्थशास्त्री प्रो० डरबिन ने अपने एक लेख[1] में कहा है कि अध्ययन प्रणाली गम्भीर विवादास्पद विषय नहीं है। दोनों में केवल उन्हें दी हुई महत्ता का अन्तर है; परन्तु इस बारे में सभी एक मत हैं कि केवल किसी एक प्रणाली पर भरोसा करना अनुचित है। इन दोनों प्रणालियों के सहयोग की चर्चा करते हुये उन्होंने तो यहाँ तक कहा है कि न केवल अध्ययन प्रणाली में ही सहयोग होना चाहिये वरन् विभिन्न सामाजिक विज्ञान के विद्यार्थियों में भी; ताकि सहयोगी खोज-कार्य (Co-operative Research) सम्भव हो सके।

EXERCISES

1. In what sense, if any, is Economics a Social science ? What logical methods do you consider most suitable for investigations into the problems of Indian economy ?

Allad. U. B. A. 1947.

2. Is Economics a science or an art ? Is it normative or positive ? Is it deductive or inductive ? Give examples to illustrate your answer.

Allad. U. B. Com. I 1949.

---

omic Journal 1938.

अध्याय ५

अर्थशास्त्र के नियमों की प्रकृति

(NATURE OF ECONOMIC LAWS)

'Law' शब्द का प्रयोग साधारण बोलचाल में अनेक अर्थों में होता है। कभी इससे उन नियमों का बोध होता है जिनके आधार पर किसी देश के न्यायालय कार्य करते हैं। इस अर्थ में इसे बहुधा कानून के नाम से पुकारा जाता है। कभी इस शब्द से उन सामाजिक नियमों का बोध होता है जो दीर्घकाल से समाज में प्रतिष्ठित हैं। एक तीसरे अर्थ में इस शब्द का प्रयोग उन नियमों के लिये होता है जो कारण और परिणाम के सम्बन्ध को सैद्धान्तिक रूप में प्रस्तुत करते हैं। यह शब्द अपने तीसरे अर्थ में सभी विज्ञानों—भौतिक शास्त्र, रसायन शास्त्र आदि में प्रयुक्त होता है। अर्थशास्त्र में भी इस शब्द का यही तीसरा अर्थ लिया जाता है। यदि यह शब्द अपने तीसरे अर्थ में अर्थशास्त्र एवम् अन्य प्राकृतिक विज्ञानों (natural sciences) में प्रयुक्त होता है तो क्या इस समान अर्थ के कारण हम कह सकते हैं कि अर्थशास्त्र के नियम प्राकृतिक नियमों के समान ही हैं। तात्पर्य यह है कि अर्थशास्त्र के नियमों की प्रकृति क्या है ? क्या वे अन्य प्राकृतिक विज्ञानों के समकक्ष समझे जा सकते हैं ?

सामान्य-धारणा

इस विषय पर एक सामान्य धारणा यह रही है कि अर्थशास्त्र के नियम प्राकृतिक विज्ञान के नियमों के समकक्ष नहीं माने जा सकते। प्राकृतिक विज्ञान के नियम एकदम खरे (exact) होते हैं जब कि अर्थशास्त्र के नियम ऐसे नहीं होते। उदाहरण के लिए (Law of Gravitation) गुरुत्वाकर्षण के नियम को ही लीजिये। इस नियम की सच्चाई और यथार्थता में कोई सन्देह नहीं है। चाहे हम एक वस्तु यहाँ फेंके या कहीं और, वह भूमि पर अवश्य गिरेगी। एक दूसरा उदाहरण रसायन-शास्त्र से लीजिये। इस शास्त्र के एक नियम (H_2O) के अनुसार यदि दो परमाणु हाइड्रोजन और एक परमाणु आक्सीजन मिला दी जाय तो पानी बन जायगा। इस निश्चित अनुपात से सदैव ही पानी बनेगा चाहे आप प्रयोग किसी भी समय या किसी जगह करें। अर्थशास्त्र के नियमों में यह बात नहीं है। अर्थशास्त्र के माँग के नियम के अनुसार यदि किसी वस्तु का मूल्य गिर जाय तो उसकी माँग बढ़ जायेगी; यदि अन्य सब बातें समान रहें। परन्तु व्यवहारिक जीवन में कभी-कभी देखा जाता है कि वस्तु का मूल्य गिरने के बावजूद भी माँग नहीं बढ़ती। इस प्रकार के अनेक

उदाहरण दिये जा सकते हैं । अतः इस विचारधारा के अर्थशास्त्रियों का कथन है कि अर्थशास्त्र के नियम प्राकृतिक विज्ञानों के नियमों के समान ही शुद्ध और निसंशयात्मक (exact and precise) नहीं हैं । केवल यही नहीं, इनके अनुसार अर्थशास्त्र के नियमों की प्रकृति के सम्बन्ध में तीन मुख्य बातें हैं ।

(१) पहली तो यह है कि अर्थशास्त्र के नियमों में वह स्थिरता (steadiness) नहीं है जो अन्य विज्ञानों 'भौतिकशास्त्र' रसायनशास्त्र आदि के नियमों में है ।

(२) दूसरी बात यह है कि आर्थिक व्यवहार (exact measurement) निश्चित-माप के परे है और इसलिए अर्थशास्त्र के नियमों में निश्चयात्मकता और निसंशयात्मकता (definiteness and exactness) सम्भव ही नहीं है । अन्य विज्ञानों में उदाहरणार्थ भौतिक शास्त्र में Physical Balance से हम किसी भी वस्तु को अत्यन्त शुद्ध रूप से तोल सकते हैं ।

(३) तीसरी बात का सम्बन्ध प्रो० सेलिगमैन (Seligman) से है । उनके अनुसार अर्थशास्त्र के नियम मुख्यतया अनुमानशील (essentially hypothetical) हैं । उनकी सचाई केवल उनके अनुमानों पर है जो संख्या में अनेक होने के अलावा इतने पेचीदा भी हैं कि व्यवहार में उनका सच होना लगभग असंभव है ।

उपर्युक्त तर्क और विचार प्रो० सेलिगमैन जैसे अर्थशास्त्रियों से सम्बन्धित है । ऊपर कही हुई बातों पर कोई टिप्पणी करने से पूर्व हम यह बता देना उचित समझते हैं कि प्रो० मार्शल का इस विषय पर क्या मत था ।

प्रो० मार्शल का मत

इस विषय पर प्रो० मार्शल का निष्कर्ष भी उपर्युक्त विचारधारा के अर्थशास्त्रियों से मिलता-जुलता है । उनका कहना भी यही है कि अर्थशास्त्र के नियमों में स्थिरता नहीं है । उदाहरण के लिए गणित ज्योतिष (astronomy) के आधार पर नक्षत्रों की गति विधि का हम बहुत पहले से पता लगा लेते हैं । चन्द्रग्रहण और सूर्यग्रहण की तिथि के बारे में हम बहुत पहले से जान जाते हैं परन्तु अर्थशास्त्र के नियमों के अनुसार हम भविष्य के बारे में कोई निश्चित बात नहीं कह सकते । अतः प्रो० मार्शल का कहना है कि हम अर्थशास्त्र के नियमों की तुलना शुद्ध एवम् निःसंशयात्मक गुरुत्वाकर्षण के नियम (Law of Gravitation) से नहीं कर सकते । उनकी तुलना ज्वार-भाटे के नियमों से करनी चाहिये जिनमें निश्चयात्मकता के स्थान पर सम्भावना का अंश अधिक होता है । प्रो० मार्शल का कथन है कि अर्थशास्त्र के नियमों की यह प्रकृति इसलिए है क्योंकि अर्थशास्त्र मनुष्यों का अध्ययन करता है और मनुष्य किसी कारण की प्रतिक्रिया में सदैव एकसा ही आचरण करेगा यह नहीं कहा जा सकता ।

अर्थशास्त्र के नियम प्राकृतिक विज्ञानों के नियमों के समान ही हैं।

यदि गम्भीरता से विचार किया जाय तो अर्थशास्त्र के नियमों के बारे में ऊपर कही हुई बातें भ्रान्तिमूलक प्रतीत होंगी। प्रत्येक नियम चाहे वह किसी भी विज्ञान का क्यों न हो, कुछ अनुमानों पर आधारित होता है और उनकी (अनुमानों की) सीमाओं के अन्दर ही वह सत्य हो सकता है। गुरुत्वाकर्षण के ही नियम को लीजिये। वह हर परिस्थिति में सच नहीं हो सकता। यदि ऐसा है तो गैस (Gas) से भरा गुब्बारा ऊपर फेकने पर आसमान में ऊपर क्यों उड़ता जाता है? वास्तव में उपर्युक्त नियम वायुमंडल के दबाव, वस्तु की गति (speed) इत्यादि पर निर्भर है। गुब्बारे में भरी गैस वायु से हल्की होने के कारण ही गुब्बारे को ऊपर उड़ा देती है। रसायनशास्त्र के नियम को ही लीजिये। आप हर दशा में हाइड्रोजन के दो परमाणु और आक्सीजन के एक परमाणु को मिलाकर पानी नहीं बना सकते। यदि आप ३२° फारेनहाइट के तापक्रम पर ऐसा करने की कोशिश करेंगे तो आप को निराशा ही होगी। तात्पर्य यह है कि प्राकृतिक विज्ञानों के नियम भी अनुमानों पर ही आधारित हैं; उनके बाहर वे सच नहीं कह सकते। अर्थशास्त्र के नियम भी अपने अनुमानों के भीतर पूरी तरह सच हैं। यदि अन्य सब बातें समान रहें तो मूल्य गिरने पर माँग अवश्य बढ़ेगी। माँग के इस नियम को यदि हम व्यवहार में पूरा होते न देखें तो इसका कारण अन्य बातों का समान न रहना है। अतः जब अनुमान ही असत्य हो जाता है तब नियम का निर्वाह कैसे सम्भव हो सकता है? अनुमानों के असत्य होने पर कोई भी वैज्ञानिक नियम पूरा नहीं उतर सकता। इसलिये हमारे विचार से अर्थशास्त्र एवम् अन्य विज्ञानों के नियम समान हैं। वे अपने अनुमानों के भीतर अन्य विज्ञानों के नियमों के समान ही खरे उतरते हैं। अर्थशास्त्र के नियमों पर अस्थिरता, अनुमानशीलता आदि के जो आक्षेप लगाये गये हैं वे अनुचित हैं। जहाँ तक उनके स्थिर व्यवहार का प्रश्न है वे अपने अनुमानों के भीतर पूर्णतया ठीक हैं। कोई भी नियम ले लीजिए। यदि अन्य सब बातें समान रहें तो एक व्यक्ति को किसी वस्तु से प्राप्त उपयोगिता, ज्यों ज्यों उस वस्तु का भण्डार बढ़ता जाता है, क्रमशः घटती जाती है। इस नियम के निर्वाह के प्रति अपवाद नहीं है जब तक उसके अनुमान सच रहते हैं। इससे अधिक स्थिरता तो किसी भी नियम में नहीं हो सकती। जहाँ तक आर्थिक व्यवहार के मापनीय होने का प्रश्न है, हमें विदित है कि हम उसे द्रव्य से मापते हैं और ठीक ही मापते हैं। आप सेवाओं के विनिमय को देखिए। एक विश्वविद्यालय के अध्यापक को प्रारम्भ में तीन सौ रुपये प्रतिमाह मिलते हैं। यह उनकी सेवाओं का माप है और शुद्ध माप है। यदि यह उसकी सेवाओं का शुद्ध माप न होता तो वह अध्यापन-कार्य कदापि स्वीकार न करता। जहाँ तक अर्थशास्त्र के नियमों के अनुमानशील होने का प्रश्न है, वह प्रत्येक नियम के बारे में सच है।

अर्थशास्त्र के नियमों के बारे में एक कठिनाई की ओर अक्सर संकेत किया जाता है। बहुधा कहा जाता है कि प्राकृतिक-विज्ञानों की अध्ययन सामग्री जड़ पदार्थ होते हैं और प्रयोगशाला (Laboratory) के प्रयोग द्वारा इनके नियमों की सत्यता प्रमाणित की जा सकती है। अर्थशास्त्र की अध्ययन सामग्री मानव अथवा मानव-व्यवहार है जिसे किसी प्रयोगशाला में किसी सिद्धांत की पुष्टि के लिये जाँचा जा सकता। यह ठीक है; परन्तु इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिये कि आर्थिक नियम प्राकृतिक विज्ञानों के नियमों के समकक्ष नहीं है। यदि प्रयोगशाला के अभाव में आर्थिक नियमों के बारे में अनिश्चयात्मकता की भावना का संचार होता है तो याद रखना चाहिये कि भौतिकशास्त्र जैसे विज्ञान में भी, जहाँ प्रयोगशाला का अभाव नहीं है, विद्युत परिमाणु (electron) आदि के निरीक्षण में (Precision) निश्चयात्मकता अथवा शुद्धता असम्भव है। प्रसिद्ध गणितज्ञ एवम् भौतिक शास्त्री (Heisenberg) हीजेनबर्ग, जिसे सन् १९३२ ई० में (Nobel Prize) नोबेल पुरस्कार मिला था, के "अनिश्चयात्मकता-नियम" (The Uncertainty Principle) के अनुसार अनिश्चयात्मकता दूर करना असम्भव है क्योंकि अणु (particle) की गति एवम् स्थिति तक का भी ठीक ठीक पता नहीं लग सकता। प्रो० ई० एन० द० सी० अन्द्रादे, एफ० आर० एस० (Prof. E. N. da. C. Andrade F.R.S.) के निम्न शब्दों में विज्ञान की अनिश्चयात्मकता एवम् विनम्रता कितनी स्पष्ट है।

"....When it comes to observing ultimate particles such as the electron, the observed and the observing are linked together in such a way that precision is impossible. So today, instead of saying that if we know at one instant the position and velocity of every particle in the universe we should be able, in principle, to calculate everything that was going to happen, we say that in principle, it is impossible to know at one instant the position and velocity of even one single particle. It is not a question of improving instruments—the thing is unknowable. Science has become very modest.......

......If the whole thing seems difficult or absurd let me illustrate the position—only illustrate, not explain it—by examples from ordinary life. It is impossible for a headmaster to find out for himself how the boys behave when he is away, because when he comes to look the boys behave differently........"

भौतिकशास्त्र भी एक अणु की स्थिति एवम् गति का ठीक-ठीक पता लगाने में असमर्थ है। ऐसी दशा में अर्थशास्त्र के नियमों की प्रामाणिकता पर सन्देह करनेवाले, सम्भवतया विज्ञान के उपर्युक्त आधुनिक विकास को देखकर, उन्हें प्राकृतिक विज्ञान के नियमों के समकक्ष मानने में न हिचकेंगे।

वास्तविकता तो यह है कि अर्थशास्त्र के नियमों के बारे में जो धारणायें प्रचलित हैं, वे भ्रान्तिमूलक हैं। इस भ्रम का मुख्य कारण यह है कि अर्थशास्त्र के नियमों के अनुमान जब व्यवहार में पूरे नहीं होते तो लोग उन नियमों को ही संशय की दृष्टि से देखने लगते हैं। किसी नियम के अनुमान पूरे न होने से यदि वह लागू न हो तो यह नहीं कहा जा सकता कि वह नियम गलत है अथवा अन्य विज्ञानों के नियमों के समान नहीं है। किसी नियम की प्रकृति देखने के लिये हमें उसे अनुमान सहित देखना चाहिये। इस दृष्टिकोण से अर्थशास्त्र के नियम हर तरह से प्राकृतिक विज्ञानों के नियम के अनुसार है। यदि व्यवहार में अर्थशास्त्र के नियमों के अनुमान नहीं मिलते, अर्थात् अन्य बातें समान नहीं रहतीं, तो इसका मतलब यह नहीं है कि अर्थशास्त्र के नियम प्राकृतिक-विज्ञानों के नियमों के समान स्पष्ट एवम् स्थिर नहीं हैं।

EXERCISES

1. There are no economic tendencies which act as steadily and can be measured as exactly as gravitation. Explain the nature of the Laws of Economics. Are economic laws essentially hypothetical?

Allad. 1944.

अध्याय ६

अर्थशास्त्र का अन्य विज्ञानों से सम्बन्ध

(ECONOMICS IN RELATION TO OTHER SCIENCES)

अर्थशास्त्र की परिभाषा देते हुए हम कह चुके हैं कि उसके अध्ययन का विषय मानव-व्यवहार है तथा उसमें इस व्यवहार सम्बन्धी आर्थिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन होता है। अन्य विज्ञान भी मानव-व्यवहार से किसी न किसी प्रकार सम्बन्धित हैं। कुछ का सम्बन्ध बहुत निकट और प्रत्यक्ष है उदाहरणार्थ राजनीति और कुछ का सम्बन्ध इतना निकट न होकर अप्रत्यक्ष है जैसे भौतिक शास्त्र। इस प्रकार अर्थशास्त्र एवम् अन्य विज्ञान एक दूसरे से सम्बन्धित हो जाते हैं। हाँ, अर्थशास्त्र और इन विज्ञानों के पारस्परिक सम्बन्ध के रूप भिन्न-भिन्न होते हैं। प्राकृतिक विज्ञान (जैसे रसायन शास्त्र, भौतिक शास्त्र आदि), राजनीतिशास्त्र, नीतिशास्त्र, भूगोल आदि सभी उपर्युक्त प्रकार से सम्बन्धित हैं। उदाहरण के लिये रसायन शास्त्र अथवा भौतिक शास्त्र के अनुसन्धान एवम् आविष्कार मानव जीवन में सदैव कुछ न कुछ परिवर्तन करते रहते हैं। इस परिवर्तनों के कारण मानवीय आचरण अर्थात् आर्थिक चुनाव (economic choice) भी बदलते रहते हैं। यही कारण है कि आज रासायनिक रंगों ने अन्य प्रकार से उपलब्ध रंग, नील अथवा टेसू के फूलों के रंग को लुप्तप्राय सा कर दिया है। इस प्रकार के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं जो अर्थशास्त्र और इन विज्ञानों के सम्बन्ध को स्पष्ट करते हैं। यह याद रखना चाहिये कि यह सम्बन्ध इसी आधार पर है कि अन्य विज्ञान मानव-व्यवहार से सम्बन्धित हैं अथवा उसे प्रभावित करते हैं और इस प्रकार आर्थिक दृष्टिकोण पर भी प्रभाव पड़ता है।

अर्थशास्त्र से कुछ विज्ञानों का सम्बन्ध एक दूसरे प्रकार का ही है। उदाहरण के लिये गणित, इतिहास का सम्बन्ध मुख्यतया इसलिये है कि ये अध्ययन प्रणाली का आधार प्रस्तुत करते हैं। निगमन प्रणाली के प्रयोग में गणित आवश्यक हो जाती है और आगमन प्रणाली ऐतिहासिक तथ्यों पर आधारित है। अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते समय हमें दोनों ही प्रणालियों का आश्रय लेना पड़ता है और इस प्रकार गणित और इतिहास अर्थशास्त्र से घनिष्ट रूप से सम्बन्धित हो जाते हैं। हमारा अर्थ यह नहीं है कि इन विज्ञानों का मानव-व्यवहार की ओर से अर्थशास्त्र से कोई सम्बन्ध नहीं दिखाया जा सकता वरन् यह कि इनका सीधा और मुख्य सम्बन्ध अध्ययन प्रणाली के आधार पर है।

अब यह स्पष्ट ही हो गया कि अर्थशास्त्र का अन्य विज्ञानों से सम्बन्ध दो आधारों पर है।

(१) मानव-व्यवहार के आधार पर

(२) अध्ययन-प्रणाली के आधार पर

पहले आधार पर अनेक विज्ञान अर्थशास्त्र से सम्बन्धित है। यहाँ हम उन सभी विज्ञानों की चर्चा न करके केवल कुछ मुख्य विज्ञानों से अर्थशास्त्र का सम्बन्ध दिखा येंगे।

अर्थशास्त्र और राजनीतिशास्त्र (Economics and Politics)

इन दोनों विज्ञानों के पारस्परिक सम्बन्ध का अनुमान इस बात से सहज ही लग सकता है कि प्रारम्भ में अर्थशास्त्र को अंग्रेजी भाषा में (Political Economy) कहा जाता था।[१] प्रो० विक्स्टीड (Wicksteed) ने अंग्रेजी भाषा के (Economy) शब्द के व्युत्पत्ति के अर्थ (etymological meaning)को लेकर (Political Economy) को राज्य के कार्यों एवं साधनों का प्रबन्ध बताया है। बाद में यह देख कर कि लक्ष्य प्राप्ति के लिये सीमित एवं वैकल्पिक साधनों का प्रबन्ध सभी को–चाहे वह एक व्यक्ति हो अथवा अनेक व्यक्तियों से निर्मित राज्य–करना पड़ता है Political विशेषण हटा दिया गया और विषय को Economics कहा जाने लगा। इसका अर्थ यह नहीं है कि अब अर्थशास्त्र और राजनीति का कोई सम्बन्ध नहीं रहा। सच तो यह है कि उनका यह सम्बन्ध और भी गाढ़ा हो गया है।

प्रत्येक राज्य अब भी जनता से कर एवं अन्य साधनों द्वारा आय प्राप्त कर उसे उन्हीं के भलाई के लिये खर्च करता है। इन कार्यों में उसे अर्थशास्त्र का सहारा लेना पड़ता है। राज्य की व्यवसायिक नीति (Commercial Policy) अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों की सहायता से ही निर्मित होती है। विभिन्न व्यापारिक समझौते जहाँ राजनीति का विषय हैं वहाँ उनका एक महत्वपूर्ण आर्थिक पहलू भी रहता है। आज विभिन्न देशों के अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक संगठन आर्थिक संगठन के बिना अपूर्ण समझे जाते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय संघ (U. N. O.) देशों के पारस्परिक सम्बन्धों को

---

[१] "Political" Economy would by analogy, indicate the administration, in its like manner, of the affairs and resources of a State, regarded as an extended household or community, and regulated by a central authority; and the study of Political Economy would be the study of the principles on which the resources of a community should be so regulated and administered as to secure the communal ends without waste—'The Common Sense of Political Economy.' Wicksteed.

केवल अपने से ही सुदृढ नहीं कर सकता । अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष (I. M, F.), अन्तर्राष्ट्रीय पुर्ननिर्माण-विकास बैंक, आदि के होने पर ही राजनीतिक संबंधों में दृढ़ता आ सकती है । वर्तमान समय में राजनीतिक मित्रता का आधार अधिकतर आर्थिक होता है । इस प्रकार हम देखते हैं कि राजनीति बहुत अंशों में अर्थशास्त्र पर निर्भर है और इसलिये सम्बन्धित भी है । इस सम्बन्ध का एक पहलू और है । वह है राजनीतिक संगठन का आर्थिक क्रियाओं पर प्रभाव ।

किसी देश की आर्थिक क्रियाओं का स्वरूप उस देश के राजनीतिक संगठन पर निर्भर रहता है । उदाहरण के लिए एक समाजवादी देश में उत्पादन का निर्णय सरकार के हाथ में होने के कारण केवल वही वस्तुयें बनाई जायँगी जिन्हें सरकार उचित समझती है । एक पूँजीवादी देश में उत्पादन का स्वरूप उपभोक्ताओं द्वारा निश्चित होता है । इतना ही नहीं, यदि सरकार किसी विशेष प्रकार की आर्थिक क्रियाओं को प्रोत्साहन देना चाहती है अथवा रोकना चाहती है तो वह ऐसा बड़ी सरलता से कर सकती है । मद्य-निषेध की नीति अपना कर एक राज्य मद्य का उत्पादन और उपभोग —जो आर्थिक क्रियायें हैं—बड़ी सरलता से रोक सकती है । सार्वजनिक-व्यय (Public Expenditure) द्वारा देश की आर्थिक क्रियाओं के रूप को बहुत बड़ी सीमा तक बदला जा सकता है । यदि सरकार अधिक व्यय जनता की शिक्षा और अन्य सुविधाओं पर करती है तो इसका प्रभाव आर्थिक क्रियाओं पर पड़े बिना नहीं रहेगा । एक शिक्षित जनता के आर्थिक चुनाव (choice) अशिक्षितों से बहुत भिन्न होते हैं । यातायात की सुविधायें आदि गतिशीलता प्रदान कर आर्थिक क्रियाओं को और भी सहज बना देती हैं ।

वर्तमान समय में राज्य की सफलता अथवा असफलता मुख्यतया उनके आर्थिक प्रोग्रामों (Economic Programmes)की सफलता पर निर्भर है । प्रत्येक राज्य देश के आर्थिक क्षेम (Economic Welfare) को अधिकतम करना चाहता है । बेकारी, भुखमरी आदि समस्याओं के निदान के लिये सभी राज्य सुनिश्चित नीति अपनाते हैं । वही राज्य सफल समझा जाता है जो सब को रोजगार दे सके, भुखमरी को मार भगाये तथा देश को आर्थिक उन्नति पर बढ़ाता जाय । राजनीति और अर्थशास्त्र के घनिष्ट सम्बन्ध का इससे अधिक और क्या प्रमाण हो सकता है ?

अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र (Economics & Ethics)

अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र के सम्बन्ध के विषय में विद्वानों में दो मत रहे हैं । कुछ विद्वानों का मत है कि नीतिशास्त्र का अर्थशास्त्र के ऊपर अत्यधिक प्रभाव है और कुछ अन्य विद्वानों के अनुसार नीतिशास्त्र का अर्थशास्त्र से कोई सम्बन्ध ही नहीं है । वर्तमान समय में दूसरे मत की कोई प्रधानता नहीं रही है । अर्थशास्त्र के

वैज्ञानिक विकास के लिये यह आवश्यक है कि वह अन्य विज्ञानों से अप्रभावित होकर आगे बढ़े, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिये कि उसे व्यवहार रूप देते समय उसके नैतिक परिणामों को भुला दिया जाय। सर मैरियट (Sir Marriott) के शब्दों में यह आवश्यक नहीं है कि एक व्यक्ति जो वैज्ञानिक विश्लेषण से नियम बनाता है वह कठोर और उदासीन हो, भले ही उसके विश्लेषण का विषय मानवीय रक्त हो अथवा व्यापारिक बातें। अब अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र के घनिष्ट सम्बन्ध को लगभग सभी स्वीकार करते हैं।

वास्तव में आधुनिक आर्थिक जीवन की समस्यायें केवल तर्क के सहारे ही नहीं सुलझाई जा सकतीं। श्रम की समस्या, मजदूरी का प्रश्न, वृद्धावस्था की पेन्शन आदि का निर्णय केवल माँग और पूर्ति के नियमों के अनुसार ही नहीं होता। इन पर विचार करते समय उचितानुचित का विचार रखना पड़ता है।[1] श्मौलर ने ठीक ही कहा है कि सिद्धान्त के प्रति आदर के कारण हम यह नहीं चाहते कि उपस्थित दोष प्रतिदिन बिगड़ते ही चले जायँ अथवा ठेके की स्वतंत्रता (freedom of contract) के नाम पर श्रम का शोषण हो।[2] यह ठीक भी है क्योंकि नीतिशास्त्र के अभाव में अर्थशास्त्र केवल धन-शास्त्र (Chremastics) रह जायगा। इसी बात को ध्यान में रखते हुए बरट्रेण्ड रसेल (Bertrend Russel) ने भी कहा है कि व्यवहार में पथ-प्रदर्शन के लिये केवल अर्थशास्त्र पर निर्भर रहना अव्यवहारिक है।

नीतिशास्त्र की अत्यधिक आवश्यकता मजदूरी निश्चित करते समय पड़ती है। लाचारी में एक श्रमिक कोई भी मजदूरी स्वीकार कर लेगा परन्तु कार्यक्षमता, सामाजिक समन्वय (social harmony), तथा औद्योगिक न्याय (industrial justice) के दृष्टिकोण से ऐसा नहीं होना चाहिये। मजदूरी निश्चित करते समय माँग और पूर्ति के नियम को नीतिशास्त्र से समन्वित कर देना चाहिये। वास्तव में अर्थशास्त्र के व्यवहारिक रूप में नीतिशास्त्र पदार्पण कर चुकी है। न्यूनतम-मजदूरी-कानून (Minimum-Wage Legislation), बेकारी में सहायता (Unemployment

---

[1] इस बारे में रस्किन का कथन देखिये...."it being the privilege of the fishes, as it is of rats and wolves to live by the laws of demand and supply, but the distinction of the humanity is to live by those of right"—Ruskin.

[2] "We do not wish, out of respect for abstract principles, to allow the most crying abuses to become daily worse or permit the so-called freedom of contract to end in the actual exploitation of labour".—Schmoller.

Relief), आदि इसी के प्रमाण हैं। वृद्धावस्था में जब एक व्यक्ति काम करने योग्य नहीं रहता, उसे पेन्शन देना किस आधार पर उचित ठहराया जा सकता है ? इसका उत्तर यही हो सकता है कि अब नीतिशास्त्र को आर्थिक न्याय का मापदण्ड स्वीकार किया जा चुका है। काम्टे (Comte) के अनुसार हृदय का कार्य समस्याओं की ओर संकेत करने का है और बुद्धि का उन्हें हल करने का। बुद्धि का प्रयोग सामाजिक सहानुभूतियों के दास होने में ही है।[१] अर्थशास्त्र की नई विचारधारा जिसे (New Welfare Economics) के नाम से पुकारा जाता है, नीतिशास्त्र के आदेशों पर ही निर्भर है।[२]

अर्थशास्त्र और भूगोल (Economics & Geography)

भूगोल की एक परिभाषा[3] के अनुसार यह वह विज्ञान है जो मनुष्य का अध्ययन उसके वातावरण के सम्बन्ध से करता है। मोटे तौर पर इसके अध्ययन की सामग्री पृथ्वी की सतह, प्राकृतिक दशायें (physical factives) जलवायु, उत्पत्ति, तथा जन-संख्या आदि हैं। इन सभी बातों का मनुष्य की आर्थिक क्रियाओं पर कितना प्रभाव पड़ता है, यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है। उदाहरण के लिये उन्नीसवीं सदी की औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात् इंगलैण्ड ने जो आर्थिक महत्ता प्राप्त की थी उसमें उसकी भोगोलिक स्थिति (Geographical Situation) का बहुत बड़ा हाथ था। जलवायु का बहुत बड़ा प्रभाव आर्थिक क्रियाओं पर पड़ता है। सर्द देश के रहनेवालों को जहाँ गर्म कपड़ों आदि की आवश्यकता पड़ती है वहाँ भूमध्य-रेखायें देश बहुत कम और सूती कपड़ों से ही अपना काम चला लेते हैं। यह भौगोलिक परिस्थिति के कारण ही है कि एक देश किसी एक वस्तु को अधिक सस्ता बना लेता है और दूसरा देश किसी दूसरी वस्तु को। भारत में जूट जितनी सरलता से उत्पन्न होता है उतना इंगलैण्ड में नहीं तथा इंगलैण्ड में कपड़ा (Textiles) जितनी सरलता से बनता है उतना भारत में नहीं। यही कारण है कि दोनों देशों में इन वस्तुओं का व्यापार होता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि अर्थशास्त्र के अन्तर्राष्ट्रीय-व्यापार के नियम का आधार अधिकांश में भौगोलिक है।

---

[१] It is for the heart to suggest our problems, and it is for the intellect to solve them....The only position for which the intellect is primarily adopted is to be the servant of social sympathies. —Comte.

[२] See 'A critique of Welfare Economics.'—I. M. D. Little

[3] Geography is a science which studies man in relation to his environment.

देश की उत्पत्ति, जनसंख्या का वितरण आदि देश की आर्थिक क्रियाओं से इतने घनिष्ट रूप से सम्बन्धित हैं कि भूगोल के इस सम्बन्ध का अध्ययन एक अलग विषय—आर्थिक भूगोल के अन्तर्गत होता है। अर्थशास्त्र और भूगोल के घनिष्ट सम्बन्ध का इससे अच्छा और क्या उदाहरण हो सकता है ?

अब हम अर्थशास्त्र से मुख्य तथा दूसरे आधार—अध्ययन प्रणाली के आधार—पर सम्बन्धित विज्ञानों की चर्चा करेंगे।

अर्थशास्त्र और गणित (Economics and Mathematics)

गणित (Pure Mathematics) निगमन प्रणाली का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। अर्थशास्त्र में गणित का प्रयोग प्रारम्भ से ही हुआ है यद्यपि प्रारम्भ में अधिक प्रयोग करने की प्रवृत्ति नहीं थी। इसका मुख्य कारण अर्थशास्त्र को दुरूह होने से बचाना था। प्रो० मार्शल ने इसी कारण अपनी पुस्तक Principles of Economics में गणित का प्रयोग परिशिष्ट में किया है। अब गणित का प्रयोग निःसंकोच किया जाने लगा है। गणितात्मक अर्थशास्त्र (Mathematical Economics) के अन्तर्गत सभी समस्याओं का अध्ययन गणित की सहायता से ही किया जाता है। गणित की सहायता से हम आर्थिक समस्याओं का अति सूक्ष्म रीति से अध्ययन करने में समर्थ हो सके हैं। उदाहरण के लिये गणित की सहायता से यह बात भली प्रकार समझी जा सकती है कि उत्पादन का समय केवल ब्याज की दर पर निर्भर रहता है उत्पादन के साधनों के मूल्यों पर नहीं। गणित से रहित निगमन तर्क में भ्रमित होने की आशंका रहती है। गणित की सहायता से सिद्धान्तों के अनुमान बिल्कुल स्पष्ट हो जाते हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि गणित के प्रयोग से दुरूहता आ जाती है परन्तु वे यह भूल जाते हैं कि गणित के प्रयोग के कारण अर्थशास्त्र के नियमों में एक सामान्यता (generality) आ गई है जो अन्यथा सम्भव नहीं थी। (General Equilibrium) सामान्य संस्थिति की धारणा गणित के सहारे ही अधिक स्पष्ट हो सकती है। वास्तव में गणित के प्रयोग ने अर्थशास्त्र में निगमन प्रणाली के प्रयोग को पूर्णता प्रदान की है। स्थैतिक और प्रवैगिक दशाओं (Static & Dynamic State) में विभिन्न आर्थिक समस्याओं का हल गणित बड़े स्पष्ट ढंग से प्रस्तुत करती है।

यदि हम गणित का एक विस्तृत अर्थ लें जिसके अन्दर अंकशास्त्र (Statistics) आदि सभी सम्मिलित कर लिये जायँ, तब तो गणित का प्रयोग और भी विस्तृत हो जाता है।

आजकल अनेक आर्थिक समस्याओं का हल, सिद्धान्तों की पुष्टि आदि अंकशास्त्र के आधार पर की जाती है। इतना ही नहीं, आगमन प्रणाली में आँकड़ों का प्रयोग

विशेषतया होता है और इस अर्थ में अर्थशास्त्र अंकशास्त्र (Statistics) से घनिष्ट रूप से सम्बन्धित है।

अर्थशास्त्र और इतिहास (Economics and History)

इतिहास किसी देश अथवा जाति के विकास का अध्ययन करता है। यह विकास अनेक पहलुओं से होता है जिनमें आर्थिक पहलू भी मुख्य होता है। यही कारण है कि इतिहास की एक शाखा आर्थिक इतिहास (Economic History) के अन्दर देश के आर्थिक विकास का अध्ययन करती है। वास्तव में मनुष्य की आवश्यकतायें उसका चरित्र, वस्तुओं से सम्बन्ध एवम् पारस्परिक सम्बन्ध इतिहास से ही निर्मित होते हैं। उपर्युक्त बातें अर्थशास्त्र से कितने घनिष्ट रूप से सन्बन्धित हैं, यह तो स्पष्ट ही है।

इतिहास एक दूसरे प्रकार से भी अर्थशास्त्र से सम्बन्धित है। इतिहास का प्रयोग अर्थशास्त्र के नियमों की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिये किया जाता है। केवल इतना ही नहीं, ऐतिहासिक निरीक्षण के आधार पर आगमन प्रणाली की सहायता से अनेक नियम बनाये जाते हैं। उदाहरण के लिये ग्रेशम का नियम ऐतिहासिक निरीक्षण के आधार पर ही बना है।

ऊपर हमने अर्थशास्त्र का अन्य विज्ञानों से सम्बन्ध दर्शाया है। इससे स्पष्ट है कि अर्थशास्त्र अन्य विज्ञानों से घनिष्ट रूप से सम्बन्धित है। वास्तव में हर सामाजिक समस्या के अनेक पहलू होते हैं। यदि हमें अध्ययन को लाभप्रद बनाना है तो हर प्रश्न पर हमें सभी दृष्टिकोणों से विचार करना चाहिये। प्रो० डरविन ने अपने एक लेख में इसी बात को ध्यान में रखते हुए, अध्ययन की प्रणालियों के सहयोग को प्रधानता देने के साथ-साथ, विभिन्न विज्ञानों के विद्यार्थियों की 'सहकारिक खोज' (Cooperative Research)[1] की सिफारिस की है परन्तु प्रो० डरविन की 'सहकारिक खोज' विवादास्पद विषय है। कुछ भी हो उनके कथन से अर्थशास्त्र के विभिन्न विज्ञानों से सम्बन्धित होने की बात की और भी पुष्टि हो जाती है।

EXERCISES

1. How is Economics related to (a) Geography; (b) Ethics, (c) Mathematics, (d) Sociology ?

Agra U. 1950.

2. Give that you regard as the best definition of Economics

---

[1]*Economic Journal*, June 1938, pp. 183.

and explain the relation of Economics to the Social Sciences on the one hand and to the Natural Sciences on the other.

Agra U. 1948.

3. Explain the scope of Economics, and discuss its relation to Ethics (for the first part, see Chap. I).

Allad. U. 1952,

उपभोग
CONSUMPTION

अध्याय ७

उपभोग और उपयोगिता

(CONSUMPTION AND UTILITY)

परिभाषा (Definition)

उपभोग की परिभाषा अनेक प्रकार से दी गई है। उदाहरण के लिये कुछ अर्थशास्त्रियों के अनुसार उपभोग उपयोगिता का नाश है। प्रो० मार्शल इसे नकारात्मक उत्पादन (negative production) कहते हैं। कुछ अन्य अर्थशास्त्री उपभोग को वर्तमान आवश्यकता (immediate want) से सम्बन्धित करके देखते हैं। यह सभी परिभाषायें व्यवहारिक दृष्टिकोण से संतोषजनक हैं, परन्तु सिद्धान्त के दृष्टिकोण से यह दोष युक्त है।

उपयोगिता का नाश या सृजन मनुष्य के वश की बात नहीं है, मनुष्य उनमें वृद्धि या कमी ही कर सकता है। नकारात्मक उत्पादन एक ऐसा वाक्यांश है जिससे 'उपभोग क्या है' के स्थान पर 'उपभोग क्या नहीं है' का पता चलता है। वर्तमान आवश्यकता तथा दूरस्थ (Remote) आवश्यकताओं के विभाजन पर उपभोग की परिभाषा इसलिये अनुचित प्रतीत होती है कि एक आवश्यकता अन्य आवश्यकताओं को जन्म देती है। इन आवश्यकताओं को दूरस्थ कहा जाय या वर्तमान ? इसके अतिरिक्त उपर्युक्त परिभाषायें उपभोग के वास्तविक रूप को स्पष्ट नहीं करती। इस कारण से हम उपभोग की निम्न परिभाषा अधिक उचित समझते हैं।

"उपभोग उस क्रिया को कहते हैं जिससे किसी आवश्यकता की संतुष्टि के क्रम में प्रत्येक इकाई से क्रमशः घटती हुई उपयोगिता प्राप्त होती है।"[1]

उपर्युक्त परिभाषा में अस्पष्टता नहीं है। इसके अतिरिक्त उपभोग का सही स्वरूप-उपयोगिता का क्रमशः ह्रासमान होना—भी हमारे सामने आ जाता है। इस परिभाषा के सहारे उत्पादन और उपभोग का अन्तर भी अधिक स्पष्ट हो जाता है। (देखिये अध्याय ११)

---

[1] An actiivty is called consumption when it is looked at from the point of view of that want in the process of satisfaction or removal of which it yields, unit by unit, diminishing satisfaction."

J. K. Mehta

(Ground work of Economics P. 27)

आवश्यकतायें (Wants)

आवश्यकतायें ही समस्त क्रियाओं को जन्म देती हैं। इन आवश्यकताओं की निम्न विशेषताएँ होती हैं।

१. आवश्यकतायें संख्या में असीमित होती हैं। एक आवश्यकता की तृप्ति होने के बाद दूसरी उत्पन्न हो जाती है और इस प्रकार आवश्यकतायें कभी समाप्त ही नहीं होतीं। हम पहले अपनी अत्यन्त तीव्र (most intense) आवश्यकता की तृप्ति करते हैं और उसकी तृप्ति के बाद ही कम तीव्रता वाली आवश्यकता उसका स्थान ले लेती है। यह क्रम निरन्तर चलता रहता है।

२. यद्यपि आवश्यकतायें असंख्य हैं फिर भी पर्याप्त साधन होने पर प्रत्येक आवश्यकता की तृप्ति पूर्णतया की जा सकती है। उदाहरण के लिये यदि एक व्यक्ति फल खाना चाहता है तो पर्याप्त साधनों के होने पर इस इच्छा की तृप्ति पूर्णतया की जा सकती है।

३. आवश्यकताओं की तीव्रता में अन्तर होता है इस कारण उनकी तृप्ति करने से पूर्व हमें उनकी तीव्रता के क्रम पर विचार करना पड़ता है। आवश्यकताओं की तृप्ति उनकी तीव्रता के क्रम से की जाती है।

४. कुछ आवश्यकतायें पूरक होती हैं। उदाहरण के लिये कार और पेट्रोल, चश्मे का शीशा और फ्रेम आदि की माँग साथ ही साथ होती है।

५. आवश्यकताएँ प्रतिस्पर्धी भी होती हैं। अपनी समस्त आवश्यकताओं की संतुष्टि न कर पाने के कारण हमें उनका चुनाव करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त आवश्यकताओं की महत्ता (importance) भी उन्हें प्रतिस्पर्धी बना देती है।

६. आवश्यकताएँ पुनः उत्पन्न हो जाती हैं। यद्यपि किसी एक आवश्यकता की पूर्ण तृप्ति सम्भव है परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि वह आवश्यकता फिर उत्पन्न नहीं होगी। कुछ समय के बाद वह आवश्यकता पुनः हमारे सामने आ जाती है। उदाहरण के लिये एक समय भोजन करने से उस समय भूख मिट जायेगी परन्तु कुछ समय बाद वह फिर उपस्थित हो जायगी।

आवश्यकताओं की यह विशेषताएँ बहुत ही महत्वपूर्ण हैं। अर्थशास्त्र के—विशेष तया उपभोग के—अनेक नियम इन्हीं विशेषताओं पर आधारित हैं। उदाहरण के लिये आवश्यकताओं की पूर्ण तृप्ति की विशेषता के आधार पर ह्रासमान सीमान्त उपयोगिता (The Law of Diminishing Marginal Utility) का नियम बना है। आवश्यकता की पूर्ण तृप्ति सम्भव होने के कारण उसकी अनेक इकाइयों के प्रयोग से उपयोगिता क्रमशः घटती जाती है और धीरे धीरे पूर्ण तृप्ति प्राप्त होती जाती है। आवश्यकताओं के प्रतिस्पर्धी होने के कारण हमें अपने सीमित साधनों के प्रयोग को

इस प्रकार निर्देशित करना पड़ता है कि अनेक दिशाओं में किये हुए व्यय से अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त हो। यह स्पष्ट ही है कि उपभोग का सम-सीमान्त उपयोगिता नियम (The Law of Equi-Marginal Utility) आवश्यकताओं की इसी विशेषता पर निर्भर है। इसी प्रकार आवश्यकताओं के पूरक होने की विशेषता परस्पर सम्बन्धी मूल्यों पर विशेष प्रभाव डालती है।

अनिवार्यतायें, सुविधायें और बिलासितायें (Necessaries, Comforts, Luxuries)

आवश्यकताओं की सन्तुष्टि वस्तुओं द्वारा ही होती है। इन वस्तुओं को उपर्युक्त तीन वर्गों में विभाजित किया जाता है।

१. अनिवार्यतायें (Necessaries)

दिये हुए समय में एक व्यक्ति के लिये वस्तु की एक इकाई अनिवार्यता है यदि उसका उपभोग पहले की इकाइयों की अपेक्षा कार्यक्षमता में अधिक वृद्धि करता है।

२. सुविधायें (Comforts)

दिये हुए समय में एक व्यक्ति के लिये वस्तु की इकाई सुविधा (Comfort) है यदि उसके उपभोग द्वारा कार्यक्षमता में हुई वृद्धि पूर्व इकाइयों से प्राप्त कार्यक्षमता से कम है।

३. दिये हुए समय में एक व्यक्ति के लिये वस्तु की इकाई विलासिता (luxry) है जब उसका उपभोग उस समय कार्यक्षमता को घटा देता है।

उपर्युक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट हो गया होगा कि वस्तुओं का यह वर्गीकरण सापेक्ष है। एक ही व्यक्ति के लिये एक वस्तु भिन्न-भिन्न समय पर अनिवार्यता, सुविधा तथा विलासिता हो सकती है। इसी प्रकार एक ही वस्तु विभिन्न व्यक्तियों के लिये अनिवार्यता, सुविधा, तथा विलासिता हो सकती है।

हमने अनिवार्यताओं सुविधाओं, तथा विलासिताओं को कार्यक्षमता से सम्बन्धित करके देखा है। उनका वर्गीकरण उपयोगिता के आधार पर भी हो सकता है परन्तु इस प्रकार के विभाजन में जब हम जीवन रक्षक अनिवार्यताओं (Necessaries for existence) की चर्चा करते हैं तो अस्पष्टता सामने आ जाती है क्योंकि कोई वस्तु अकेली ही जीवन रक्षक अनिवार्यता नहीं हो सकती। प्रत्येक वस्तु का प्रतिस्थापन मौजूद है। अतः किसे जीवन रक्षक अनिवार्यता कहा जाय यह निर्णय करना बहुत कठिन है। इसी कारण से हमने कार्यक्षमता को वर्गीकरण का आधार माना है। हमारी परिभाषाओं से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि एक ही वस्तु की विभिन्न इकाइयाँ अनिवार्यता, सुविधा तथा विलासिता हो सकती हैं। जब तक वस्तु की इकाइयाँ पहली इकाइयों की तुलना में कार्यक्षमता में अधिक वृद्धि करती हैं तब तक वे अनिवार्यतायें हैं; परन्तु जब वस्तु की इकाइयाँ पहली इकाइयों की अपेक्षा कार्य-

क्षमतायें कम वृद्धि करती हैं तो वे सुविधा हैं और जब उनसे कार्यक्षमता घट जाती है तो वे विलासिता हैं। एक ही वस्तु की विभिन्न इकाइयाँ इस प्रकार तीनों वर्गों में आ जाती हैं। हम इसे चित्र द्वारा दिखा सकते हैं।

चित्र में अ ब अक्ष पर कार्यक्षमता दिखाई गई है और अ स अक्ष पर वस्तु की इकाइयाँ। वस्तु की अ प इकाइयाँ अनिवार्यतायें हैं क्योंकि वस्तु की प्रत्येक इकाई पूर्व इकाई की तुलना में कार्य-क्षमता में अधिक वृद्धि कर रही है। वस्तु की प प१ इकाइयाँ सुविधा है क्योंकि इस बार उसकी प्रत्येक इकाई पूर्व इकाई की अपेक्षा कार्य-क्षमता में कम वृद्धि करती है। यह याद रखना चाहिये कि अनिवार्यतायें और सुविधायें—दोनों ही कार्यक्षमता में वृद्धि करती हैं; परन्तु इनकी वृद्धि की दरों में अन्तर होता है। अनिवार्यताओं द्वारा कार्य-क्षमता की वृद्धि वृद्धिमान होती है तथा सुविधाओं द्वारा कार्यक्षमता की वृद्धि ह्रास-मान होती है। अप१ से आगे की इकाइयाँ विलासिता हैं क्योंकि यहाँ वस्तु की प्रत्येक इकाई कार्यक्षमता को घटा रही है जैसा कि वक्र के झुके हुए आकार से प्रतीत होता है।[1]
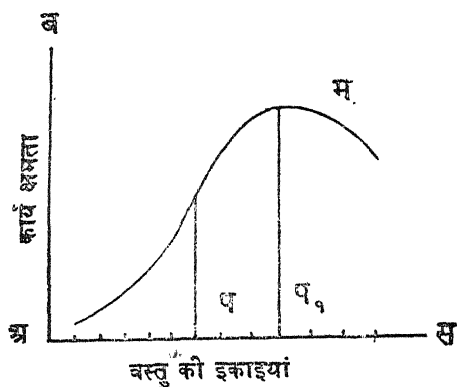
उपयोगिता (Utility)

किसी वस्तु की आवश्यकता को सन्तुष्ट करने की शक्ति को उपयोगिता कहते हैं। किसी वस्तु से प्राप्त उपयोगिता केवल वस्तु से ही सम्बन्धित नहीं होती। वह उस वस्तु की आवश्यकता की तीव्रता (Intensity) कर भी निर्भर होती है। उदाहरण के लिये एक ही व्यक्ति के लिये एक गिलास पानी की उपयोगिता भिन्न-भिन्न होगी यदि एक समय उसकी आवश्यकता की तीव्रता कम हो तथा दूसरे समय अधिक।

किसी वस्तु की सीमान्त उपयोगिता (marginal utility) उस वस्तु में जरा सी वृद्धि करने से हुई उपयोगिता की वृद्धि को कहते हैं। यदि किसी वस्तु की आठ इकाइयों की उपयोगिता सौ इकाई हो और नौ वस्तुओं की उपयोगिता एक सौ पन्द्रह इकाई हो तो वस्तु के उपर्युक्त समूह की सीमान्त उपयोगिता पन्द्रह इकाई होगी।

[1] Indian Journal of Economics में प्रकाशित प्रो० मेहता के एक लेख के आधार पर।

कुल उपयोगिता सीमान्त उपयोगिता का जोड़ होती है। नीचे की सारिणी में सीमान्त और कुल उपयोगिता को दिखाया गया है।

अमरूद	कुल उपयोगिता (इकाइयाँ)	सीमान्त उपयोगिता (इकाइयाँ)
१	२०	—
२	३५	१५
३	४५	१०
४	५३	८
५	५८	५

उपर्युक्त सारिणी को देखने से पता चलेगा कि कुल उपयोगिता सीमान्त उपयोगिता का जोड़ ही है तथा वस्तु की इकाइयों के अधिकाधिक प्रयोग से वह बढ़ती जाती है जबकि सीमान्त उपयोगिता घटती है। यदि हम कुल उपयोगिता को वस्तु की इकाइयों से भाग दें तो हमें वस्तु से प्राप्त औसत उपयोगिता मालूम हो जायेगी। हमारे अध्ययन में सीमान्त उपयोगिता विशेष महत्वपूर्ण है।

सीमान्त उपयोगिता का महत्व (The Importance of the Marginal Utility)

व्यवहार में जब एक उपभोक्ता किसी वस्तु को खरीदता है तो उसे सोचना पड़ता है कि वह वस्तु की कितनी इकाइयाँ खरीदे। इस निर्णय में सीमान्त उपयोगिता ही उसकी मदद करती है। वह वस्तु की उतनी ही इकाइयाँ खरीदेगा जहाँ पर वस्तु की सीमान्त उपयोगिता और उसके लिये किया हुआ त्याग बराबर हो जाय। साधारणतया हम वस्तु के बदले में द्रव्य का त्याग करते हैं। अतः उपभोक्ता **वस्तु और द्रव्य की सीमान्त उपयोगिताओं को बराबर करेगा।** यदि द्रव्य की उपयोगिता समान हो तो उपभोक्ता वस्तु की सीमान्त उपयोगिता और मूल्य को बराबर करेगा, क्योंकि द्रव्य की सीमान्त उपयोगिता मूल्य के बराबर ही होगी। नीचे दिये हुए उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायेगी।

अमरूद	सीमान्त उपयोगिता	मूल्य (द्रव्य)	द्रव्य की सीमान्त उपयोगिता
१	१० आ.	५ आ.	— आ.
२	७ आ.	५ आ.	५ आ.
३	५ आ.	५ आ.	५ आ.

ऊपर की सारिणी में द्रव्य की उपयोगिता समान है इसलिये वस्तु की सीमान्त उपयोगिता उसके मूल्य के बराबर है जो कि द्रव्य की सीमान्त उपयोगिता भी है।

इसके अतिरिक्त सीमान्त उपयोगिता सीमान्त विश्लेषण (Marginal Analysis) का महत्वपूर्ण आधार है। सीमान्त लागत के सहयोग से इस विधि द्वारा हम वस्तुओं का मूल्य निर्धारण करते हैं।

उपयोगिता की मापनीयता (Measurability of Utility)

उपयोगिता को द्रव्य के द्वारा मापा जाता है। अर्थशास्त्र में द्रव्य ही मापदण्ड के रूप में प्रयुक्त होता है। कुछ अर्थशास्त्रियों का मत है कि उपयोगिता अमापनीय है। उनका कहना है कि उपयोगिता एक मानसिक गुण है, उसकी स्थिति 'मनुष्य के मस्तिष्क में है। इसके अतिरिक्त द्रव्य की उपयोगिता परिवर्तनशील होती है तथा द्रव्य कोई सामान्य मापदण्ड (जैसे लम्बाई नापने के लिये फुट) नहीं प्रस्तुत करता। इन कारणों के आधार पर यह कहा जाता है कि उपयोगिता मापनीय नहीं है।

यदि ध्यानपूर्वक विचार किया जाय तो उपर्युक्त तर्क सारहीन प्रतीत होंगे। लम्बाई भी एक गुण ही है और हम उसे माप सकते हैं। इस प्रकार के मापदण्ड देश-देश में भिन्न प्रकार के होते हैं अतः मापदण्ड की सामान्यता के आधार पर हम उपयोगिता को अमापनीय नहीं कह सकते। जहाँ तक द्रव्य की उपयोगिता के परिवर्तन-शील होने का सवाल है, सामान्यतः अर्थशास्त्र में हम उसे स्थिर (constant) मान लेते हैं। यदि द्रव्य की उपयोगिता परिवर्तनशील भी हो तो इससे उपयोगिता की मापनीयता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। अतः हमारे मत से उपयोगिता मापनीय है और हम उसे द्रव्य द्वारा माप सकते हैं।

जब हम उपयोगिता को मापनीय मानते हैं तो हम किसी वस्तु की विभिन्न इकाइयों से प्राप्त उपयोगिता को रेखाचित्र द्वारा दिखा सकते हैं और यह निश्चय रूप से कह सकते हैं कि वस्तु की दी हुई इकाइयों की उपयोगिता कितनी है। हम उसे उपयोगिता-वक्र या माँग की रेखा द्वारा दिखाते हैं क्योंकि वस्तु की माँग उपयोगिता के आधार पर ही होती है।

सम-सन्तुष्टि वक्र (Indifference Curve)

वे आधुनिक अर्थशास्त्री जो उपयोगिता को अमापनीय ठहराते हैं, वस्तुओं की उपयोगिता को माँग की रेखा या उपयोगिता वक्र द्वारा नहीं प्रदर्शित करते। उन्होंने सम-सन्तुष्टि वक्रों का आश्रय लिया है। उनके अनुसार किन्हीं दो वस्तुओं के विभिन्न समूहों से हमें कितनी उपयोगिता प्राप्त होती है, यह हम नहीं कह सकते। हम केवल इतना कह सकते हैं कि वस्तु के एक समूह से हमें दूसरे समूह की अपेक्षा कम या अधिक उपयोगिता मिलती है—कितनी कम या कितनी अधिक, यह नहीं कहा जा सकता।

सम-सन्तुष्टि वक्र एक ऐसी रेखा है जो किन्हीं दो वस्तुओं के उन अनुपातों के संयोग को प्रदर्शित करती है जिनसे प्राप्त उपयोगिता समान हो। उदाहरण के लिये—

वस्तु अ की इकाइयाँ		वस्तु ब की इकाइयाँ	उपयोगिता (इकाइयाँ)
१०	और	५	१००
८	"	९	१००
५	"	१०	१००

अ और ब के उपर्युक्त तीन अनुपातों से प्राप्त उपयोगिता समान अर्थात् सौ इकाइयाँ ही हैं। इन्हें प्रदर्शित करनेवाली रेखा सम-सन्तुष्टि वक्र कहलायेगी। उसका आकार निम्न प्रकार का होगा।
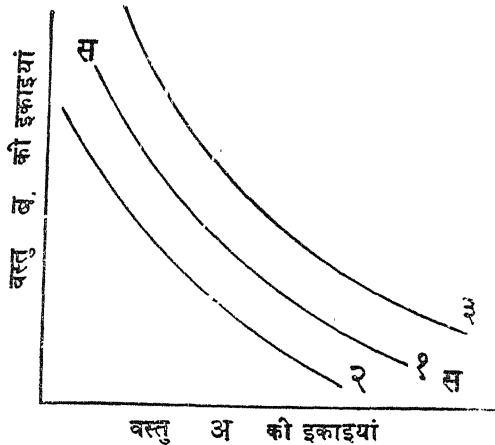
सम-सन्तुष्टि वक्र की विशेषतायें

१. सम-सन्तुष्टि वक्र उभयान्तर (Convex) होते हैं। ऊपर दिये हुए वक्र इसी आकार के हैं।

२. ज्यों-ज्यों एक सम-सन्तुष्टि वक्र से हम ऊपर की ओर बढ़ते जाते हैं त्यों-त्यों हमारी सन्तुष्टि का स्तर भी बढ़ता जाता है। ज्यों-ज्यों हम नीचे की ओर आते हैं त्यों-त्यों सन्तुष्टि का स्तर कम होता जाता है।

३. यह आवश्यक नहीं है कि सम-सन्तुष्टि वक्र समानान्तर ही हो।

यहाँ दिये हुए चित्र में हमने तीन सम-सन्तुष्टि वक्र दिखाये हैं। यह उभयान्तर आकार के हैं। जब हम पहले वक्र से ऊपर की ओर तीसरे वक्र पर जाते हैं तो सन्तुष्टि का स्तर बढ़ जाता है और जब नीचे की ओर दूसरे बक्र पर आते हैं तो घट जाता है।

आधुनिक समय में उपयोगिता की मापनीयता के अनुमान से बचने के लिये प्रो० हिक्स और एलेन (Prof. Hicks and Allen) ने उपभोक्ता के सन्तुलन का अध्ययन

इन्हीं वक्रों के द्वारा किया है। यह अब भी विवादास्पद है कि सम-सन्तुष्टि वक्र उपयोगिता की मापनीयता के अनुमान से मुक्त है।[1]

EXERCISES

1. Define Utility. Distinguish between marginal and total utility, and show why marginal utility declines but total utility increases as a consumer has more units of a commodity.

Allad. U. B. Com. I, 1949

2. "Man's wants have various characteristics, each of which is of great importance, for on each depends some great economic law" amplify this statement.

Rajputana U. 1952

---

[1] सम सन्तुष्टि चक्रों का विस्तृत अध्ययन बी० ए० के पाठ्यक्रम के बाहर है।

अध्याय ८

उपभोग के नियम

(LAWS OF CONSUMPTION)

ह्रासमान सीमान्त उपयोगिता नियम (The Law of Diminishing Marginal Utility or the Law of Satiable Wants)

इस नियम के अनुसार यदि अन्य बातें समान रहें तो दिये हुए समय में वस्तु की मात्रा बढ़ने के साथ प्रति इकाई सीमान्त उपयोगिता घटती जाती है।

उदाहरण के लिये यदि एक व्यक्ति के पास एक फाउन्टेन पेन (कलम) हो और फिर क्रमशः उसके पास दो, तीन तथा चार कलम हो जायँ तो दूसरे, तीसरे तथा चौथे कलम की उपयोगिता घटती जायगी। यदि पहली कलम की उपयोगिता चालीस रुपये हो तो शेष कलमों की उपयोगिता क्रमशः पैंतीस, अट्ठाइस तथा बीस रुपये होगी अर्थात् क्रमशः घटती जायगी। प्रश्न यह उठता है कि सीमान्त उपयोगिता क्यों घटती जाती है।

मनोवैज्ञानिक आधार (Psychological Basis of the law)

इसका कारण मनोवैज्ञानिक है। वास्तव में ह्रासमान सीमान्त उपयोगिता नियम मनोविज्ञान के वेबर-फैश्नर-नियम (Weber-Fechner Law) पर आधारित है। वेबर-फैश्नर-नियम के अनुसार बाह्य उत्तेजनाओं (external stimuli) के प्रति मनुष्य की प्रतिक्रियाओं की तीव्रता क्रमशः घटती जाती है। ऊपर दिये हुये उदाहरण में फाउन्टेनपेन बाह्य उत्तेजना है तथा उससे प्राप्त उपयोगिता या सन्तुष्टि प्रतिक्रिया है। हम देखते हैं कि फाउन्टेनपेन से (बाह्य उत्तेजना से) प्राप्त उपयोगिता (प्रतिक्रिया की तीव्रता) क्रमशः घटती जाती है।

उपयोगिता का यह नियम विभाज्य एवम् अविभाज्य (divisible and indivisible) दोनों प्रकार की वस्तुओं पर लागू होता है। अविभाज्य वस्तुओं के सम्बन्ध में इस नियम को दंड-चित्र (bar diagrams) द्वारा दिखाया जाता है क्योंकि इन वस्तुओं को विभाजित करने से उनकी उपयोगिता ही नष्ट हो जायगी। फाउन्टेनपेन एक ऐसी ही अविभाज्य वस्तु है। विभाज्य वस्तुओं के सम्बन्ध में यह नियम एक वक्र रेखा द्वारा दिखाया जाता है क्योंकि विभाज्य वस्तुओं की उपयोगिता उनके विभाजन से नष्ट नहीं होती। दोनों प्रकार की वस्तुओं के सम्बन्ध में इस नियम को रेखाचित्र द्वारा इस प्रकार दिखाया जा सकता है।

प्रथम चित्र में अविभाज्य वस्तु की घटती हुई उपयोगिता दिखाई गई है। दूसरे चित्र में विभाज्य वस्तु की घटती हुई उपयोगिता दिखाई गई है। दोनों ही चित्रों में ज्यों-ज्यों
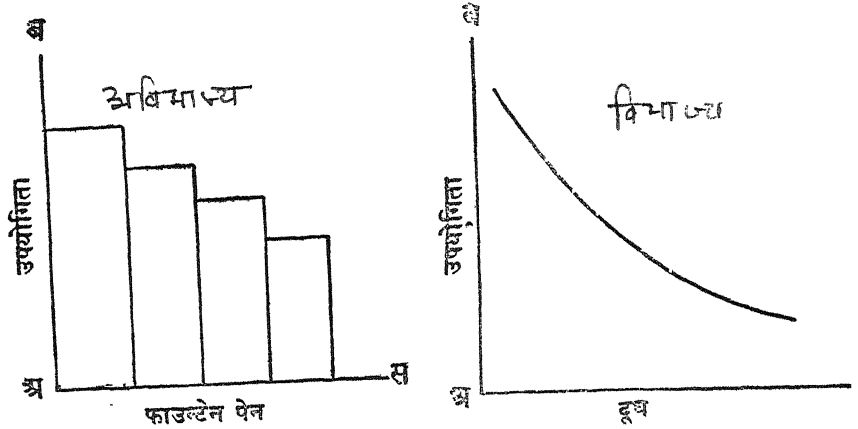
वस्तु की मात्रा बढ़ती जाती है उसकी उपयोगिता क्रमशः घटती जाती है। इसी कारण से पहले चित्र के आयत छोटे होते गये हैं तथा दूसरे चित्र की वक्र रेखा दाहिनी ओर गिरती जाती है।

नियम की सीमायें (Limitations of the Law)

नियम की परिभाषा देते समय हम कह चुके हैं कि नियम एक दिये हुए समय में ही लागू हो सकता है। यदि हम एक व्यक्ति की रोटियों से प्राप्त उपयोगिता पर इस प्रकार से विचार करें कि उसकी सुबह की एक रोटी की उपयोगिता की तुलना शाम की रोटी की उपयोगिता से करें तो यह नियम लागू नहीं होगा। यह नियम एक ही समय में की हुई उपभोग की क्रिया पर लागू होता है।

हम यह भी कह चुके हैं कि इस नियम के लागू होने के लिये दूसरी आवश्यक शर्त यह है कि अन्य सब बातें समान रहें। इसका अर्थ यह है कि मनुष्य का स्वभाव, उसकी आय तथा अन्य परिस्थितियों आदि में कोई परिवर्तन नहीं होना चाहिये। यदि इन बातों को ध्यान में रखा जाय तो इस नियम के प्रति कोई अपवाद नहीं है।

चैपमेन (Chapman) ने कहा है कि नियम के लागू होने के लिये वस्तु की उचित इकाइयों का प्रयोग करना चाहिये। उन्होंने कोयले का उदाहरण देते हुए कहा है कि यदि कोई व्यक्ति एक-एक औंस कोयला जलाने के लिये ले तो प्रति औंस कोयले की उपयोगिता बढ़ जायगी क्योंकि एक औंस बहुत थोड़ी मात्रा है। यह ठीक है, परन्तु आवश्यकता से अधिक छोटी इकाइयाँ लेने पर भी कुछ समय बाद उपयोगिता अवश्य घटने लगेगी।

द्रव्य के बारे में बहुधा कहा जाता है कि उससे प्राप्त उपयोगिता नहीं घटती। वास्तव में द्रव्य से प्राप्त उपयोगिता अपेक्षाकृत धीरे धीरे घटती है परन्तु उसके घटने पर सन्देह नहीं किया जा सकता। यह बात इसी से स्पष्ट है कि एक व्यक्ति जिसके पास केवल पचास रुपये हों, यदि बाद में उसके पास सौ रुपये हो जायँ, तो अन्य परिस्थितियों के समान रहने पर—अर्थात् उसका पारिवारिक खर्च न बढ़े, स्वभाव में परिवर्तन न हो, आदि—उसके लिये अब इक्यावनवें रुपये का उतना महत्व नहीं होगा जितना कि पहले पचासवें का था। दो व्यक्तियों को लीजिये जो स्वभाव आदि में समान हों। यदि एक व्यक्ति की आय एक रुपया प्रतिदिन हो तथा दूसरे की सोलह रुपये प्रतिदिन, तो सम्भवतया पहले व्यक्ति के लिये प्रत्येक आने का उतना ही महत्त्व होगा जितना कि दूसरे व्यक्ति के लिये प्रत्येक रुपये का। प्रतिदिन पारस्परिक वार्तालाप में आप ऐसे कथन अवश्य सुनते होंगे। यह द्रव्य की घटती हुई उपयोगिता के ही प्रमाण हैं।[1]

नियम का महत्व (Importance of the Law)

अर्थशास्त्र का यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण नियम है। कर-सिद्धान्त, माँग का नियम माँग की लोच, उपभोक्ता का अतिरेक आदि सिद्धान्त इस नियम पर ही आधारित है।

कर-नीति से सम्बन्ध (Its relation with Tax-Policy)

हम ऊपर कह चुके हैं कि द्रव्य की उपयोगिता उसकी मात्रा की वृद्धि के साथ घटती जाती है। इससे स्पष्ट है कि जिन व्यक्तियों की आय अधिक है उनके लिये द्रव्य की उपयोगिता अपेक्षाकृत कम होती है। अतः उन पर अपेक्षाकृत अधिक कर लगाये जा सकते हैं। इसी आधार पर प्रगामी कर नीति (a policy of progressive taxation) का निर्माण हुआ है जिसके अनुसार अधिक आयवाले व्यक्तियों पर अधिक कर लगाये जाते हैं। जैसे जैसे आय बढ़ती जाती है वैसे ही कर की दर भी बढ़ती जाती है।

---

[1] कुछ अर्थशास्त्री इस नियम के निम्न अपवाद बताते हैं—

(१) यदि एक व्यक्ति के पास ताँगा है तो घोड़ा मिल जाने पर ताँगे की उपयोगिता बढ़ जायगी।

(२) यदि एक शहर में दो व्यक्ति पुराने सिक्के एकत्रित कर रहे हों उनमें से एक का संग्रह खो जाय तो दूसरे व्यक्ति के संग्रह की उपयोगिता बढ़ जायगी।

(३) इसी प्रकार आय और फैशन के बदलने पर भी यह नियम लागू नहीं होता इत्यादि। यदि तनिक भी विचार किया जाय तो विदित होगा कि उपर्युक्त उदाहरण नियम के अपवाद नहीं हैं। नियम का मुख्य अनुमान (assumption) 'अन्य बातों का समान रहना' है। अन्य बातों के समान न रहने पर वह लागू नहीं हो सकता। उपर्युक्त उदाहरणों में परिस्थितियाँ समान नहीं हैं।

माँग के नियम से सम्बन्ध (Its relation with the Law of Demand)

वस्तु की मात्रा बढ़ने के साथ ही उसकी सीमान्त उपयोगिता घटती जाती है। एक व्यक्ति वस्तु के लिये सीमान्त उपयोगिता से अधिक मूल्य नहीं देना चाहता। यदि एक वस्तु का मूल्य पाँच रुपये हो और उस वस्तु की सातवीं इकाई की उपयोगिता भी पाँच रुपये हो तो वह व्यक्ति उस वस्तु की सात इकाइयाँ खरीदेगा। आठवीं, नवीं, दसवीं आदि इकाइयों की उपयोगिता क्रमशः घटती जायगी तथा मूल्य से कम होगी। वह सात से अधिक इकाइयाँ तभी खरीदेगा जब वस्तु का मूल्य भी घट जाय। अतः अधिकाधिक इकाइयाँ तभी खरीदी जा सकती हैं जब वस्तु का मूल्य भी घटता जाय। इसी आधार पर माँग का नियम है कि ज्यों-ज्यों मूल्य घटता जाता है, वस्तु की अधिकाधिक इकाइयाँ खरीदी जाती हैं अर्थात् माँग बढ़ती जाती है।

माँग की रेखा का दाहिनी ओर गिरना (Why does the demand curve fall to the right?)

उपभोग के इस नियम से यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि माँग की रेखा दाहिनी ओर क्यों गिरती है। वस्तु की माँग उसकी उपयोगिता के कारण होती है। अतः वस्तु के लिये उसकी उपयोगिता से अधिक मूल्य नहीं दिया जायगा। ज्यों ज्यों वस्तु की अधिकाधिक इकाइयाँ माँगी जायँगी, प्रति इकाई उपयोगिता कम होती जायगी और इसलिये उन्हें तभी खरीदा जायगा जब मूल्य भी कम हो जाय। वस्तु की माँग बढ़ने के साथ-साथ उसके लिये दिया हुआ मूल्य भी कम होता जायगा। एक अक्ष अ स पर दाहिनी ओर वस्तु की इकाइयाँ या माँग बढ़ती जाती है, दूसरी
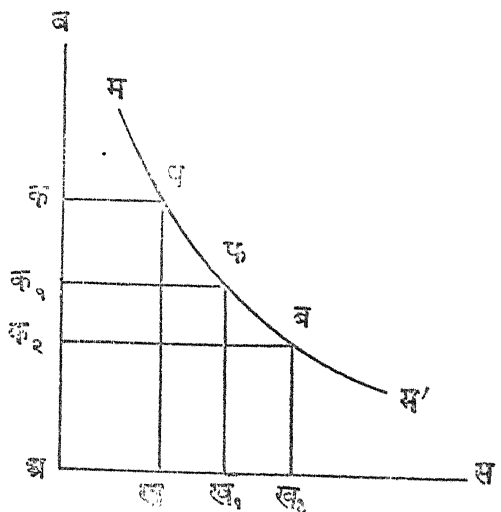
अक्ष अ ब पर वस्तु का मूल्य (नीचे की ओर) गिरता जाता है। माँग का बढ़ना और मूल्य का कम होना ह्रासमान सीमान्त उपयोगिता नियम के कारण ही है।

ऊपर के चित्र में मूल्य अ क से कम होकर जब अ क$_1$ और अ क$_2$ हो जाता है

तब माँग (दाहिनी ओर) बढ़कर अ $ख_1$ और अ $ख_2$ हो जाती हैं। प फ, ब बिन्दुओं को मिलाती हुई माँग की रेखा म म' दाहिनी ओर गिर रही है।

माँग की लोच से सम्बन्ध (Its relation with elasticity of demand)

मूल्य-परिवर्तन के फलस्वरूप माँग की परिवर्तन-क्षमता को माँग की लोच कहते हैं। संक्षेप में माँग की लोच की माप निम्न उदाहरण से स्पष्ट हो जायेगी। यदि किसी वस्तु का मूल्य २०% प्रतिशत कम हो जाय और इसके फलस्वरूप माँग १८ या २० या २५ प्रतिशत बढ़ जाये तो यहाँ माँग की लोच क्रमशः इकाई (unity) से कम, बराबर तथा अधिक है क्योंकि मूल्य परिवर्तन की अपेक्षा माँग का परिवर्तन क्रमशः कम, बराबर तथा अधिक है। इससे यह स्पष्ट है कि माँग की लोच का अधिक या कम होना मूल्य-परिवर्तन के कारण हुये माँग के परिवर्तन पर निर्भर है। माँग का परिवर्तन वस्तु की उपयोगिता के घटने के क्रम पर निर्भर है। सामान्यतः वस्तु की उतनी इकाइयाँ खरीदी जाती हैं ताकि वस्तु की सीमान्त उपयोगिता और मूल्य बराबर हो जाय। यदि मूल्य कम हो जाता है तो वस्तु की भी माँग बढ जायगी; परन्तु कितनी बढ़ जायगी यह वस्तु की उपयोगिता के बढ़ने के क्रम पर निर्भर होगा। यदि उपयोगिता धीरे-धीरे घटती है तो मूल्य के गिरने पर उसके बराबर सीमान्त उपयोगिता पाने के लिये हमें अपेक्षाकृत अधिक इकाइयाँ खरीदनी होगी और माँग की लोच अधिक होगी। यदि उपयोगिता तेजी से घटती है तो मूल्य के कम होने पर माँग की वृद्धि बहुत कम होगी क्योंकि कुछ और इकाइयाँ खरीदने के बाद मूल्य और सीमान्त उपयोगिता बराबर हो जायगी और इस प्रकार माँग की लोच कम होगी। नीचे के उदाहरण से यह बात और भी स्पष्ट हो जायगी।

मान लीजिये पाँच रुपये प्रति इकाई के मूल्य पर किसी वस्तु की बीस इकाइयाँ खरीदो जाती हैं। यदि वस्तु का मूल्य घटकर चार रुपये हो जाए तो हमें वस्तु की इतनी इकाइयाँ और खरीदनी होंगी ताकि वस्तु की सीमान्त उपयोगिता मूल्य के बराबर (चार रुपये) हो जाये। वस्तु की कितनी इकाइयाँ खरीदी जायेंगी, यह उनकी घटती हुई उपयोगिता (The law of diminishing utility) पर निर्भर है। यह उपयोगिता निम्न प्रकार से घट सकती है।

	I			II		
	रु.	आ.	पा.	रु.	आ.	पा.
२० वीं इकाई की उपयोगिता	५	०	०	५	०	०
२१ ,, ,, ,, ,,	४	१३	०	४	०	०
२२ ,, ,, ,, ,,	४	११	०	३	०	०
२३ ,, ,, ,, ,,	४	९	०	२	०	०
२४ ,, ,, ,, ,,	४	५	०	१	०	०
२५ ,, ,, ,, ,,	४	०	०	०	०	३

२० वीं इकाई की उपयोगिता पाँच रुपये के बराबर है इसलिए जब वस्तु का मूल्य पाँच रुपये था तो वस्तु की बीस इकाइयाँ खरीदी जाती थीं। जब वस्तु का मूल्य घटकर चार रुपया हो गया है तो वस्तु की इतनी इकाइयाँ और खरीदी जायेंगी ताकि उनकी सीमान्त उपयोगिता भी चार रुपये हो जाय। उपयोगिता की पहली सारिणी के अनुसार वस्तु की २५ इकाइयाँ खरीदी जायेंगी क्योंकि २५ वीं इकाई की उपयोगिता (सीमान्त उपयोगिता) मूल्य के बराबर है। दूसरी सारिणी के अनुसार वस्तु की २० वीं इकाइयाँ खरीदी जायेंगी क्योंकि २१ वीं इकाई की उपयोगिता (सीमान्त उपयोगिता) मूल्य के बराबर है। अतः पहली दशा में उपयोगिता के धीरे-धीरे घटने के कारण माँग में अपेक्षाकृत अधिक वृद्धि होती है और इसलिये माँग की लोच अधिक है। दूसरी सारिणी में उपयोगिता के तेजी से घटने के कारण माँग की वृद्धि कम है और इसलिए माँग की लोच भी कम है।

पाँच रुपये प्रति इकाई से घटकर जब मूल्य चार रुपया प्रति इकाई हो जाता है तो यह मूल्य में २० प्रतिशत कमी के बराबर है। माँग की वृद्धि पहली दशा में २५ प्रतिशत तथा दूसरी दशा में पाँच प्रतिशत है। अतः मूल्य के प्रतिशत परिवर्तन से पहली दशा में माँग का परिवर्तन अधिक तथा दूसरी दशा में कम है। इसलिये पहली दशा में माँग की लोच अधिक तथा दूसरी दशा में कम है। इससे स्पष्ट है कि माँग की लोच अधिक ह्रासमान उपयोगिता (the law of diminishing utility) से घनिष्ट रूप से सम्बन्धित है।[1]

उपभोक्ता का अतिरेक (Its relation with the Consumer's Surplus)

ह्रासमान उपयोगिता नियम उपभोक्ता के अतिरेक का भी आधार है। यदि किसी वस्तु का मूल्य ५ आने प्रति इकाई है और उस वस्तु की पाँचवीं इकाई से किसी व्यक्ति की उपयोगिता भी पाँच आने है तो स्पष्ट है कि वह व्यक्ति उस वस्तु की पाँच इकाइयाँ खरीदेगा। प्रत्येक इकाई के लिये वह केवल ५ आने ही देगा जब कि पाँचवीं से

---

[1] **माँग की लोच का विस्तृत अध्ययन आगे किया गया है। उसे पढ़ने के बाद उपर्युक्त सम्बन्ध और भी स्पष्ट हो जायेगा।**

मूल्य	पहिली सारिणी के अनुसार	दूसरी सारिणी के अनुसार माँग
५)	२०	२०
४)	२५	२१
मूल्य में प्रतिशत कमी	**माँग में प्रतिशत परिवर्तन**	**माँग में प्रतिशत परिवर्तन**

$$= \frac{१ \times १००}{५} = २० \% = \frac{५ \times १००}{२०} = २५ \% = \frac{१ \times १००}{२०} = ५\%$$

पहले वाली सभी इकाइयों की उपयोगिता ५ आने से अधिक होगी। इस प्रकार पहली चार इकाइयों पर उसे अतिरेक प्राप्त होगा।

वस्तु की इकाइयाँ	प्राप्त उपयोगिता	दिया हुआ मूल्य	अतिरेक
	आने	आने	आने
१	१२	५	७
२	११	५	६
३	९	५	४
४	७	५	२
५	५	५	०
			१९ आने

अतः स्पष्ट है कि उपभोक्ता के अतिरेक का आधार भी यही नियम है।

उपर्युक्त नियमों का आधार होने के अतिरिक्त ह्रासमान सीमान्त उपयोगिता का नियम राष्ट्रीय आय के पुनर्वितरण के तर्क का भी आधार है। धनी व्यक्तियों की द्रव्य की उपयोगिता गरीब व्यक्तियों के द्रव्य की उपयोगिता की तुलना में कहीं कम होती है। राष्ट्रीय आय के पुनर्वितरण से धनिक वर्ग की आय कम हो जायगी, और निम्नवर्ग की आय बढ़ जायगी। निम्नवर्ग की बढ़ी हुई आय की उपयोगिता धनिक वर्ग की घटी हुई आय को उपयोगिता से कहीं अधिक होगी और इसलिये समाज का आर्थिक क्षेम बढ़ जायगा।

ह्रासमान सीमान्त उपयोगिता के कारण उपभोक्ता के सामने एक समस्या खड़ी हो जाती है। वह अधिकतम सन्तुष्टि चाहता है परन्तु प्रत्येक वस्तु से उसकी उपयोगिता क्रमशः घटती जाती है। ऐसी स्थिति में उसे सोचना पड़ता है कि वह अपने धन को किस प्रकार व्यय करे कि उसकी उपयोगिता वा सन्तुष्टि अधिकतम हो ? इस प्रश्न का उत्तर सम-सीमान्त उपयोगिता नियम देता है।

सम-सीमान्त उपयोगिता नियम (The Law of Equi-Marginal Utility)

कथन (The Statement)

इस नियम के अनुसार अधिकतम सन्तुष्टि उस समय होगी जब हर दिशा में व्यय की सीमान्त इकाई से प्राप्त उपयोगिता समान हो।*

अनुमान (Assumptions)

इस नियम का आधार यह तथ्य है कि प्रत्येक मनुष्य अधिकतम सन्तुष्टि चाहता

*"Utility will be maximised when the marginal unit of expenditure in each direction brings in the same increment of utility." J. R. Hicks 'Value & Capital'.

है । पहले अध्याय में हम इस बात की चर्चा कर चुके हैं । इसके अतिरिक्त इस नियम के अनुमान निम्नलिखित हैं ।

१. वस्तुयें छोटी छोटी इकाइयों में मिलती हैं अर्थात् विभाज्य हैं । ऐसा होने पर ही हम विभाज्य वस्तुओं को व्यय की मानी हुई इकाई से खरीद सकते हैं ।

२. प्राप्त उपयोगिता मापी जा सकती है अर्थात् हम कह सकते हैं कि (व्यय की सीमान्त इकाई (या किसी भी इकाई) से उपलब्ध वस्तुओं की उपयोगिता की मात्रा इतनी है जैसे १० इकाई, है ।

३. द्रव्य की उपयोगिता समान (constant) है ।

४. दिये हुये समय में वस्तुओं के मूल्य, उपभोक्ता की स्थिति अर्थात् आय, स्वभाव आदि में कोई परिवर्तन नहीं होता । दूसरे शब्दों में अन्य बातें समान रहती हैं ।

स्पष्टीकरण (The Law Explained)

यह नियम एक उदाहरण से भलीभाँति स्पष्ट किया जा सकता है । मान लीजिये एक व्यक्ति के पास दस रुपये हैं और उसके व्यय की इकाई एक रुपया है जिसकी उपयोगिता पाँच इकाइयाँ हैं । इस उपयोगिता में कोई परिवर्तन नहीं होगा क्योंकि द्रव्य की उपयोगिता समान रहती हैं । यदि वह इन रुपयों को दूध, सेव तथा कागज पर खर्च करे तो उसके लिये व्यय की इकाई के बदले में प्राप्त इन वस्तुओं की उपयोगिता निम्न है ।

	दूध	सेव	कागज
एक रुपया	१५	११	९
दो ,,	१०	८	६
तीन ,,	७	५	५
चार ,,	५	४	३
पाँच ,,	३	२	१
छः ,,	१		

वह उपयोगिता के क्रम से पहला रुपया दूध पर, दूसरा सेव पर, तीसरा दूध पर, चौथा कागज पर, पाँचवाँ सेव पर, छठा दूध पर, सातवाँ कागज पर तथा आठवाँ, नवाँ और दसवाँ दूध, सेव और कागज पर खर्च करेगा । ऐसा करने से हर दिशा में व्यय की सीमान्त इकाई से प्राप्त उपयोगिता समान होगी । दूध, पर व्यय किये हुए चौथे रुपये सेव पर व्यय किये हुए तीसरे रुपये तथा कागज पर व्यय किये हुए तीसरे रुपये (यही सीमान्त इकाइयाँ हैं) की उपयोगिता समान अर्थात् पाँच इकाई है ।

सम-सीमान्त उपयोगिता नियम के अनुसार इस प्रकार व्यय करने से ही सन्तुष्टि अधिकतम हो सकती है । यह बात ऊपर के उदाहरण से एकदम स्पष्ट

हो जाती है। यदि उपभोक्ता किसी भी वस्तु पर एक इकाइयों से अधिक व्यय करता है तो उसकी सन्तुष्टि कम हो जायगी। यदि वह किसी भी वस्तु पर एक इकाई अधिक व्यय करता है तो इसके लिये उसे अन्य वस्तु पर खर्च की हुई सीमान्त इकाई का प्रयोग करना होगा। अन्य वस्तु पर व्यय की हुई सीमान्त इकाई की उपयोगिता पाँच इकाई है परन्तु अन्यत्र अधिक व्यय की हुई इस इकाई की उपयोगिता पाँच से कम होगी। इस प्रकार उसकी सन्तुष्टि कम हो जायगी। यदि वह दूध पर एक रुपया और खर्च करता है तो इस अधिक व्यय से उसे तीन इकाई उपयोगिता प्राप्त होती है। इस व्यय के लिये उसे सेब या कागज के खर्च में से एक रुपया कम करना होगा (क्योंकि उसके पास केवल दस रुपये ही हैं)। इससे उसे पाँच इकाई उपयोगिता जो सेब या कागज के व्यय की सीमान्त इकाई से प्राप्त हो रही है, की हानि होगी। अतः दूध पर एक इकाई और व्यय करने से उसे उपयोगिता की पाँच इकाइयाँ छोड़नी पड़ती हैं और तीन इकाइयों की प्राप्ति होती है। उसकी कुल सन्तुष्टि पहले से दो इकाई कम हो जाती है।

इससे स्पष्ट है कि सन्तुष्टि अधिकतम तभी हो सकती है जब व्यय की सीमान्त इकाई से प्राप्त उपयोगिता हर दिशा में बराबर हो। जब ऐसा हो जाता है उस समय उपभोक्ता सन्तुलन (equilibrium) की स्थिति में होता है। वह किसी
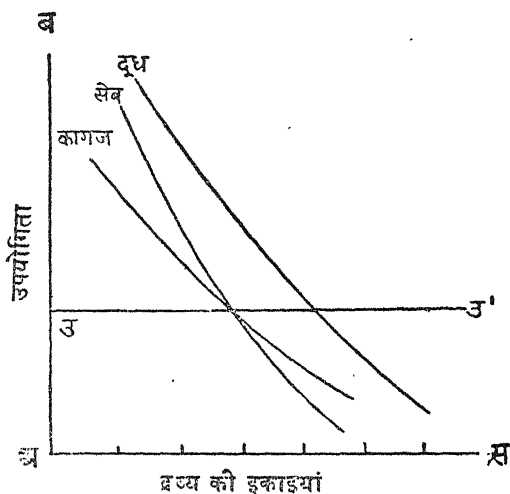
भी दिशा में व्यय का परिवर्तन नहीं करेगा। उपर्युक्त नियम का हम चित्र द्वारा निरूपण कर सकते हैं।

उपर्युक्त चित्र में तीन वक्र रेखायें दूध, सेब और कागज की उपयोगितायें दिखा रही हैं। जब इनकी उपयोगिता द्रव्य की उपयोगिता के बराबर हो जाती है तो इन

वस्तुओं पर व्यय बन्द कर दिया जाता है, और उपभोक्ता की सन्तुष्टि अधिकतम होती है। द्रव्य की उपयोगिता समान है। चित्र में उ उ′ द्रव्य की उपयोगिता दिखा रही है।

हम ऊपर यह मान कर चले हैं कि वस्तुओं को व्यय की एक सामान्य इकाई से ही खरीदा जाता है। ऐसा तभी हो सकता है जब वस्तुओं का मूल्य एक ही हो। वस्तुओं के विभाज्य होने के कारण ऐसी सम्भावना हो सकती है क्योंकि विभिन्न वस्तुओं को ऐसी इकाइयों में विभाजित किया जा सकता है कि उनका मूल्य समान हो जाय; परन्तु यह व्यवहारिक नहीं होगा। बास्तविक जीवन में विभिन्न वस्तुओं का मूल्य अलग-अलग होता है; इसलिये नियम का उपर्युक्त कथन युक्तियुक्त नहीं है। इस कमी को दूर करने के लिए कुछ अर्थशास्त्री नियम को इस प्रकार कहते हैं:—

अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त करने के लिए उपभोक्ता वस्तुओं का पारस्परिक प्रति-स्थापन उस समय तक करेगा जब तक कि एक वस्तु की उपयोगिता और मूल्य का अनुपात अन्य वस्तुओं की उपयोगिता और मूल्यों के अनुपात के बराबर हो जाय।

उदाहरण के लिए तीन वस्तुयें अ, ब, स लीजिये जिनका मूल्य क्रमशः एक रुपया, आठ आना और छः आना प्रति इकाई है। दी हुई आय से वह व्यक्ति प्रत्येक वस्तु की इतनी इकाइयाँ खरीदेगा ताकि उनका मूल्य और सीमान्त उपयोगिता बराबर हो जाय। मान लीजिये इन वस्तुओं की उपयोगिता इस प्रकार है।

अ की उपयोगिता	ब की उपयोगिता	स की उपयोगिता
५ रु०	१० आ०	११ आना
३ ,,	८ ,,	८ ,,
१ ,,		६ ,,
	५ ,,	
१ आना	२ ,,	३ ,,

यदि उस व्यक्ति के पास पाँच रुपये दो आने हैं तो वह अ की तीन इकाइयाँ खरी-देगा क्योंकि तीसरी इकाई की उपयोगिता उसके मूल्य के बराबर अर्थात् १ रुपया है। इसी प्रकार वह ब और स की क्रमशः दो और तीन इकाइयाँ खरीदेगा। ऐसा करने पर

अ की सीमान्त उपयोगिता =अ का मूल्य   ब की सीमान्त उपयोगिता =ब का मूल्य   स की सीमान्त उपयोगिता =स का मूल्य

$$\text{या } \frac{\text{अ की सीमान्त उपयोगिता}}{\text{अ का मूल्य}} = \frac{\text{ब की सीमान्त उपयोगिता}}{\text{ब का मूल्य}} = \frac{\text{स की सीमान्त उपयोगिता}}{\text{स का मूल्य}}$$

अर्थात् प्रत्येक वस्तु की सीमान्त उपयोगिता और उसके मूल्य का अनुपात अन्य वस्तुओं की सीमांत उपयोगिता और मूल्यों के अनुपात के बराबर है।

यदि वह व्यक्ति अ की चार इकाइयाँ खरीदता है तो उसे ब या स की इकाइयाँ कम करनी होंगी ताकि वह अ की चौथी इकाई खरीद सके (क्योंकि उसके पास एक निश्चित रकम है)। अ की चौथी इकाई से प्राप्त उपयोगिता केवल एक आना है जबकि ब और स की प्रत्येक इकाई की उपयोगिता एक आने से अधिक है। ब और स पर खर्च कम करने से उसे उपयोगिता की कई इकाइयाँ छोड़नी पड़ती है और अ पर खर्च करने से उपयोगिता की केवल एक इकाई मिलती है। इस प्रकार उसकी उपयोगिता कम हो जाती है। अतः वह अ की चौथी इकाई के स्थान पर ब और स की इकाइयों का इस प्रकार प्रतिस्थापन करेगा ताकि सीमान्त उपयोगिता और मूल्यों का अनुपात फिर बराबर हो जाय। वस्तुओं के पारस्परिक प्रतिस्थापन के कारण इस नियम को **उपभोग का प्रतिस्थापन नियम** (The Law of Substitution in Consumption) भी कहते हैं। यह समसीमान्त उपयोगिता नियम को अपेक्षाकृत अधिक सही ढंग से हमारे सामने रखता है। क्योंकि यहाँ वस्तुओं का एक ही मूल्य मानने की आवश्यकता नहीं पड़ती।

उपर्युक्त अनुपातों को एक दूसरे प्रकार से भी व्यक्त किया जा सकता है। उदाहरण के लिये अ और ब वस्तु से सम्बन्धित अनुपातों को लीजिये।

$$\frac{\text{अ की सीमान्त उपयोगिता}}{\text{अ का मूल्य}} = \frac{\text{ब की सीमान्त उपयोगिता}}{\text{ब का मूल्य}}$$

अ के मूल्य से दोनों ओर गुणा करने पर तथा ब की सी० उ० से दोनों ओर भाग देने पर।

या $$\frac{\text{अ की सी. उ.}}{\text{ब का सी. उ,}} = \frac{\text{अ का मूल्य}}{\text{ब का मूल्य}}$$

अर्थात् वस्तुओं की उपयोगिता का अनुपात उनके मूल्यों के अनुपात के बराबर है। इस कारण इस नियम को The Law of Proportional Marginal Utility भी कह देते हैं। यह ध्यान रहे कि नियम को भिन्न-भिन्न तरह से प्रस्तुत करने के कारण जो विभिन्न नाम दिये गये हैं उससे नियम के तथ्य (Contents) पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

आलोचना (Criticism)

इस नियम की आलोचना का मुख्य आधार उसके अनुमान हैं।

१. आलोचकों का कथन है कि सभी वस्तुएँ छोटी-छोटी इकाइयों में नहीं मिलती या विभाज्य नहीं होतीं। अतः यह नियम एक काल्पनिक अनुमान पर आधारित होने के कारण अव्यवहारिक है। इस सम्बन्ध में प्रो० हिक्स (Prof. Hicks) का कहना है कि यह अनुमान उपभोक्ताओं के एक समूह को ध्यान में रखने पर अनुचित नहीं प्रतीत होता। वे लिखते हैं:—

"This convenient assumption of continuity does, of course, always falsify the situation a little (or sometimes more than a little) as far as the individual consumer is concerned. But if our study of the individual cunsumer is only a step towards the study of a group of consumers in the market, these falsifications can be trusted to disappear when the individual demands are aggregated."[१]

२. यह नियम द्रव्य की उपयोगिता समान मानता है परन्तु वास्तविक जीवन में द्रव्य की उपयोगिता समान नहीं रहती। ज्यों-ज्यों हम द्रव्य खर्च करते जाते हैं उसकी शेष इकाइयों का महत्त्व हमारे लिये बढ़ता जाता है।

३. इस नियम में उपयोगिता को मापनीय माना गया है। आधुनिक अर्थशास्त्रियों में कुछ विद्वानों का मत है कि उपयोगिता मापी नहीं जा सकती। उनके विचार से नियम को इस रूप में प्रस्तुत करना दोषपूर्ण है। वे नियम को इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं ताकि उपयोगिता को मापनीय मानने की आवश्यकता ही न पड़े।

४. बहुधा कहा जाता है कि रीति-रिवाज और फैशन के कारण एक व्यक्ति ऐसी चीजों पर व्यय करता है जिससे उपयोगिता अधिकतम नहीं हो सकती। यह एक भूल है। दूसरों के दृष्टिकोण से भले ही ऐसा प्रतीत हो कि उसकी सन्तुष्टि अधिकतम नहीं हो रही है परन्तु उस व्यक्ति के दृष्टिकोण से सन्तुष्टि अवश्य ही अधिकतम हो रही है अन्यथा वह उन चीजों पर व्यय नहीं करता। एक व्यक्ति अपने हितों को अच्छी तरह जानता है और अपने मानसिक विकास की स्थिति के अनुसार वह सदैव ही अपनी सन्तुष्टि अधिकतम करना चाहता है।

५. समसीमान्त उपयोगिता नियम या उपभोग के प्रतिस्थापन नियम के अनुसार सन्तुष्टि के अधिकतम होने के लिये यह आवश्यक है कि

$$\frac{\text{अ की सीमान्त उपयोगिता}}{\text{अ का मूल्य}} = \frac{\text{ब की सीमान्त उपयोगिता}}{\text{ब का मूल्य}} \text{ इत्यादि}$$

यह तभी हो सकता है जबकि व्यक्ति वस्तुओं की सीमान्त उपयोगिता और मूल्य को बराबर करे; परन्तु वह ऐसा नहीं भी कर सकता है और उस दशा में यह नियम लागू नहीं होगा।

वह आलोचना भ्रामक है। अर्थशास्त्र मनुष्य के कार्यों का निहित उद्देश्य संतुष्टि को अधिकतम करना मानता है। सन्तुष्टि अधिकतम होने के लिये उपर्युक्त अनुपात बराबर होने ही चाहिये। यदि कोई मनुष्य ऐसा नहीं करता तो इसका अर्थ यह है कि वह अपनी सन्तुष्टि अधिकतम नहीं करना चाहता तथा उसका कार्य अर्थशास्त्र की मान्यताओं के प्रतिकूल है।

[१]Value & Captal—J. R. Hicks p. 11

उपयोगिता नियम तथा सम-सीमान्त उत्पादकता नियम एक ही हैं। दोनों के क्षेत्र भिन्न-भिन्न हैं यद्यपि आधारभूत तथ्य—आनुपातिक समानता—एक ही है।

सार्वजनिक व्यय (Public Expenditure) करते समय राज्य सरकार भी इसी नियम का पालन करती हैं। खर्च के विभिन्न मदों पर राज्य सरकार इस प्रकार व्यय करने का प्रयत्न करती है कि प्रत्येक मद पर खर्च की हुई सीमान्त इकाई की उपयोगिता बराबर हो। तभी सामाजिक क्षेम (Social Welfare) अधिकतम हो सकता है। यद्यपि व्यवहार में इसका सही सही अनुसरण बहुत कठिन है परन्तु फिर भी सामाजिक क्षेम को अधिकतम करने के लिये सरकार इस नियम के यथासम्भव निर्वाह का प्रयत्न करती है।

EXERCISES

I. State critically the law of Diminishing Marginal Utility. State why most demand curves slope downwards?

Agra U. 1949

2. State and explain fully, with the help of a diagram or a table of figures the Law of Equi-Marginal Utility.

Agra U. 1952

3. State the Law of Equi-Marginal Utility and explain its applicability in the fields of Production and Consumption.

Agra U. B. Com, 1950

4. Explain and illustrate the application of the Law of Equi-Marginal Utility in the disposal of one's income.

Agra U. B. Com. 1950

5. Write a short note on—Law of Equi-Marginal Utility.

Rajputana U. 1951

6. Explain the Law of Satiable Wants. A house wife has an income of Rs. 15. The utilities measured in annas of the successive units of articles to her is as follows—

of bread	28, 26, 20, 16	annas
,, meat	24, 20, 16, 10	,,
,, tea	22, 18, 16, 12	,,
,, sugar	20, 17, 16, 6	,,

If each unit cost Rs. 1, how many rupees would she spend on the various items? Would she save any rupees?

Rajputana U. 1951

(वह रोटी की चार इकाइयाँ गोश्त की तीन इकाइयाँ, चाय की तीन इकाइयाँ तथा शकर की तीन इकाइयाँ खरीदेगी क्योंकि तभी प्रत्येक दिशा में व्यय की

सीमान्त इकाई की उपयोगिता बराबर होगी जो यहाँ १६ आ० है। इस प्रकार वह तेरह रु० खर्च कर देगी और उसके पास दो रु० बचेंगे।)

ALLAHABAD UNIVERSITY

1. Suppose you possess one hundred rupees and you wish to get the maximum satisfaction from this sum of money. Show clearly on what principle you would spend it on different commodities-
Allad. U. B. Com. I 1949.

2. Discuss critically the principle of diminishing marginal utility. Are there any exceptions to this principle ?
Allad. U. B. Com. I 1953

3. State and explain the Law of Equi-marginal Utility. How far does this law govern the expenditure of income ?
Allad. U. B. A. 1950.

4. Prove that a consumer so adjusts his expenditure as to make the marginal utilities of commodities proportional to their prices.
Allad U. 1952.

5. Examine critically the law of diminishing marginal utility. Per those any apparent or real exception to this law.
Allad. U. B. A. Part I 1957.

6. Discuss critically the principle of equi-marginal utility.
Allad. U. B. A. Part I 1957.

अध्याय ६

माँग

(DEMAND)

दिये हुए मूल्य पर एक वस्तु की जितनी मात्रा माँगी जाती है उसे उस वस्तु की माँग कहते हैं। माँग सदैव मूल्य से सम्बन्धित होती है। हम एक व्यक्ति तथा एक व्यक्ति समूह दोनों की माँगों का अध्ययन करते हैं। साधारणतया व्यक्ति-समूह की माँग ही हमारे अध्ययन का विषय होती है क्योंकि उत्पादनकर्ता जब अपनी वस्तु की माँग का अन्दाज लगाता है तो वह किसी व्यक्ति विशेष की नहीं वरन् व्यक्ति-समूह की माँग ही का अनुमान लगाता है। विभिन्न मूल्यों पर वस्तु की विभिन्न मात्रायें माँगी जाती हैं। दिए हुए मूल्यों में से जिस मूल्य पर क्रय-विक्रय होता है तथा उस मूल्य पर जितनी मात्रा माँगी जाती है उसे प्रभावपूर्ण माँग (effective demand) कहते हैं।

माँग की सारिणी तथा माँग-वक्र (Demand schedules & demand curves)
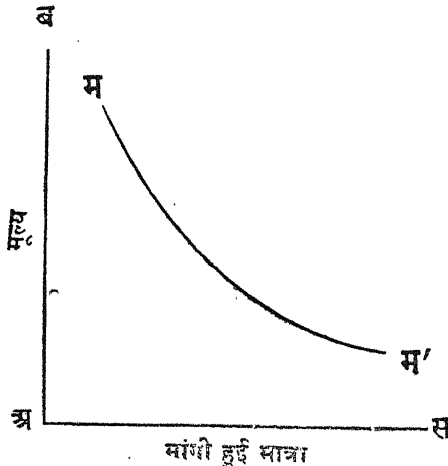
विभिन्न मूल्यों पर माँगी हुई विभिन्न मात्राओं की सूची माँग की सारिणी कहलाती है। इनका रेखाचित्र माँग-वक्र कहलाता है। उदाहरण के लिए,

मूल्य	माँग
१०)	१५
८)	२५
५)	४०
२)	६५

उपर्युक्त माँग की सारिणी को म म' द्वारा भी दिखाया जा सकता है जो कि माँग-वक्र है।

अ ब अक्ष पर मूल्य तथा अ स अक्ष पर माँगी हुई मात्रा दिखाई गई है जिन्हें चित्रित

करने पर म म' माँग-वक्र प्राप्त होता है । माँग का वक्र साधारणतया दाहिनी ओर गिरता है ।[1]

माँग का नियम (The Law of Demand)

इस नियम के अनुसार, यदि अन्य बातें समान रहें, तो मूल्य गिरने पर वस्तु की माँग बढ़ जाती है तथा मूल्य बढ़ने पर वस्तु की माँग घट जाती है ।

यह स्पष्ट है कि माँग का परिवर्तन मूल्य-परिवर्तन के विपरीत होता है । जब मूल्य घटता है तो माँग बढ़ती है तथा जब मूल्य बढ़ता है तो माँग घटती है । इसके अतिरिक्त यह आवश्यक नहीं है कि मूल्य और माँग का परिवर्तन एक ही अनुपात में हो । यदि मूल्य में ५%, कमी हो जाय तो माँग की वृद्धि ५%, उससे अधिक या कम भी हो सकती है ।

इस नियम को हम चित्र द्वारा भी दिखा सकते हैं ।
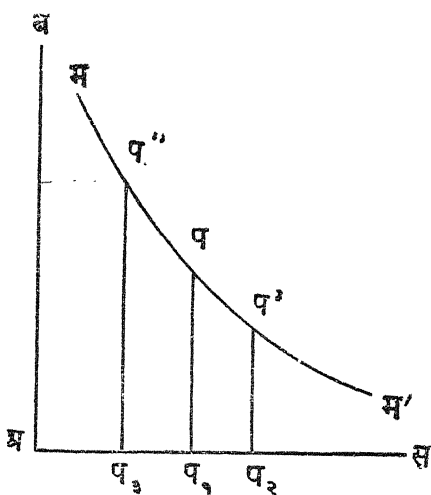
दिए हुए चित्र में मम' माँग-वक्र है । प प१ मूल्य पर अ प१ माँग है तथा जब मूल्य गिरकर प'प२ हो जाता है तो माँग बढ़कर अ प२ हो जाती है । जब मूल्य बढ़कर प"प३ हो जाता है तो माँग घटकर अप३ रह जाती है ।

सामान्यतः यह नियम सदैव लागू होता है । इस नियम के मुख्य अनुमान (assumptions) निम्नलिखित हैं ।

(१) उपभोक्ताओं की आयों
(२) स्वभावों तथा
(३) वस्तुओं के मूल्यों

में कोई परिवर्तन नहीं होना चाहिए । इसके अतिरिक्त इस बीच में वस्तु की नयी प्रति स्थापन वस्तुयें आदि भी नहीं होनी चाहिए । उपर्युक्त दशाओं में माँग का नियम सामान्यतः अवश्य लागू होगा और माँग की रेखा दाहिनी ओर गिरती हुई होगी । अर्थात् मूल्य कम होने पर माँग बढ़ जायगी तथा मूल्य बढ़ने पर

---

[1] माँग के वक्र के दाहिनी ओर गिरते हुये आकार का कारण ह्रासमान सीमान्त उपयोगिता नियम है । इसे हम ह्रासमान सीमान्त उपयोगिता नियम समझाते समय स्पष्ट कर चुके हैं । उसे फिर से पढ़िये ।

माँग घट जायगी कभी कुछ कारणों से यह नियम नहीं भी लागू होता है तथा माँग की रेखा बजाय दाहिनी ओर गिरने के ऊपर उठती हुई होती है ।

माँग वक्र के ऊपर उठने के कारण या अपवादी माँग वक्र (Conditions under which the law of demand ceases to operate, or reasons for a rising demand curve i.e. an exceptional demand curve)

माँग-वक्रों के ऊपर उठने का अर्थ है कि बढ़े हुए मूल्यों पर वस्तु की अधिक मात्रा खरीदी जायगी । यह माँग के नियम के प्रतिकूल है । ऐसा होने के निम्न कारण हो सकते हैं :—

(i) कभी-कभी वस्तुओं के मूल्य और अधिक बढ़ जाने के भय से लोग बढ़े हुए मूल्यों पर भी वस्तु की अधिक मात्रा खरीदने लगते हैं ।

(ii) कुछ धनी उपभोक्ता प्रतिष्ठा के विचार से प्रेरित होकर बढ़े हुए मूल्यों पर वस्तु की और अधिक मात्रा खरीदने लगते हैं ।

(iii) कभी-कभी उपभोक्ताओं की अज्ञानता के कारण मूल्य बढ़ा देने पर वस्तु की अधिक मात्रा बिकती है । उदाहरण के लिए सन् १४ के बाद जब चित्रों की एक पुस्तक का मूल्य १० शि० ३ पे० से बढ़ा कर ३ पौ० ३ शि० कर दिया गया तो उसकी बिक्री बहुत हुई । सम्भवतया उपभोक्ता इस भावना से प्रेरित हो गये थे कि ऐसी कीमती पुस्तक अवश्य ही खरीदने योग्य है ।

(iv) माँग-वक्रों के ऊपर उठने का सबसे महत्त्वपूर्ण उदाहरण हीन-पदार्थों (inferior goods) का है । (मक्खन की एक निम्न कोटि) मारजेरीन (margarine) का प्रयोग इंगलैण्ड में निम्न श्रेणी के व्यक्ति अधिक करते हैं । वे थोड़ा सा अच्छा मक्खन और अधिकांश मारजेरीन से अपना काम चला लेते हैं । यदि मारजेरीन की कीमत और बढ़ जाय तो मक्खन का उपयोग कम कर के मारजेरीन के उपभोग की मात्रा बढ़ा देंगे क्योंकि तभी उनके पारिवारिक बजट का सन्तुलन हो सकता है । ऐसा उदाहरण सर आर० जिफ़ेन (Sir R. Giffen) ने प्रस्तुत किए हैं ।

माँग का नि[illegible] तथा ह्रासमान सीमान्त उपयोगिता नियम (The Law of Demand & the Law of Diminishing Utility)

वास्तव में माँग का नियम ह्रासमान सीमान्त उपयोगिता के नियम पर आधारित है । ह्रासमान सीमान्त उपयोगिता नियम के सन्दर्भ में हम इस तथ्य को भली प्रकार स्पष्ट कर चुके हैं ।

माँग के परिवर्तन (Changes in Demand)

माँग की वृद्धि और कमी दो प्रकार से हो सकती है ।

(i) मूल्य के घटने और बढ़ने से। जब माँग मूल्य के घटने से बढ़ जाती है तो इसे माँग का बिस्तार (extension of demand) कहते हैं। जब माँग मूल्य के बढ़ने से घट जाती है तो इसे माँग का संकुचन (contraction of demand) कहते हैं।

(ii) जब एक ही मूल्य पर माँग पहले की अपेक्षा अधिक होती है तो इसे माँग की वृद्धि (an increase in demand) या माँग का प्रकर्षण (intensification of demand) कहते हैं। जब एक ही मूल्य पर माँग पहले की अपेक्षा कम हो जाती है तो इसे माँग की कमी या माँग का विकर्षण (decrease in demand or weakening of demand) कहते हैं।
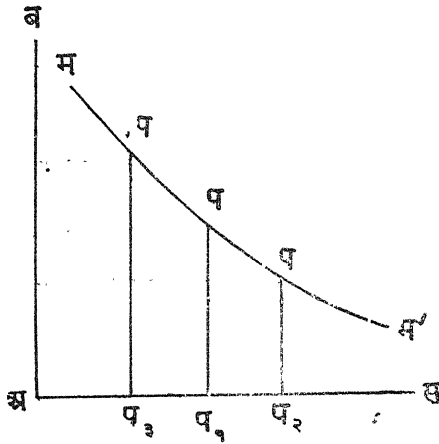
याद रखना चाहिये कि माँग में पहले प्रकार की घटा-बढ़ी मूल्यपरिवर्तन से होती है तथा दूसरे प्रकार की घटा-बढ़ी उपभोक्ता की परिस्थितियों के परिवर्तन से होती है। दिये हुये दो चित्र इसी तथ्य को स्पष्ट कर रहे हैं।

ऊपर के चित्र में मूल्य के कम होने पर माँग अ $प_1$, से बढ़कर अ $प_2$ हो जाती है तथा मूल्य बढ़ने पर माँग कम होकर अ $प_3$ रह जाती है। दूसरे चित्र में एक ही मूल्य प $प_1$, पर माँग का प्रकर्षण तथा विकर्षण होता है तथा माँग बढ़ कर अ $प_2$ तथा घट कर अ $प_3$ हो जाती है। इस दशा में १, २, ३ माँग-वक्र उपभोक्ता की विभिन्न परिस्थितियों के द्योतक हैं। अब हम माँग के प्रकर्षण के कारणों का अध्ययन करेंगे।
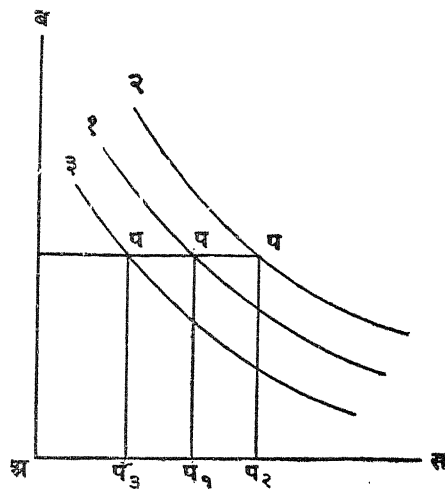
माँग के प्रकर्षण और विकर्षण के कारण (Factors Affecting Increase or Decrease in Demand)

माँग के प्रकर्षण और विकर्षण के निम्न मुख्य कारण हैं।

(i) **द्रव्य की मात्रा में परिवर्तन** (Changes in the Amount of Money

वस्तुओं के बदले हम द्रव्य देते हैं। द्रव्य की मात्रा बढ़ जाने पर द्राव्यिक आय (money-income) आदि भी बढ़ जाती है जिससे हम वस्तुओं के लिये अधिक द्रव्य देने को तैयार हो जाते हैं। इससे वस्तु की माँग भी बढ़ जाती है तथा उनके मूल्य भी।

(ii) **वास्तविक आय में परिवर्तन** (Changes in the Real Income)

वास्तविक आय में परिवर्तन होने से भी माँग में परिवर्तन हो जाता है। मान लीजिये उत्पादन-प्रणाली (Technique of production) में उन्नति के कारण वस्तुएँ पहले की अपेक्षा सस्ती हो गई हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि द्रव्य की एक ही मात्रा से पहले की अपेक्षा अब अधिक सन्तुष्टि मिलती है (अर्थात् वास्तविक आय बढ़ गई है)। ऐसी स्थिति में पहले के बराबर वस्तुयें खरीदने के बाद भी उपभोक्ता के पास द्रव्य बच रहेगा। इस द्रव्य को वह विभिन्न वस्तुओं पर विभिन्न अनुपात से खर्च करेगा और इस प्रकार माँग बढ़ जायगी।

(iii) **जनसंख्या में परिवर्तन** (Changes in population)

जनसंख्या के परिवर्तन से माँग में परिवर्तन होना स्वाभाविक ही है। जनसंख्या के बढ़ने से माँग में वृद्धि तथा घटने से माँग में कमी होगी। यदि जनसंख्या की वृद्धि विदेशों के व्यक्तियो के बसने से हुई है तो न केवल माँग की वृद्धि होगी वरन् अन्य नई माँगें भी उठ खड़ी होंगी।

(iv) **धन के वितरण में परिवर्तन** (Changes in the Distribution of Wealth)

यदि राज्य उचित रीति द्वारा धन के वितरण में परिवर्तन कर देता है और इससे समाज की व्यय-शक्ति बदल जाती है तो इसका प्रभाव माँग पर अवश्य पड़ेगा। जिन व्यक्तियों की स्थिति में सुधार हो जायगा उनकी माँग अवश्य बढ़ जायगी।

(v) **व्यवसाय की अवस्था** (Industrial Development)

व्यवसाय की अवस्था का भी माँग पर विशेष प्रभाव पड़ता है। व्यवसाय के उन्नतिशील होने पर, मनुष्यों की क्रय-शक्ति बढ़ जाती है और इसलिये वस्तुओं की माँग भी बढ़ जाती है। इसके विपरीत मन्दी के समय में माँग सामान्य रूप से शिथिल हो जाती है क्योंकि मनुष्यों की क्रय-शक्ति घट जाती है।

(vi) **रुचि और फैशन में परिवर्तन** (Changes in the Tastes and Fashion

रुचि और फैशन के परिवर्तन से एक वस्तु की माँग बढ़ जाती है तथा अन्य वस्तुओं की माँगें भी उठ खड़ी होती हैं। प्रारम्भ में इस देश में चाय पीना अपवाद के

रूप में था और चाय की माँग बहुत कम थी परन्तु जब चाय के प्रचार से लोगों की रुचि में परिवर्तन हो गया तो चाय की माँग बहुत बढ़ गई।

उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त माँग के प्रकर्षण और विकर्षण पर उपभोक्ताओं के बचत करने की प्रवृति (propensity to save) में परिवर्तन, अन्य वस्तुओं के मूल्यों में परिवर्तन का भी प्रभाव पड़ता है।

माँग की लोच (Elasticity of Demand)

परिभाषा

माँग के नियम को समझाते समय हम कह चुके हैं कि मूल्य में परिवर्तन होने पर माँग में भी परिवर्तन होता है। माँग का परिवर्तन मूल्य-परिवर्तन के अनुपात के बराबर, उससे कम या उससे अधिक हो सकता है। वास्तव में माँग का परिवर्तन कितना होता है, यह **मूल्य परिवर्तन के फलस्वरूप माँग के परिवर्तन की क्षमता पर निर्भर है**। मूल्य परिवर्तन के फलस्वरूप माँग के परिवर्तन की क्षमता को ही माँग की लोच कहते हैं।[१] माँग के इस प्रकार के परिवर्तन का अध्ययन हम दो प्रकार से कर सकते हैं।

(१) किसी एक मूल्य पर अथवा माँग की रेखा के किसी एक बिन्दु (मूल्य) पर,

(२) किन्हीं दो मूल्यों की सीमा के अन्दर अथवा माँग की रेखा के किसी चाप पर, पहली को बिन्दु-लोच (point elasticity of demand) तथा दूसरी को चाप-लोच (arc elasticity of demand) कहते हैं।
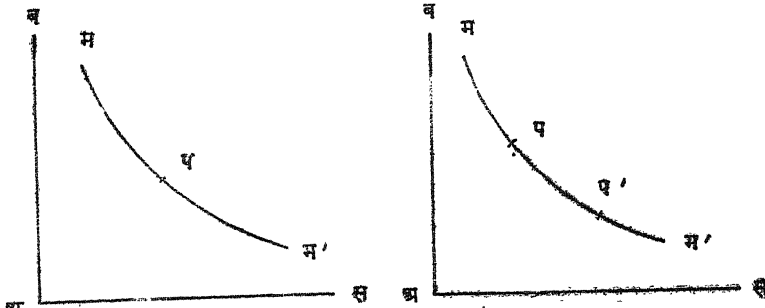
म म' माँग की रेखा है।

---

[१]यदि मूल्य परिवर्तन के फलस्वरूप माँग पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता तो इसका अर्थ है कि माँग में कोई लोच नहीं है अर्थात् वह बे लोच है।

यहाँ हम मूल्य परिवर्तन के सम्बन्ध में माँग के परिवर्तन का अध्ययन कर रहे हैं अतः इस लोच को माँग की मूल्य-लोच (price elasticity of demand) **कह कर पुकारा जाता है।**

जब हम माँग की रेखा के किसी एक बिन्दु पर माँग की लोच देखते हैं, उदाहरणार्थ पहले चित्र में प्रदर्शित प बिन्दु पर, तो यह माँग की बिन्दु लोच (point elasticity of demand) है परन्तु जब हम माँग की रेखा पर मूल्यों के दो बिन्दुओं के अन्दर की चाप की लोच देखते हैं तो यह माँग की चाप-लोच है। दूसरे चित्र के चाप पप′ की लोच ही चाप-लोच कहलायेगी। यहाँ हम केवल माँग की बिन्दु-लोच का ही अध्ययन करेंगे।

माँग की बिन्दु-लोच या किसी एक मूल्य पर माँग की लोच के अन्तर्गत हम उस मूल्य के अतिअल्प (infinitesimal) परिवर्तन के फलस्वरूप माँग में हुए परिवर्तन का अध्ययन करते हैं। माँग की बिन्दु लोच माँग के अनुपातिक परिवर्तन तथा मूल्य के अनुपातिक परिवर्तन का अनुपात है।

$$\text{माँग की लोच} = \frac{\text{माँग का अनुपातिक परिवर्तन}}{\text{मूल्य का अनुपातिक परिवर्तन}}$$

या

or elasticity of demand

$$Ed = \frac{\text{proportional change in demand}}{\text{proportional change in price.}}$$

माँग की लोच की माप

माँग की लोच की परिभाषा हम ऊपर दे चुके हैं। एक सूत्र द्वारा भी उसे व्यक्त किया जा चुका है। माँग की लोच की माप साधारणतया दो प्रकार से की जाती है।

(i) उपर्युक्त सूत्र द्वारा

(ii) मूल्य परिवर्तन से पहले और बाद के व्यय की तुलना द्वारा।

पहली विधि

हम पहले माँग की लोच को सूत्र द्वारा माप कर दिखायेंगे। उपर्युक्त सूत्र लोच की परिभाषा तथा माप दोनों ही व्यक्त करता है। यहाँ समझाने की सुविधा के लिए हम मूल्य का अति-अल्प (infinitesimal) परिवर्तन नहीं लेंगे तथा साधारण मूल्य परिवर्तन लेकर माँग की लोच को मापने का प्रयत्न करेंगे। मान लीजिए एक वस्तु का मूल्य पाँच रु० प्रति इकाई है तथा इस मूल्य पर उस वस्तु की २० इकाइयाँ माँगी जाती हैं। यदि वस्तु का मूल्य घटकर चार रुपये प्रति इकाई हो जाय और इस परिवर्तन के फलस्वरूप माँग बढ़कर २५ इकाई हो जाय तो माँग की लोच कितनी होगी ?

इस उदाहरण से स्पष्ट है कि माँग लोचदार है क्योंकि मूल्य परिवर्तन से माँग में भी परिवर्तन होता है। यह लोच कितनी है, इसे जानने के लिए हमें माँग और मूल्य का अनुपातिक परिवर्तन देखना होगा, जो इस प्रकार है:—

मूल्य	५ रु० प्रति इकाई	४ रु० प्रति इकाई
माँग	२० इकाइयाँ	२५ इकाइयाँ

$$\text{माँग का अनुपातिक परिवर्तन} = \frac{\text{माँग की वृद्धि (या कमी)}}{\text{पूर्व माँग}}$$

$$= \frac{५}{२०} = \frac{१}{४}$$

$$\text{मूल्य का अनुपातिक परिवर्तन} = \frac{\text{मूल्य की वृद्धि (या कमी)}}{\text{पूर्व मूल्य}}$$

$$= \frac{१}{५}$$

$$\text{माँग की लोच} = \frac{\text{माँग का अनुपातिक परिवर्तन}}{\text{मूल्य का अनुपातिक परिवर्तन}}$$

$$= \frac{\frac{१}{४}}{\frac{१}{५}} = \frac{1}{4} \times \frac{5}{1} = \frac{5}{4}$$

$$= \frac{५}{४}$$

$$= १\cdot २५$$

माँग की लोच इकाई से अधिक है अर्थात् माँग का अनुपातिक परिवर्तन मूल्य के अनुपातिक परिवर्तन से अधिक है। जब माँग और मूल्य का अनुपातिक परिवर्तन समान हो तो माँग की लोच इकाई होगी। जब माँग का अनुपातिक परिवर्तन मूल्य के अनुपातिक परिवर्तन से कम हो तो माँग की लोच इकाई से कम होगी। जब माँग की लोच इकाई से अधिक होती है तो उसे अधिक लोचदार (Elastic) कहते हैं और जब वह इकाई से कम होती है तो उसे कम लोचदार (Inelastic) कहते हैं। यह स्पष्ट है कि यह शब्दावली माँग की इकाई लोच (Unit elasticity of demand) की तुलना पर आधारित है। ऊपर के उदाहरण में माँग अधिक लोचदार है क्योंकि लोच इकाई से अधिक है। यदि मूल्य परिवर्तन का प्रभाव निम्न प्रकार का होता तो

I

मूल्य ५ रु० प्रति इ० ४ रु० प्रति इकाई
माँग २० इकाइयाँ २४ इकाइयाँ

माँग का अनुपातिक परिवर्तन $= \frac{४}{२०}$

$= \frac{१}{५}$

मूल्य का अनुपातिक परिवर्तन $= \frac{१}{५}$

दोनों समान हैं अतः माँग की लोच $= \frac{\frac{१}{५}}{\frac{१}{५}}$

$= १.$

II

मूल्य ५ रु० प्रति इ० ४ रु० प्रति इकाई
माँग २० इकाइयाँ २२ इकाइयाँ

माँग का अनुपातिक परिवर्तन $= \frac{२}{२०}$

$= \frac{१}{१०}$

मूल्य का अनुपातिक परिवर्तन $= \frac{१}{५}$

माँग का परिवर्तन कम है अतः माँग कम लोचदार है अर्थात् लोच इकाई से कम है।

माँग की लोच $= \frac{\frac{१}{१०}}{\frac{१}{५}}$

$= \frac{५}{१०}$

$= ०\cdot५$

पहले उदाहरण में माँग इकाई-लोच की होगी तथा दूसरे उदाहरण में माँग कम लोचदार होगी अर्थात् लोच इकाई से कम होगी जैसा कि स्पष्ट ही है।

माँग के इस माप को हम चित्र द्वारा भी व्यक्त कर सकते हैं। सुविधा के लिये हम माँग-वक्र को एक सरल रेखा द्वारा दिखायेंगे। नीचे के चित्र में म म' माँग की रेखा है तथा प और प' दो मूल्य-बिन्दु हैं। प फ से प' फ' मूल्य का परिवर्तन एक अति-अल्प परिवर्तन है, ऐसा मान लिया गया है।
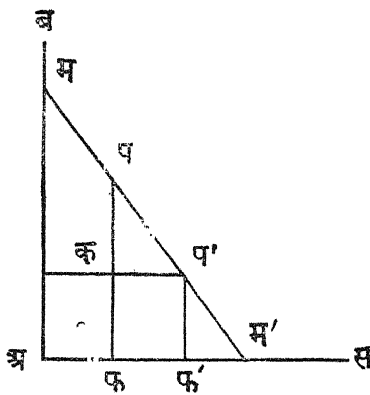
इस चित्र में	मूल्य	माँग
	प फ	अ फ
	प' फ'	अ फ'

मूल्य का परिवर्तन = प फ   माँग का परिवर्तन = फ फ'

माँग का अनुपातिक परिवर्तन $= \frac{\text{फ फ}'}{\text{अ फ}}$

मूल्य " " " $= \frac{\text{प क}}{\text{प फ}}$

∴ माँग की लोच $= \frac{\text{फ फ}'}{\text{अ फ}} \div \frac{\text{प क}}{\text{प फ}}$

$$= \frac{\text{फ फ}'}{\text{अ फ}} \times \frac{\text{प फ}}{\text{प क}}$$

$$= \frac{\text{क प}'}{\text{अ फ}} \times \frac{\text{प फ}}{\text{प क}} \quad \left\{ \text{क प}' = \text{फ फ}' \right.$$

$$= \frac{\text{क प}'}{\text{प क}} \times \frac{\text{प फ}}{\text{अ फ}}.$$

△ प क प' और प फ म'
समान-रूप (similar) हैं अतएव

$$\frac{\text{क प}'}{\text{प क}} = \frac{\text{फ म}'}{\text{प फ}}$$

$$= \frac{\text{फ म}'}{\text{प फ}} \times \frac{\text{प फ}}{\text{अ फ}}$$

$$= \frac{\text{फ म}'}{\text{अ फ}}$$

△ म अ म' में बिन्दु फ से फ प रेखा अ ब के समानान्तर है अतः वह म म' रेखा को उसी अनुपात में विभाजित करेगी जिसमें कि फ विन्दु अम' रेखा को विभाजित करता है।

∴ $\frac{\text{फ म}'}{\text{अ फ}} = \frac{\text{प म}'}{\text{प म}} =$ प विन्दु पर माँग की लोच।

यदि माँग की रेखा वक्राकार हो तो लोच निकालने के लिये अभीष्ट बिन्दु पर एक स्पर्श रेखा खींची जाती है और उस रेखा का उपर्युक्त अनुपात माँग की लोच दिखाता है।

उदाहरणार्थं उपर्युक्त चित्र में माँगचक्र के 'प' बिन्दु पर लोच निकालने के लिए म म' प बिन्दु पर खींची हुई स्पर्श रेखा है तथा पूर्वानुसार माँग की लोच= $\frac{\text{प म}'}{\text{प म}}$ इस प्रकार किसी भी बिन्दु पर माँग की लोच निकाली जा सकती है। उसके लिये हमें (यदि माँग की रेखा वक्राकार है तो बिन्दु पर स्पर्श रेखा खींच कर) मूल्य के बिन्दु से अस अक्ष की दूरी को उस बिन्दु की अब अक्ष की दूरी से भाग देना होगा।
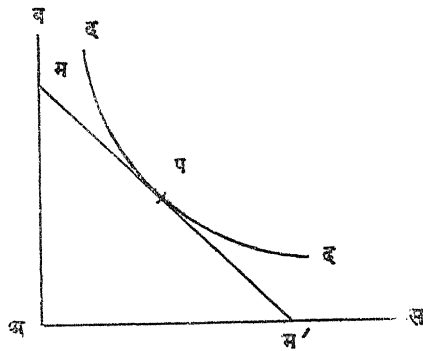
अमित और शून्य लोच के माँग वक्र (Demand curves of Infinite and zero elasticity)

साधारणतया माँग-वक्रों की लोच अधिक, कम या इकाई के बराबर होती है परन्तु कुछ माँगवक्र ऐसे भी होते हैं जिनकी लोच अमित (infinite) तथा शून्य (zero) भी होती है। अमित लोच के माँग-चक्र अनुभूमिक (horizontal) होते हैं तथा शून्य लोच के माँग-वक्र शीर्ष (vertical) होते हैं।
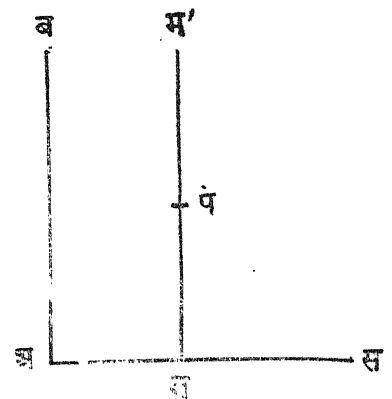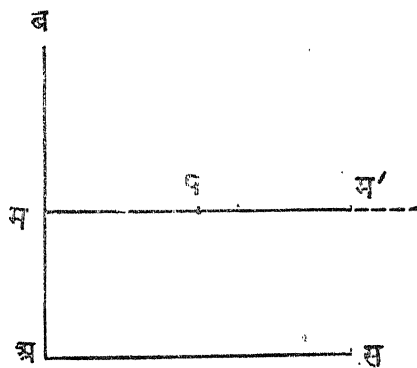
पहले चित्र में अनुभूमिक[1] माँग-वक्र म म', अ स अक्ष के समानान्तर है अतः वह अ स

---

[1] यह याद रखना चाहिए कि माँग वक्र के सरल रेखा होने पर जिस बिन्दु पर लोच निकालनी होती है उस बिन्दु से उसी रेखा के सहारे दोनों अक्षों से दूरी देखी जाती है। माँग की रेखा के वक्राकार होने पर उस बिन्दु पर खींची हुई स्पर्श रेखा के सहारे दूरी देखी जाती है।

अक्ष से अमित दूरी पर मिलेगा। इसलिये प बिन्दु से मांग की रेखा के सहारे अस अक्ष की दूरी भी अमित होगी।

$$\text{प विन्दु पर माँग की लोच} = \frac{\text{प विन्दु से अस अक्ष की दूरी}}{\text{प बिन्दु से अब अक्ष की दूरी}}$$

$$= \frac{\text{अमित}}{\text{प म}}$$

$= \text{अमित}$ क्यों कि अमित परिमाण को परिमित परिमाण से भाग देने पर परिणाम अमित ही रहता है।

इसी प्रकार दूसरे चित्र में माँग की रेखा म म′, अब अक्ष के समानान्तर है अतः वह अब अक्ष को अमित दूरी पर मिलेगी अर्थात् म म′ के सहारे प बिन्दु की दूरी अ ब अक्ष से अमित होगी। इस दशा में प बिन्दु पर माँग की लोच

$$= \frac{\text{प बिन्दु से अ स अक्ष की दूरी}}{\text{प बिन्दु से अ ब अक्ष की दूरी}}$$

$$= \frac{\text{प म}}{\text{अमित}}$$

$=$ ० क्योंकि परिमित परिमाण को अमित परिमाण से भाग देने पर परिणाम शून्य होता है।

साधारणतया माँग की लोच शून्य और अमित के बीच रहती है क्योंकि माँग वक्र साधारणतया वक्राकार दाहिनी ओर गिरते हुए होते हैं; वे शीर्ष और अनुभूमिक नहीं होते।

लोच मापने की दूसरी विधि

इस विधि में हम वस्तु पर किये हुए कुल व्यय की तुलना करते हैं। यदि वस्तु के मूल्य परिवर्तन के बाद कुल व्यय की मात्रा पूर्ववत् ही रहती है तो माँग की लोच इकाई है।

यदि मूल्य घटने पर कुल व्यय की मात्रा बढ़ जाती है या मूल्य बढ़ने पर कुल व्यय की मात्रा घट जाती है तो माँग की लोच इकाई से अधिक है।

यदि मूल्य घटने पर कुल व्यय की मात्रा घट जाती है और मूल्य बढ़ने पर बढ़ जाती है तो माँग की लोच इकाई से कम है।

मूल्य प्र० इ० रु०	माँग की मात्रा	कुल व्यय	मूल्य रु०	माँग	कुल व्यय	मूल्य रु०	माँग	कुल व्यय
६	१६$\frac{२}{३}$*	१००)	६	१८	१०८)	६	१५	९०)
५	२०	१००)	५	२०	१००)	५	२०	१००)
४	२५	१००)	४	२२	८८)	४	२७	१०८)

*यह मान लिया गया है कि इकाइयाँ विभाज्य हैं।

हम माँग की लोच एक ही मूल्य ५) प्रति इकाई पर किये हुए व्यय की तुलना से जानना चाहते हैं।

पहले उदाहरण में मूल्य परिवर्तन से कुल व्यय पूर्ववत् ही रहता है अतः ५ रु० के मूल्य पर माँग की लोच इकाई है।

इसी मूल्य पर दूसरे उदाहरण में मूल्य घटने से कुल व्यय घट जाता है तथा मूल्य बढ़ने से बढ़ जाता है अतः लोच इकाई से कम है अर्थात् माँग कम लोचदार है।

इसी मूल्य पर तीसरे उदाहरण में मूल्य घटने पर कुल व्यय बढ़ जाता है तथा मूल्य बढ़ने पर घट जाता है अतः लोच इकाई से अधिक है अर्थात् माँग अधिक लोचदार है।

तीनों उदाहरणों में एक ही मूल्ल ५ रु० प्रति इकाई पर लोच निकाली गई है। इस मूल्य पर कुल व्यय १००) है। मूल्य परिवर्तन के बाद के कुल व्यय की तुलना इसी सौ रु० के व्यय से की गई है।

माँग की लोच मापने की यह विधि असंतोषजनक है। पहले उदाहरण में जब मूल्य ५ रु० से घटकर ४ रु० हो जाता है तो माँग २० इकाई से बढ़कर २५ इकाई हो जाती है कुल व्यय समान रहता है अतः दूसरी विधि के अनुसार माँग की लोच इकाई है। मापने की पहली विधि के अनुसार इस मूल्य पर माँग की लोच १.२५ है जो इकाई से अधिक है। (माँग की लोच मापने की पहली विधि का पहला उदाहरण देखिये) वास्तव में दूसरी विधि मोटे तौर पर ही सही मानी जा सकती है। हम प्रारंभ में ही कह चुके हैं कि माँग की सही-सही बिन्दु लोच निकालने के लिए मूल्य का अति-अल्प (infinitesimal) परिवर्तन लिया जाता है। व्यवहार में मूल्य के परिवर्तन अति अल्प नहीं होते और इसलिए यह विधि उतनी शुद्धता से माँग की लोच नहीं बता सकती इसके अतिरिक्त यह विधि माँग की लोच की प्रवृत्ति की ओर कोई स्पष्ट संकेत नहीं करती।

हम माँग की लोच की परिभाषा तथा उसके माप (what is elasticity of demand, how is it measured ?) पर विचार कर चुके हैं। जिन कारणों पर माँग की लोच निर्भर रहती है उन पर विचार करने से पूर्व हम प्रो० मार्शल के एक महत्वपूर्ण कथन पर विचार करेंगे। **प्रो० मार्शल का कहना है कि मँहगे मूल्यों पर माँग की लोच अधिक होती है। मध्यम मूल्यों** (medium prices) **पर अधिक या काफी होती है। मूल्यों के गिरने के साथ वह कम होती जाती है और सन्तुष्टि की सीमा पर पहुँचते पहुँचते लुप्त हो जाती है।**

("The elasticity of demand is great for high prices, and great or at least considerable, for medium prices; but it declines as the price. falls, and gradually fades away if the fall goes so far that satiety level is reached.")

प्रो० मार्शल का उपर्युक्त कथन सामान्य रूप से (generally) प्रत्येक वर्ग और प्रत्येक वस्तु के ऊपर लागू होता है। नीचे दी हुई मांग की सरल रेखा पर विचार कीजिये।
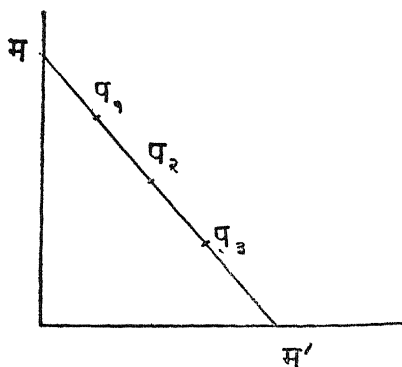
यह निर्विवाद है कि माँग की रेखा में $प_१, प_२, प_३$ बिन्दु क्रमशः महँगा, मध्यम और सस्ता मूल्य दिखा रहे हैं। इन तीनों बिन्दुओं पर माँग की लोच देखिये।

$$लोच_{प_१} = \frac{प_१ म'}{प_१ म} = \frac{३}{१} = ३ \quad लोच_{प_२} = \frac{प_२ म'}{प_२ म} = \frac{२}{२} = १ \quad लोच_{प_३} = \frac{प_३ म'}{प_३ म} = \frac{१}{३}$$

मँहगे, मध्यम और सस्ते मूल्य पर मांग की लोच क्रमशः ३, १, और $\frac{१}{३}$ है। इससे प्रो० मार्शल के कथन की सत्यता स्पष्ट होती है कि महँगे मूल्यों पर माँग की लोच अधिक, मध्यम पर काफी तथा सस्ते मूल्यों पर कम होती जाती है। माँग की रेखा के वक्राकार होने पर भी यह तथ्य इसी प्रकार रहेगा (अभ्यास के लिए विद्यार्थी कोई साधारण माँग वक्र लेकर उस पर ऐसे तीन या अधिक मूल्यों पर लोच निकालें) इस कथन के सम्बन्ध में दो मुख्य कठिनाइयाँ हैं।

(१) प्रत्येक वर्ग के लिए महँगे मूल्यों का अन्त तथा सस्ते मूल्यों का प्रारंभ भिन्न-भिन्न स्तरों पर होता है।

(२) कुछ वस्तुयें ऐसी होती हैं जिनसे मनुष्य की तृप्ति देर में होती है। अतः ऐसी वस्तुओं के मूल्य गिरने पर भी उनकी माँग की लोच काफी बनी रहेगी, तथा कुछ वस्तुओं से तृप्ति शीघ्र हो जाती है अतः मूल्य गिरने पर धीरे धीरे उनकी माँग की लोच लुप्त हो जायगी।

जहाँ तक पहली कठिनाई का प्रश्न है हम संयुक्त माँग वक्र (aggregate demand curve) को आंशिक माँग वक्रों (partial demand curve) में विभाजित कर प्रत्येक वर्ग के लिये उपर्युक्त कथन की सत्यता स्पष्ट कर सकते हैं। उदा-

हरण के लिए यदि धनिक, मध्यम तथा निम्न वर्ग का संयुक्त माँग वक्र निम्न प्रकार का हो:—
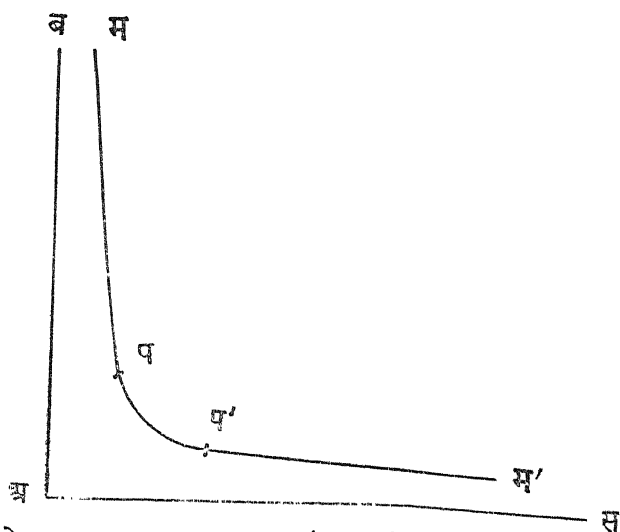
तो उसे हम अलग अलग मप, पप' तथा प' म' मांग वक्रों में विभाजित कर सकते हैं। उस समय मम' माँग-वक्र तीन वक्रों में बँट जायगा।
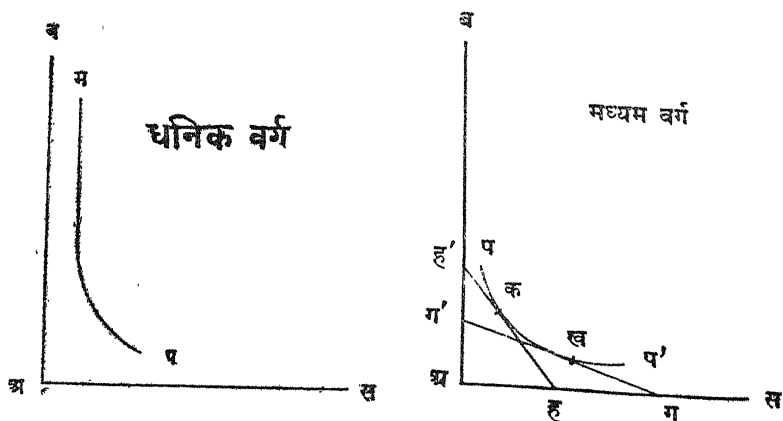
इन आंशिक माँग वक्रों में प्रत्येक वर्ग के महँगे और सस्ते मूल्यों का आभास मिल जाता है तथा उपर्युक्त कथन की सत्यता भी स्पष्ट हो जाती है। मध्यम वर्ग के माँग वक्र में क बिन्दु पर माँग की लोच ख बिन्दु की माँग की लोच से अधिक है। क महँगा मूल्य दिखा रहा है तथा ख अपेक्षाकृत सस्ता मूल्य दिखा रहा है।

दूसरी कठिनाई वस्तुओं की प्रकृति तथा मनुष्यों के स्वभाव आदि से सम्बन्धित है।
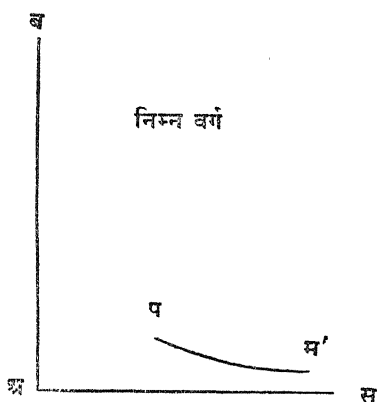
नमक का उदाहरण लीजिये। नमक का मूल्य स्वतः इतना कम होता है कि उसके सस्ते हो जाने से उसके उपभोग पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ेगा। मनुष्यों का स्वभाव, वस्तु के एक या अनेक उपयोग आदि (वे सभी कारण जो माँग की लोच को प्रभावित करते हैं[1]) सभी माँग की लोच के उपर्युक्त क्रम को—मंहगे मूल्यों पर अधिक, मध्यम पर काफी तथा सस्ते मूल्यों पर कम लोच-प्रभावित करते हैं।

फिर भी हम यह कह सकते हैं कि प्रो॰ मार्शल का यह कथन सामान्य रूप से सही है। नमक जैसी वस्तुओं के उदाहरण अपवाद-स्वरूप ही हैं। अब हम माँग की लोच को प्रभावित करनेवाले कारणों का उल्लेख करेंगे।

मांग की लोच को प्रभावित करने वाले कारण (Factors affecting elasticity of demand)

प्रो॰ मार्शल के अनुसार किसी वस्तु की माँग के लोचदार होने के लिए निम्न बातें आवश्यक हैं :

(i) उस वस्तु की अनेक प्रतिस्थापन वस्तुयें प्राप्त हों। (The commodity should have many substitutes)

यदि एक वस्तु के स्थान पर अनेक वस्तुयें प्रतिस्थापन के लिए उपलब्ध हों तो उस वस्तु के मूल्य बढ़ने पर उसकी माँग कम हो जायगी तथा कोई प्रतिस्थापन वस्तु प्रयोग में आने लगेगी। अतः इस प्रकार की वस्तु की माँग लोचदार होगी। एक साधारण उदाहरण चाय और कहवा का है। ये दोनों वस्तुयें बहुत अंशों तक एक दूसरे के लिए प्रतिस्थापित की जा सकती हैं। यदि चाय का मूल्य बढ़ जाय तो उसकी माँग कम हो जायगी और लोग उसके स्थान पर कहवा का प्रयोग प्रारंभ कर देंगे।

(२) माँग के लोचदार होने के लिये दूसरी आवश्यक बात यह है कि उस वस्तु के अनेक उपयोग हों। ऐसा होने पर जब वस्तु का मूल्य घट जाता है तो उसकी माँग भी बढ़ जाती है क्योंकि अनेक उपयोग होने से उस वस्तु को अधिक प्रयोगों में

---

[1] एक प्रश्न के उत्तर के रूप में इस कथन के स्पष्टीकरण में माँग को प्रभावित करने वाले कारणों को भी इसी स्थान पर देना चाहिए।

लाया जा सकता है। प्रो० मार्शल ने पानी का उदाहरण दिया है जिसके सस्ते होने पर लोग खाना बनाने, कपड़ा धोने आदि आदि प्रयोगों द्वारा उसका उपभोग बढ़ाते जाते हैं।

(३) उन वस्तुओं की माँग भी लोचदार होती है जिनका प्रयोग टाला जा सकता है। ऐसी वस्तुओं के मूल्य बढ़ने पर हम अपनी माँग एकदम कम कर देंगे क्योंकि उनके प्रयोग को टाला जा सकता है। इसीलिए इन वस्तुओं की माँग लोचदार होती है।

(४) माँग की लोच ऊँचे या मँहगे मूल्यों पर भी अधिक होती है। इस कथन को हम ऊपर स्पष्ट कर चुके हैं।

(५) वस्तुओं की प्रकृति भी माँग की लोच पर काफी प्रभाव डालती है। साधारणतया अनिवार्यताओं तथा प्रतिष्ठामूलक वस्तुओं की माँग की लोच कम होती है तथा विलासिताओं की माँग लोचदार होती है।

(६) वस्तुओं के प्रयोग विशेष का भी माँग की लोच पर काफी प्रभाव पड़ेगा। मोटा नाज——चना इत्यादि खाने वाले भारतीय एक्कावान, और ताँगावान चने की कीमत गिरने पर अपने उपभोग की मात्रा बढ़ा देंगे परन्तु घोड़ों को दिये हुए दाने में कदाचित् कोई विशेष फर्क नहीं पड़ेगा। घोड़ों के दाने के लिए चने की माँग कम लोचदार ही रहेगी।

(७) व्यक्तियों के आय का भी माँग की लोच पर काफी प्रभाव पड़ता है। एक ही वस्तु के लिए निर्धन और धनी व्यक्तियों की माँग की लोच भिन्न-भिन्न होती है।

माँग की लोच और ह्रासमान सीमान्त उपयोगिता नियम (The Law of Demand & the Law of Diminishing Utility)

यह दोनों एक दूसरे से घनिष्ट रूप से सम्बन्धित हैं। इनके सम्बन्ध का अध्ययन हम ह्रासमान सीमान्त उपयोगिता नियम के साथ कर चुके हैं।

माँग की लोच का व्यवहारिक महत्व

माँग की लोच का राजस्व में महत्त्वपूर्ण स्थान है। कर लगाने से मूल्यों में वृद्धि होती है, यह हम सभी जानते हैं। यदि कर ऐसी वस्तुओं पर लगाये जायँ जिनकी माँग की लोच अधिक हो, तो मूल्य वृद्धि के कारण माँग कम हो जायगी और सरकार को अधिक आय सम्भव नहीं हो सकेगी। अतः आय के दृष्टिकोण से सरकार को कर अपेक्षाकृत कम लोचवाली वस्तुओं पर लगाने चाहिये। इसका अर्थ यह नहीं है कि सरकार अनिवार्यताओं पर भी कर लगा दे वरन् यह कि कर लगाने योग्य वस्तुओं के बीच माँग की लोच के आधार पर (आय के विचार से) अधिक सही चुनाव किया जा सकता है। उस वस्तु पर अधिक कर लगाया जा सकता है जिसकी माँग की लोच अपेक्षाकृत कम हो।

एकाधिकारी (monopolist) के लिए भी माँग की लोच बहुत महत्वपूर्ण है। इसके सहारे ही वह मूल्य बढ़ाकर अपना लाभ अधिकतम कर सकता है। जब विभिन्न बाजारों में माँग की लोच भी विभिन्न होती है उस समय एकाधिकारी बाजारों में अलग-अलग मूल्य (price discrimination) लेने में समर्थ हो जाता है।

यह स्पष्ट हो गया होगा कि किसी एक मूल्य पर माँग का आकार उसकी लोच पर बहुत कुछ निर्भर है। वस्तु की माँग के आकार पर ही मजदूरों की माँग निर्भर है और इस प्रकार मजदूरी भी। अतः माँग की लोच का परोक्ष प्रभाव मजदूरी आदि पर भी पड़ता है।

समय-समय पर किसी वस्तु का कितना उत्पादन किया जाय, इस निर्णय में भी माँग की लोच काफी सहायक होती है। यदि वस्तु की माँग लोचदार है और उसे पहले की अपेक्षा कम मूल्य पर बेचना है तो माँग बढ़ जायगी और इसलिए उसका उत्पादन भी बढ़ाना होगा।

EXERCISES

1. In the following two examples calculate the elasticity of demand:—

	Price per unit (annas)	quantity demanded (maunds)
(a)	0 8 0	20
	0 6 0	25
(b)	0 8 0	20
	0 4 6	25

Explain the difference in the two cases and account for it.

Allad. U. B. Com. 1953.

2. State the Law of Demand, and show how it is derived from the principle of Diminishing Marginal Utility. Are there any conditions under which the law of demand ceases to operate ?

Allad. U. B. Com. 1947.

3. State the Law of Demand, and show how it is derived from the principle of diminishing marginal utility.

Allad. U. B. Com. I 1950.

4. Distinguish between 'elastic and inelastic' demand and give the conditions on which elasticity depends.

Allad. U. B. Com. I 1949

5. Define "elasticity of demand" How is it measured ? What factors affect it. Allad. U. B. A. 1951.

6. What is meant by 'an increase or decrease in demand ?" Discuss the factors that bring about an increase or decrease in the demand for any commodity. Allad. U. B. A. 1949.

7. 'The elasticity of demand is great for high prices, and great, or at least considerable for medium prices; but it declines as the price falls; and gradually fades away if the fall goes so far that satiety level is reached. Explain'.

—Marshall.

8. Define elasticity of demand. What does it show when the elasticity of demand is (a) equal to unity (b) zero and (c) greater or less than unity.

Allad. U. B. A. 1956.

9. What is meant by elasticity of demand ? How would you measure it ? What is the importance of the concept ?

Allad. U. B. A. (Part I) 1957.

अध्याय १०

उपभोक्ता का अतिरेक

(CONSUMERS' SURPLUS)

व्यवहार में हमें अक्सर अनुभव करते हैं कि जिस वस्तु या काम के लिये हम कहीं अधिक खर्च कर देते वह हमें अपेक्षाकृत कम मूल्य पर मिल जाती है। उदाहरण के लिये किसी दूर रहने वाले संबंधी या इष्टमित्र के पास समाचार भेजने के लिये दस-बीस रुपये खर्च करने के लिये एक व्यक्ति आसानी से तैयार हो जायगा परन्तु डाक की सुविधाओं के कारण यह कार्य बहुत ही सस्ते में पाँच नये पैसे, दस नये पैसे या पंद्रह नये पैसे में—सम्भव है। इस प्रकार के अनुभवों पर ही मार्शल द्वारा प्रस्तुत 'उपभोक्ता का अतिरेक' आधारित है। उपभोक्ता का अतिरेक इसलिये प्राप्त होता है क्योंकि हम एक वस्तु को पाने के लिये कहीं अधिक व्यय कर देते परन्तु वह हमें अपेक्षाकृत कम दामों पर मिल जाती है।

किसी वस्तु के बिना रहने के बजाय उसे पाने के लिये जो मूल्य उपभोक्ता देने को प्रस्तुत होता तथा जो वह वास्तव में देता है, इन दोनों का अन्तर उपभोक्ता का अतिरेक है।[१] उपभोक्ता जो मूल्य देने के लिये प्रस्तुत होगा वह वास्तव में उस वस्तु से प्राप्त उपयोगिता के बराबर होगा क्योंकि कोई भी व्यक्ति वस्तु से प्राप्त उपयोगिता से अधिक मूल्य देने को प्रस्तुत नहीं होगा। जो मूल्य वह वास्तव में देता है, वह उस वस्तु को पाने के लिये किया हुआ त्याग है। अतः हम यह भी कह सकते हैं कि उपभोक्ता का अतिरेक किसी वस्तु से प्राप्त उपयोगिता तथा उसके लिये त्याग की हुई उपयोगिता का अन्तर है। यदि एक वस्तु से प्राप्त उपयोगिता दस-रुपये है और उसे प्राप्त करने में एक रुपया खर्च (त्याग) करना पड़ता है तो उपभोक्ता का अतिरेक इन दोनों उपयोगिताओं का अन्तर अर्थात् नौ रुपये है। एक व्यक्ति किसी भी वस्तु की इतनी इकइयाँ खरीदेगा ताकि द्रव्य (व्यय की इकाइयों) की सीमान्त उपयोगिता तथा वस्तु की सीमान्त उपयोगिता बराबर हो जाय। साधारणतया हम द्रव्य की उपयोगिता समान या स्थिर मान लेते हैं अर्थात् व्यय की प्रत्येक इकाई की उपयोगिता बराबर मान लेते हैं। यदि एक व्यक्ति की व्यय की इकाई अठन्नी है तो उसके द्वारा खर्च की हुई प्रत्येक अठन्नी की उपयोगिता आठ आना ही होगी। द्रव्य की सीमान्त उपयोगिता स्थिर होगी। यदि व्यय की इकाई वस्तु का मूल्य हो तो वस्तु का मूल्य ही

[१] "The excess of the price which one is willing to pay rather than go without the thing over that which he actually pays is the economic measure of this surplus of satisfaction. It may be called the consumers' surplus."—Marshall.

द्रव्य की समान या स्थिर उपयोगिता को व्यक्त करेगा और वही वस्तु की सीमान्त उपयोगिता के बराबर होगा। उदाहरण के लिये यदि वस्तु का मूल्य ५० नये पैसे प्रति वस्तु हो तथा हमारे व्यय की इकाई भी ५० नये पैसे हो, तो वस्तु का मूल्य अर्थात् ५० नये पैसे ही व्यय की इकाई की उपयोगिता व्यक्त करेगा। उपभोक्ता वस्तु की प्रत्येक इकाई के लिए एक ही मूल्य देता है इसलिए त्याग की हुई उपयोगिता वस्तु की इकाइयों और उसकी सीमान्त उपयोगिता या मूल्य (वस्तु की सीमान्त उपयोगिता और उसका मूल्य बराबर है) का गुणनफल होता है। अतः द्रव्य की उपयोगिता को स्थिर या समान मानकर हम उपभोक्ता के अतिरेक को निम्न सूत्र से व्यक्त कर सकते हैं :—

(i) उपभोक्ता का अतिरेक = प्राप्त उपयोगिता — वस्तु की इकाइयां × मूल्य या वस्तु की सीमान्त उपयोगिता। परन्तु द्रव्य की वृद्धिमान वा ह्रासमान उपयोगिता के समय इस नियम में थोड़ा परिवर्तन हो जाता है। उस समय,

(ii) उपभोक्ता का अतिरेक = प्राप्त उपयोगिता — खर्च की हुई व्यय की इकाइयां की उपयोगिता का जोड़

उपर्युक्त सूत्रों को देखने से विदित होगा कि उनमें कुल त्याग निकालने की विधि में परिवर्तन हो जाता है।

द्रव्य की समान उपयोगिता		**द्रव्य की वृद्धिमान उ०**		**द्रव्य की ह्रासमान उ०**	
व्यय की इकाइयाँ	उपयोगिता का त्याग	व्यय की इकाइयाँ	उ० का त्याग	व्यय की इकाइयां	उ० का त्याग
पहली अठन्नी	आठ आने	१ ली अठन्नी	आठ आने	१ ली अठन्नी	आठ आने
२ री „	„ „	२ री „	बारह आने	२ री „	पाँच आने
३ „ „	„ „	३ „ „	१ रु. २ आने	३ री „	तीन आने
∴ कुल त्याग = ३ × ८ आ.		कुल त्याग = ८आ. + १२आ.		कुल त्याग = ८ आ० +	
= १ रु० ८ आने		+ १ रु. २आ = २रु. ६आ.		५आ. + ३ आने = १ रु०	

उपर्युक्त उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि द्रव्य की वृद्धिमान या ह्रासमान उपयोगिता के कारण वस्तु की इकाइयों पर किये हुए व्यय की उपयोगिता असमान होती है और इसलिये कुल त्याग निकालने के लिए इन उपयोगिताओं को जोड़ना पड़ता है। द्रव्य की समान उपयोगिता होने पर व्यय की इकाइयों का त्याग बराबर होता है अतएव वस्तु की इकाइयों का उसके मूल्य से गुणा कर दिया जाता है।

यह याद रखना चाहिये कि उपभोक्ता के अतिरेक की स्थिति उपभोक्ता के मस्तिष्क में है, वस्तुओं में नहीं। यदि द्रव्य की उपयोगिता समान हो (मार्शल ने यही अनुमान किया है) तो उपभोक्ता के अतिरेक को निम्न प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है। विभाज्य वस्तुओं के लिए दण्ड-चित्र का प्रयोग किया जाता है जैसा कि

ह्रासमान सीमान्त उपयोगिता नियम में भी किया गया था। यदि आटे का भाव ५० नये पैसे प्रति सेर हो और प्रति सेर आटे की उपयोगिता निम्न प्रकार हो, तो उपभोक्ता के अतिरेक को इस प्रकार मापा जा सकता है।

वस्तु की इकाइयाँ	प्राप्त उपयोगिता	व्यय की इकाइयाँ या मूल्य प्रति सेर	त्याग की हुई उपयोगिता		अतिरेक
१ला सेर	२ रु०	८ आ०	८ आ०	हर इकाई की समान [स्थिर] उपयोगिता	१ रु० ८ आ०
२रा सेर	१ रु० ८ आ०	,,	८ ,,		१ रु०
३रा सेर	१ रु० २ आ०	,,	८ ,,		१० आ०
४था सेर	१२ आ०	,,	८ ,,		४ आ०
५वाँ सेर	८ आ०	,,	८ ,,		० आ०
	कुल उपयोगिता		कुल त्याग		
	५ रु० १४ आ०		२ रु० ८ आ०		३ रु० ६ आ०

अथवा कुल उपयोगिता—सीमान्त उपयोगिता × वस्तु की इकाइयाँ

= ५ रु० १४ आ०—८ आ० × ५

= ५ रु० १४ आ०—२ रु० ८ आ०

उपभोक्ता का अतिरेक=३ रु० ६ आ०

आटे के पाँचवें सेर की उपयोगिता अर्थात् आटे की सीमान्त उपयोगिता उसके मूल्य के बराबर है अतः उपभोक्ता इससे अधिक खरीद नहीं करेगा क्योंकि ऐसा करने पर उसे (ह्रासमान सीमान्त उपयोगिता के कारण) वस्तु से आठ आने से कम उपयोगिता प्राप्त होगी और उसके लिए मूल्य आठ आना ही देना होगा। यह उसके हित के विरुद्ध है। आटे के पहले चार सेरों पर उसे आठ आना से अधिक उपयोगिता प्राप्त हो रही है और इसलिए इन इकाइयों से उपभोक्ता का अतिरेक प्राप्त हो रहा है। हम इसे चित्र द्वारा भी दिखा सकते हैं।
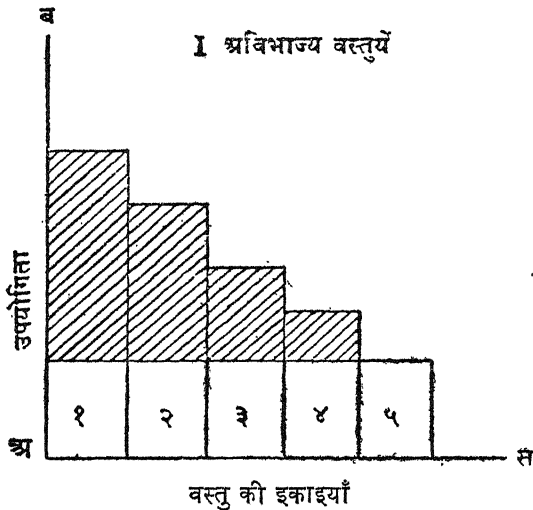
पहला चित्र अविभाज्य वस्तुओं का है तथा दूसरा विभाज्य वस्तुओं का। पाँचवीं इकाई से प्राप्त उपयोगिता (सीमान्त उपयोगिता) तथा वस्तु का मूल्य बराबर है अतः उपभोक्ता वस्तु की केवल पाँच इकाइयाँ ही खरीदेगा। द्रव्य की उपयोगिता समान (Constant) होने के कारण प्रत्येक इकाई के लिए दिये हुए मूल्य से उपयोगिता का
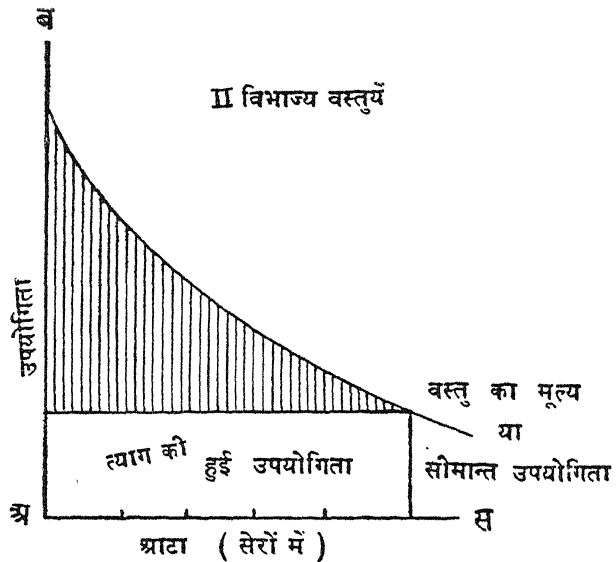
त्याग बराबर (दूसरे चित्र में यह आठ आना है) होगा। पहले चित्र में बिना रंगे हुए पाँच समान आयत (१, २, ३, ४, ५) प्रत्येक इकाई का मूल्य या उसके लिए किया हुआ त्याग दिखा रहे हैं। रंगे हुए आयत उपभोक्ता का अतिरेक दिखाते हैं। दूसरे चित्र में रंगा हुआ भाग उपभोक्ता का अतिरेक तथा बिना रंग आयत त्याग दिखाता है। बिना रंगा आयत वस्तु की इकाइयों और उनके मूल्य (अर्थात् सीमान्त उपयोगिता) का गुणनफल है और इसलिए त्याग दिखाता है। रंगा हुआ भाग कुल उपयोगिता और त्याग का अन्तर है।

द्रव्य की वृद्धिमान और ह्रासमान उपयोगिता[1] (Increasing & decreasing utility of money)

द्रव्य की उपयोगिता को समान या स्थिर मानकर हम उपभोक्ता के अतिरेक को समझ चुके हैं। यदि द्रव्य की उपयोगिता वृद्धिमान अथवा ह्रासमान हो, तो उपभोक्ता के अतिरेक पर क्या प्रभाव पड़ेगा ? क्या वह द्रव्य की समान उपयोगिता

[1] **द्रव्य की ह्रासमान उपयोगिता का अनुमान केवल तुलनात्मक अध्ययन के लिये किया गया है।**

की स्थिति में प्राप्त अतिरेक से कम वा अधिक होगा ? इस प्रश्न का उत्तर दो दृष्टिकोणों से दिया जा सकता है।

(i) द्रव्य की उपयोगिता के त्याग पर वस्तु **खरीदने के पूर्व** विचार किया जाय तथा

(ii) द्रव्य की उपयोगिता के त्याग पर वस्तु **खरीदने के बाद** विचार किया जाय।

पहले को अंग्रेजी में ex-ante approach तथा दूसरे को ex-poste approach कहते हैं। इस तुलनात्मक अध्ययन में द्रव्य की उपयोगिता के परिवर्तन से वस्तु की **उपयोगिता अप्रभावित रहती है, ऐसा मान लिया गया है अर्थात् माँग की रेखा में कोई परिवर्तन नहीं होता।**

Ex-ante Approach

वस्तु की प्रत्येक इकाई पर किये जाने वाले त्याग को उपभोक्ता पहले ही विचार लेता है। द्रव्य की उपयोगिता चाहे समान हो या वृद्धिमान या असमान, वस्तु की उतनी इकाइयाँ खरीदी जायँगी ताकि वस्तु की सीमान्त उपयोगिता और द्रव्य की सीमान्त उपयोगिता बराबर हो जाय। तीनों ही दशाओं में वस्तु की प्रत्येक इकाई के लिए एक ही मूल्य दिया जायगा यद्यपि प्रत्येक इकाई के लिये दिए हुये मूल्य का त्याग समान, वृद्धिमान या ह्रासमान होगा। नीचे दिए हुये उदाहरण को देखिये:—

आटे की उपयोगिता		मूल्य	द्रव्य का प्रति इकाई उपयोगिता			प्रति इकाई अतिरेक		
	रु. न.पै.	रु. न.पै	समान	वृद्धिमान	ह्रासमान	स. उ.	वृ. उ.	ह्रा. उ.
१ सेर	२– ०	०–५०	५० नपै	५० नपै	५० न.पै.	१रु.५०	१रु.५० नपै	१रु.५० नपै
२ ,,	१–५०	,,	,,	७५	४४	१	७५	१– ६
३ ,,	१–१२	,,	,,	१–१२	३७	०–६२		०–७५
४ ,,	०–७५	,,	,,	१–५६	२५	०–२५		०–५०
५ ,,	०–५०	,,	,,	२– ६	१९			०–३१
६ ,,	०–३१	,,	,,		१२			०–१९
७ ,,	०– ६	,,	,,	इत्यादि	६			

उपर्युक्त उदाहरण में आटे की प्रति इकाई उपयोगिता तथा मूल्य दिखाया गया है। द्रव्य की उपयोगिता में परिवर्तन होने पर इनमें कोई परिवर्तन नहीं होता। इसके बाद की तीन सारिणी द्रव्य की समान, वृद्धिमान तथा ह्रासमान उपयोगिता दिखा रही है। शेष तीन सारिणी तीनों स्थितियों में वस्तु की प्रत्येक इकाई से प्राप्त उपभोक्ता का अतिरेक दिखा रही हैं। द्रव्य की समान उपयोगिता की दशा में प्राप्त अतिरेक वस्तु की उपयोगिता तथा द्रव्य की उपयोगिता (जो यहाँ समान है) का अन्तर है। इसी प्रकार वृद्धिमान और ह्रासमान उपयोगिता की दशा में प्राप्त अतिरेक क्रमशः वस्तु की उपयोगिता तथा द्रव्य की वृद्धिमान और ह्रासमान उपयोगिताओं का अन्तर है।

वस्तु की प्रत्येक इकाई खरीदने से पूर्व उपभोक्ता उसके लिए आवश्यक त्याग को विचारता जाता है। द्रव्य की समान उपयोगिता की स्थिति में उपभोक्ता वस्तु की पाँच इकाइयाँ खरीदेगा क्योंकि सभी वस्तु और द्रव्य की सीमान्त उपयोगितायें बराबर होती हैं।

जब द्रव्य की उपयोगिता वृद्धिमान है तब उपभोक्ता वस्तु की केवल तीन इकाइयाँ खरीदेगा क्योंकि द्रव्य और वस्तु की सीमान्त उपयोगिता इसी सीमा पर बराबर है।

इसी प्रकार द्रव्य की ह्रासमान उपयोगिता की स्थिति में उपभोक्ता वस्तु की सात इकाइयाँ खरीदेगा।

तीनों स्थितियों में उपभोक्ता वस्तु की अलग-अलग मात्रा खरीदता है क्योंकि वह अपने त्याग को पहले विचारता जाता है। यह स्पष्ट है कि द्रव्य की समान उपयोगिता की स्थिति में प्राप्त अतिरेक की तुलना में द्रव्य की वृद्धिमान उपयोगिता की स्थिति का अतिरेक कम होगा तथा ह्रासमान उपयोगिता की स्थिति का अतिरेक अधिक होगा। इसके दो कारण हैं।

(१) द्रव्य की वृद्धिमान उपयोगिता होने पर वस्तु की कम इकाइयाँ खरीदी जायेंगी क्योंकि व्यय की प्रत्येक इकाई की उपयोगिता बढ़ने के कारण द्रव्य और वस्तु की सीमान्त उपयोगिता का संतुलन शीघ्र हो जायगा। इस कारण वृद्धिमान उपयोगिता की स्थिति में अतिरेक कम होगा।

इसके विपरीत ह्रासमान उपयोगिता की स्थिति में वस्तु की अधिक इकाइयाँ खरीदी जायँगी क्योंकि द्रव्य की उपयोगिता घटने के कारण वस्तु की इतनी अधिक इकाइयाँ खरीदनी होंगी ताकि द्रव्य और वस्तु की सीमान्त उपयोगिता बराबर हो जाय। द्रव्य की घटती हुई उपयोगिता के कारण यह संतुलन काफी देर में होगा। इसलिए इस दशा में अतिरेक अधिक होगा।

(२) वस्तु की उपयोगिता में कोई परिवर्तन न होने के कारण वस्तु की प्रत्येक इकाई से प्राप्त अतिरेक भी कम होगा। वस्तु की प्रत्येक इकाई की उपयोगिता निश्चित है परन्तु उसके लिए किया हुआ त्याग द्रव्य की वृद्धिमान उपयोगिता के कारण बढ़ता जाता है, अतः प्राप्त उपयोगिता और उसके लिए किए हुए त्याग का अन्तर अर्थात् उपभोक्ता का अतिरेक वस्तु की प्रत्येक इकाई पर कम होता जायगा। इसके स्पष्टीकरण के लिए उपर्युक्त उदाहरण में स० उ० में प्राप्त अतिरेक की तुलना वृ० उ० में प्राप्त अतिरेक से कीजिये।

इसके विपरीत द्रव्य ह्रासमान उपयोगिता होने पर वस्तु की प्रत्येक इकाई से प्राप्त उपयोगिता तथा उसके लिए किए हुए त्याग का अन्तर अर्थात् उपभोक्ता का अतिरेक बढ़ता जायगा। स० उ० और ह्रा० उ० की दशा में प्राप्त अतिरेकों की तुलना इसे स्पष्ट कर रही है।

ऊपर दी हुई सारिणी में द्रव्य की स० उ० की दशा में वस्तु की दूसरी तीसरी आदि इकाइयों से प्राप्त अतिरेक क्रमशः एक रुपया तथा ६३ न० पै० है। वृद्धिमान उपयोगिता की दशा में यह क्रमशः ७५ न० पै० तथा शून्य है तथा ह्रासमान उपयोगिता की दशा में यह क्रमशः एक रु० छः न. पै० तथा ७५ न० पै० है। इससे स्पष्ट है कि द्रव्य वृद्धिमान उपयोगिता की दशा में प्राप्त अतिरेक अपेक्षाकृत कम होता है तथा ह्रासमान उपयोगिता की दशा में प्राप्त अतिरेक अपेक्षाकृत अधिक होता है।

इन निष्कर्षों को चित्र द्वारा भी दिखाया जा सकता है।
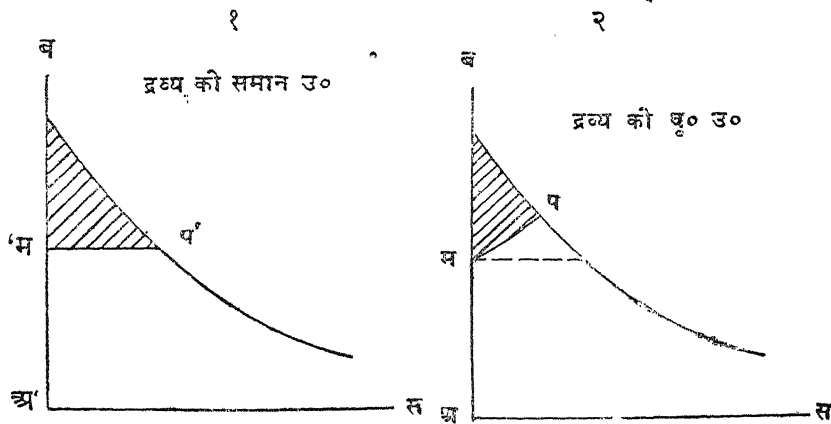
पहला, दूसरा तथा तीसरा चित्र क्रमशः द्रव्य की समान, वृद्धिमान तथा ह्रासमान उपयोगिता दिखा रहा है। पहले चित्र में त्याग की रेखा म प' अ स के समानान्तर सरल रेखा है क्योंकि द्रव्य की उपयोगिता समान है। दूसरे तथा तीसरे चित्र में त्याग की रेखा म प' क्रमशः दाहिनी ओर उठती हुई तथा दाहिनी ओर गिरती हुई है। ऐसा द्रव्य की वृद्धिमान तथा ह्रासमान उपयोगिता के कारण है। रंगे हुए भाग उपभोक्ता का अतिरेक दिखा रहे हैं जिन्हें देखने से स्पष्ट हो जाता है कि दूसरे तथा तीसरे चित्र का अतिरेक पहले चित्र के अतिरेक की तुलना में क्रमशः कम तथा अधिक है अर्थात् द्रव्य की वृद्धिमान उपयोगिता के समय में प्राप्त अतिरेक द्रव्य की समान उपयोगिता के समय में प्राप्त अतिरेक से कम हो जाता है और द्रव्य की ह्रासमान उपयोगिता के समय में प्राप्त अतिरेक द्रव्य की समान उपयोगिता के समय में प्राप्त अतिरेक से अधिक होता है।
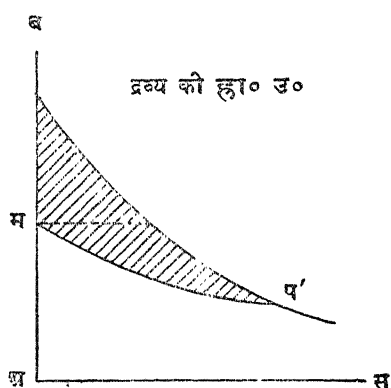
Ex-poste Approach

इस विधि में उपभोक्ता वस्तु को खरीदने के बाद अपने त्याग या द्रव्य की उपयोगिता पर विचार करता है। मान लीजिये उपभोक्ता ने वस्तु की पाँच इकाइयाँ खरीदी हैं। वस्तु की पाँचवों इकाई की उपयोगिता ५० न० पै० है। यही द्रव्य की पाँचवीं इकाई की भी उपयोगिता होगी क्योंकि उपभोक्ता वस्तु की इतनी इकाइयाँ खरीदता है ताकि द्रव्य और वस्तु की सीमान्त उपयोगितायें बराबर हो जायँ। वस्तु को खरीदने के बाद यदि उपभोक्ता महसूस करे कि उपयोगिता समान, वृद्धिमान या ह्रासमान है तो उपभोक्ता के अतिरेक पर निम्न प्रभाव पड़ेगा। यह याद रखना चाहिये कि इन तीनों परिस्थितियों में व्यय की पाँचवीं इकाई की उपयोगिता वस्तु की पाँचवीं इकाई की उपयोगिता के बराबर अर्थात् ५० न० पै० ही होगी।

१. द्रव्य की उपयोगिता समान होने पर द्रव्य की पाँचवीं, चौथी, तीसरी, दूसरी तथा पहली,——सभी इकाइयों की—उपयोगिता समान अर्थात् ५० न० पै० होगी अतः त्याग पूर्ववत् ही होगी और अतिरेक उतना ही होगा जितना कि पहली विधि में था।

२. यदि द्रव्य की उपयोगिता बढ़ रही है अर्थात् वृद्धिमान है तो पाँचवीं इकाई की उपयोगिता जो ५० न० पै० है, पहले की सभी इकाइयों से अधिक होगी। द्रव्य की इकाइयों की उपयोगिता कुछ इस प्रकार की होगी——

	उपयोगिता
पहली अठन्नी	१९ न०पै०
दूसरी ,,	२५ न०पै०
तीसरी ,,	३१ न०पै०
चौथी ,,	४४ न०पै०
पाँचवीं ,,	५० न०पै०

द्रव्य की समान उपयोगिता होने पर पहली, दूसरी, तीसरी, चौथी इकाइयों का त्याग भी ५० न० पै० था। उपर्युक्त उदाहरण में पहली चार इकाइयों का त्याग ५० न० पै० से कम है। वस्तु की उपयोगिता में कोई परिवर्तन नहीं होता परन्तु उसके लिये किया हुआ त्याग पहले की अपेक्षा कम है अतः प्राप्त उपयोगिता तथा उसके लिये किये हुये त्याग का अन्तर अर्थात् उपभोक्ता का अतिरेक बढ़ जायगा।

उदाहरण के लिये, वस्तु की पहली इकाई की उपयोगिता २) रु० है। द्रव्य की समान उपयोगिता होने पर उसके लिये किया हुआ त्याग ५० न० पै० है और उससे प्राप्त अतिरेक १) रु० ५० न० पै० है। द्रव्य की वृद्धिमान उपयोगिता होने पर वस्तु की उपयोगिता उतनी ही है अर्थात् दो रुपया है परन्तु उसके लिये किया हुआ त्याग केवल १९ न० पै० है (जो ५० न०पै० से कम है)। अतः अतिरेक १ रु० ८१ न० पै० है जो पहले की अपेक्षा अधिक है।

३. यदि द्रव्य की उपयोगिता ह्रासमान है तो द्रव्य की पाँचवीं इकाई की उपयोगिता (जो ५० न० पै० है) पूर्व इकाइयों की उपयोगिता से कम होगी। द्रव्य की ह्रासमान उपयोगिता कुछ इस प्रकार की होगी।

	उपयोगिता
पहली अठन्नी	१ रु० ५० नये पैसे
दूसरी ,,	१ रु० २५ ,,
तीसरी ,,	—९४ ,,
चौथी ,,	—६९ ,,
पाँचवीं ,,	—५० ,,

द्रव्य की समान उपयोगिता की तुलना में पहली चार इकाइयों से यहाँ अपेक्षाकृत अधिक त्याग हो रहा है। वस्तु की उपयोगिता में कोई परिवर्तन न होने के कारण तथा व्यय या द्रव्य की इकाइयों से वृद्धिमान त्याग होने के कारण उपभोक्ता का अतिरेक कम हो जायगा। हम ऊपर देख चुके हैं कि वस्तु की समान उपयोगिता होने पर उसकी पहली इकाई पर का अतिरेक १ रु० ५० नये पैसे था। वस्तु की उपयोगिता अब भी उतनी ही अर्थात् २ रु० है परन्तु उसके लिये, आवश्यक त्याग १ रु० ५० नये पैसे है अतः अतिरेक केवल ५० नये पैसे है जो पहले से कम है। इन तीनों निष्कर्षों को चित्र द्वारा भी दिखाया जा सकता है—
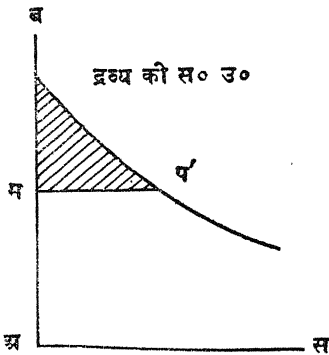
१

२
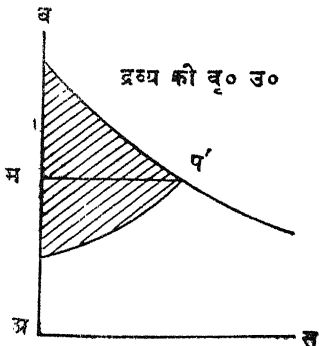
३
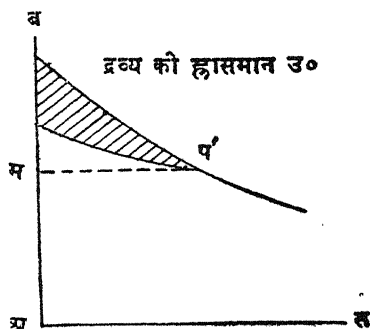
उपभोक्ता वस्तु की पाँच इकाइयाँ खरीद लेता है उसके बाद उनके लिये आवश्यक त्याग पर विचार करता है। समान उपयोगिता की दशा में प्राप्त अतिरेक उतना ही है जितना कि पूर्व विधि (ex-ante-approach) में था। वृद्धिमान तथा ह्रासमान उपयोगिता की दशा में प्राप्त अतिरेक में परिवर्तन हो जाता है। इसका कारण स्पष्ट है। द्रव्य की उपयोगिता पर वस्तु खरीदने से पूर्व ही विचार करने पर उपभोक्ता वस्तु की एक सी मात्रा नहीं खरीदेगा और वस्तु की सीमान्त उपयोगिता का सन्तुलन भिन्न-भिन्न स्थानों पर होगा। यहाँ तीनों दशाओं में उपभोक्ता वस्तु की एक ही मात्रा खरीदता है और द्रव्य और वस्तु की सीमान्त उपयोगिताओं का संतुलन एक ही मात्रा पर होता है इस कारण द्रव्य की वृद्धिमान और ह्रासमान उपयोगिताओं को दिखाने वाली रेखा म प′ चित्र २ और ३ में पूर्व विधि के इसी प्रकार के चित्रों की म प′ रेखा से एकदम भिन्न है। दूसरे चित्र में द्रव्य की उपयोगिता वृद्धिमान है और उपभोक्ता का अतिरेक बढ़ गया है, तीसरे चित्र में द्रव्य की उपयोगिता ह्रासमान है और अतिरेक कम हो गया है।

यह प्रश्न किया जा सकता है कि उपर्युक्त दोनों विधियों में कौन श्रेष्ठ है। यों तो दोनों ही विधियाँ शुद्ध हैं परन्तु व्यवहारिक दृष्टिकोण से पहली विधि अधिक समीचीन प्रतीत होती है। वस्तु को खरीदने से पूर्व ही उपभोक्ता उसको प्राप्त करने के लिये आवश्यक त्याग पर विचार कर लेता है। व्यवहार में जब हम कोई चीज खरीदते हैं तो हम पहले ही विचार कर लेते हैं कि उसके लिये जो दाम देने हैं वह उचित हैं या नहीं। दूसरे शब्दों में वस्तु के लिये आवश्यक त्याग पर हम पहले ही विचार कर लेते हैं। अत: पहली विधि व्यवहार के अधिक निकट है।

उपभोक्ता के अतिरेक की मापनीयता (Measurability of Consumer's Surplus)

मापनीयता के सम्बन्ध में बहुधा दो प्रश्न उठाये जाते हैं:—

(१) उपभोक्ता का अतिरेक कैसे मापा जाता है। (How is consumer's surplus measured ?)

(२) क्या उपभोक्ता का अतिरेक मापनीय है ? (Is consumer's surplus measurable ? or can it be measured ?)

ये दोनों प्रश्न एक दूसरे से भिन्न हैं। पहला प्रश्न मापने की विधि के सम्बन्ध में है तथा दूसरा मापने की कठिनाइयों के सम्बन्ध में है। वास्तव में जो कुछ ऊपर कहा गया है वही पहले प्रश्न का उत्तर है संक्षेप में उपभोक्ता का अतिरेक द्रव्य की इकाइयों में मापा जाता है। द्रव्य की समान, वृद्धिमान तथा ह्रासमान उपयोगिताओं की स्थिति में हम इसे दो विधियों (ex-ante and ex-poste) से माप सकते हैं। इनकी विस्तृत चर्चा ऊपर की जा चुकी है।

उपभोक्ता के अतिरेक के मापनीय होने या न होने का प्रश्न उपयोगिता की मापनीयता से सम्बन्धित है। हम 'उपभोग और उपयोगिता' के अध्याय में उपयोगिता को मापनीय मान चुके हैं, अतः उपभोक्ता का अतिरेक भी मापनीय है। इस पर सन्देह नहीं किया जा सकता क्योंकि यह अतिरेक दो उपयोगिताओं का अन्तर ही है। इस अतिरेक को सही सही मापने में कुछ कठिनाइयाँ अवश्य हैं अतः अधिक उचित तो यह प्रश्न होगा, क्या उपभोक्ता का अतिरेक सही-सही मापा जा सकता है ? या अधिक सरल रूप में, उपभोक्ता का अतिरेक मापने में क्या कठिनाइयाँ हैं ? नीचे हम इसी प्रश्न पर विचार करेंगे।

उपभोक्ता के अतिरेक को सही सही मापने में निम्न कठिनाइयों की अक्सर चर्चा की जाती है।

(१) ज्यों-ज्यों हम वस्तु की अधिकाधिक इकाइयाँ खरीदते जाते हैं त्यों-त्यों पहले खरीदी हुई वस्तुओं की उपयोगिता कम होती जाती है। उपभोक्ता का अतिरेक मापते समय हम पहले की इकाइयों की उपयोगिता में हुये परिवर्तन को ध्यान में नहीं रखते और इसलिये उसका माप सही नहीं हो सकता।

यह कठिनाई उस समय ठीक होती जब कि माँग की रेखा वस्तुओं की औसत उपयोगिता दिखाती; परन्तु वह अतिरिक्त उपयोगिता या सीमान्त उपयोगिता दिखाती है। वस्तुओं की अधिकाधिक इकाइयाँ खरीदने से वस्तु की प्रत्येक इकाई की (सीमान्त) उपयोगिता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। नीचे दिया हुआ उदाहरण देखिये।

नारंगी	कुल उपयोगिता	सीमान्त या प्रत्येक इकाई की उपयोगिता	औसत उपयोगिता
	रु०	रु०	रु०
१	५	५	५
२	८	३	४
३	९	१	३
४	९-५० नये पैसे	०-५० नये पैसे	२-३७ नये पै०

दो नारंगियाँ खरीदने पर पहली और दूसरी की अलग-अलग अर्थात् सीमान्त उपयोगिता क्रमशः ५ रु० और ३ रु० है। औसत उपयोगिता ४ रु० प्रति नारंगी है। जब तीन नारंगियाँ खरीदी जाती हैं तो पहली और दूसरी की सीमान्त उपयोगिता में कोई परिवर्तन नहीं होता परन्तु औसत उपयोगिता ४ रु० प्रति नारंगी से घटकर ३ रु० प्रति नारंगी हो जाती है अर्थात् प्रत्येक नारंगी—पहली, दूसरी, तीसरी की उपयोगिता ३ रु० है। अब पहले खरीदी हुई नारंगियों की उपयोगिता घट गई है। यह याद रखना चाहिये कि यह केवल औसत उपयोगिता के बारे में सच है। माँग

की रेखा वस्तुओं की सीमान्त उपयोगिता दिखाती है और अधिकाधिक इकाइयाँ खरीदने से पूर्व-इकाइयों की सीमान्त उपयोगिता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता । अतः मापनीयता के सम्बन्ध में उपर्युक्त कठिनाई भ्रमपूर्ण है ।

(२) जीवन-रक्षक अनिवार्यताओं (Necessaries for existence) के सम्बन्ध में अक्सर कहा जाता है कि दिये हुये समय में उनकी पहली इकाई की उपयोगिता अमापनीय होती है अतः उससे प्राप्त उपभोक्ता का अतिरेक भी अमापनीय है । इसी प्रकार सामाजिक श्रेष्ठता (Social distinction) की वस्तुओं की उपयोगिता भी अमापनीय है ।

(३) ऐसी दो वस्तुओं की जो एक दूसरे के लिए प्रतिस्थापित की जा सकती हैं, अलग-अलग उपयोगिता का योग उनकी कुल उपयोगिता से कम होता है । उदाहरण के लिये चाय और कहवा का परस्पर प्रतिस्थापन होता है । यदि चाय और कहवा दोनों ही न मिलें तो एक व्यक्ति की अनुपयोगिता, मान लीजिये, ५०रु०होगी । यदि केवल चाय न मिले तो अनुपयोगिता १५ रु० होगी और यदि कहवा न मिले तो उसकी अनुपयोगिता २० रु० होगी । चाय और कहवा की अलग अलग उपयोगिता का त्याग कुल ३५ रु० है जबकी उन दोनों का त्याग ५० रु० के बराबर है । ऐसी वस्तुओं के सम्बन्ध में उपभोक्ता के अतिरेक की मापनीयता, अनिश्चित हो जाती है ।

मापनीयता के सम्बन्ध में इस कठिनाई का हल प्रो० मार्शल ने किया है । ऐसी स्थिति में वे दोनों वस्तुओं के समूह को एक ही मान लेते हैं ।

(४) मार्शल ने उपभोक्ता का अतिरेक मापते समय द्रव्य की उपयोगिता को स्थिर मान लिया था । व्यवहारिक जीवन में द्रव्य की उपयोगिता स्थिर नहीं रहती । इसके अतिरिक्त द्रव्य की उपयोगिता भिन्न व्यक्तियों के लिये भिन्न होती है, अतः हम एक व्यक्ति के अतिरेक की तुलना दूसरे व्यक्ति के अतिरेक से नहीं कर सकते ।

मार्शल का अनुमान व्यवहार में भले ही एक दम खरा न उतरता हो परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि एक वस्तु के खरीदने में हम द्रव्य की इतनी थोड़ी मात्रा का प्रयोग करते हैं कि उसकी उपयोगिता को स्थिर मानने में नगण्य अशुद्धि ही होती है । इसके अतिरिक्त हम द्रव्य की वृद्धिमान एवम् ह्रासमान उपयोगिता के समय भी अतिरेक को माप कर दिखा चुके हैं । दूसरा आक्षेप अतिरेक की मापनीयता के सम्बन्ध में न होकर उसकी तुलनात्मकता के सम्बन्ध में है । इस विषय पर हम नीचे विचार करेंगे ।

(५) उपभोक्ता की चैतन्यता, अभिरुचि आदि में इतनी विभिन्नता होती है कि एक ही आय वाले दो व्यक्तियों का एक ही वस्तु से प्राप्त अतिरेक भिन्न होगा। वास्तव में अतिरेक की यह भिन्नता उसकी मापनीयता में कोई बाधा नहीं डालती ।

यह अवश्य है कि अभिरुचि की विभिन्नता के कारण दोनों व्यक्तियों को एक ही वस्तु से भिन्न भिन्न उपयोगिता मिलेगी तथा उसके लिये किया हुआ त्याग भी भिन्न होगा परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि अतिरेक मापनीय नहीं है।

तुलनात्मक की यह कठिनाई एक व्यक्ति के स्थानपर व्यक्ति-समहों (aggregate of consumers) को लेने से दूर हो सकती है। यदि हम ऐसे दो समूह लें तो दोनों समूहों के उपभोक्ताओं की स्वभाव-वैचित्र्यता परस्पर संतुलित हो जायगी और उनके अतिरेक की तुलना सरलता से की जा सकेगी।

(६)उपभोक्ता का अतिरेक मापने के लिये जिस माँग की रेखा का प्रयोग होता है वह मुख्यतया अनुमानशील होती है। यथार्थ में उस रेखा का कुछ भाग—उन मूल्यों को दिखाने वाला भाग जो प्रचलित है—ही वास्तविक होता है। अतः इस काल्पनिक माँग की रेखा के सहारे मापा हुआ उपभोक्ता का अतिरेक काल्पनिक ही होगा। उसे अतिरेक का सही माप नहीं कहा जा सकता।

माँग की रेखा की अनुमानशीलता के आधार पर उपभोक्ता का अतिरेक अमापनीय नहीं ठहराया जा सकता और न यही कहा जा सकता है कि उसे सही सही नहीं मापा जा सकता। माँग की रेखा उन सभी मूल्यों को दिखाती है जो एक उपभोक्ता वस्तु के लिये देने को तैयार होता। उसका अतिरेक इन दोनों मूल्यों का अन्तर—जो वह देने को तैयार होता तथा जो वह वास्तव में देता है।

उपभोक्ता के अतिरेक की मापनीयता के सम्बन्ध में जो कठिनाइयाँ उठाई गई हैं उन्हें देखने से विदित होगा कि उनमें से अनेक भ्रमपूर्ण हैं। अनेक अर्थशास्त्रियों ने इस विचार को उपर्युक्त आधारों (मापनीयता की कठिनाइयों के आधार पर) पर बड़ी आलोचना की है। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य आलोचनायें भी की गई हैं।

अन्य आलोचनायें

प्रो० निकलसन (Prof. Nicholson) के मतानुसार यह विचार एकदम काल्पनिक और अवास्तविक है। उनके अनुसार यह कहना कि सौ पौण्ड की उपयोगिता एक हजार पौण्ड की है, निरर्थक है।

इस विचार की सार्थकता—विशेष कर उपर्युक्त या इस प्रकार के कथन की सार्थकता दो स्थानों की आर्थिक दशा की तुलना में है। उदाहरण के लिये—जैसा की प्रो० मार्शल ने भी कहा है—यदि दक्षिणी अफ्रीका में एक हजार पौण्ड की आये वाले व्यक्ति को वे सुविधायें प्राप्त नहीं हैं जो लन्दन में सौ पौण्ड की आय वाले व्यक्ति को प्राप्त हैं, तो उस दशा में उपर्युक्त प्रकार के कथन की सार्थकता प्रतीत होगी।

यह स्पष्ट ही है कि उपभोक्ता का अतिरेक उपयोगिता की मापनीयता पर निर्भर है। कुछ आधुनिक अर्थशास्त्री उपयोगिता को अमापनीय मानते हैं और इस आधार पर

उपर्युक्त विचार की आलोचना करते हैं। इस दोष को दूर करने के उद्देश्य से प्रो० हिक्स ने उपभोक्ता के अतिरेक को दोनों विधियों (ex-ante and ex-poste) से सम-संतुष्टि वक्र या तटस्थता वक्र द्वारा मापा है।[1]

क्या उपभोक्ता का अतिरेक एकदम काल्पनिक है? (Is the concept entirely fictitious)

उपर्युक्त आलोचनाओं के आधार पर कुछ अर्थशास्त्री तो यहाँ तक कहते हैं कि उपभोक्ता का अतिरेक कल्पना-मूलक है। उनका कहना है कि इस विचार में यह मान लिया गया है कि

१. वस्तुओं की उपयोगिता द्रव्य की इकाइयों में सही-सही मापी जा सकती है और इसीलिये अतिरेक भी मापा जा सकता है।

२. वस्तुओं की विभिन्न इकाइयों की उपयोगिता भी भिन्न-भिन्न मान ली गई है।

आलोचकों का कथन है कि यह दोनों अनुमान अनुचित है। अतिरेक की मापनीयता की कठिनाइयों की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। एक वस्तु की विभिन्न इकाइयाँ एक सी ही होती हैं और उनमें से किसी का भी उपयोग पहले या बाद में हो सकता है अतः प्रत्येक इकाई की उपयोगिता बराबर होगी। इस दशा में अतिरेक होगा ही नहीं। यदि एक व्यक्ति तीन नारंगियाँ खरीदता है जिनका मूल्य ६ नये पैसे प्रति नारंगी है तो यह निश्चित है कि तीसरी नारंगी की उपयोगिता भी ६ नये पैसे ही होगी क्योंकि तभी वस्तु और द्रव्य की सीमान्त उपयोगिता बराबर होगी। यदि प्रत्येक नारंगी की उपयोगिता बराबर है तो नारंगियों से प्राप्त उपयोगिता १९ नये पैसे होगी और (द्रव्य की उपयोगिता समान या स्थिर होने पर) उसके लिये किया हुआ त्याग भी १९ नये पैसे होगा। इस दशा में इन दोनों का अन्तर शून्य होगा। अतः उपभोक्ता का अतिरेक कोरी कल्पना है।

यह मत भ्रमपूर्ण है। मापनीयता की कठिनाइयों के कारण विचार को कल्पनिक नहीं कहा जा सकता। जहाँ तक वस्तु की इकाइयों की भिन्न उपयोगिता मानने का प्रश्न है वह सर्वथा तर्कयुक्त है। ह्रासमान उपयोगिता की चर्चा करते समय हम यह कह चुके हैं कि ज्यों-ज्यों वस्तु की मात्रा बढ़ती जाती है प्रत्येक अतिरिक्त इकाई की उपयोगिता घटती जाती है। प्रत्येक इकाई की औसत उपयोगिता एक हो सकती है परन्तु सीमान्त उपयोगिता एक नहीं होती। वस्तु का मूल्य और सीमान्त उपयोगिता बराबर होती है। ६ नये पैसे तीसरी नारंगी की (सीमान्त) उपयोगिता है। वह नारंगियों की औसत उपयोगिता नहीं है, अतः पहली और दूसरी नारंगी की उपयोगिता

---

[1] **सम सन्तुष्टि वक्रों द्वारा उपभोक्ता के अतिरेक का अध्ययन बी० ए० के पाठ्यक्रम में नहीं है।**

६ नये पैसे नहीं होगी। इसलिय यह कहना कि उपभोक्ता का अतिरेक एकदम काल्पनिक है, समीचीन नहीं है। इसके विपरीत इस विचार का व्यवहारिक महत्व या उसके लाभ इस धारणा को असत्य सिद्ध करते हैं।

उपभोक्ता के अतिरेक का महत्त्व (Importance of the Concept or Advantages of Consumer's Surplus)

उपभोक्ता का अतिरेक अर्थशास्त्र का एक महत्वपूर्ण विचार है। उसका व्यवहारिक महत्त्व अनेक क्षेत्रों में व्याप्त है।

(१) इस विचार की सहायता से किन्हीं दो देशों के आर्थिक विकास की तुलना की जा सकती है। जिस देश का आर्थिक विकास अधिक होगा वहाँ के निवासियों का उपभोक्ता का अतिरेक भी अधिक होगा।

(२) सरकार की कर नीति इस विचार से भली प्रकार निर्देशित की जा सकती है। प्रत्येक कर उपभोक्ता के अतिरेक को कम करता है। उपभोक्ताओं के त्याग को कम से कम रखने के लिये सरकार कर-नीति इस प्रकार व्यवस्थित कर सकती है कि उपभोक्ताओं के अतिरेक में न्यूनतम कमी हो।

(३) उपभोक्ता के अतिरेक द्वारा किसी वस्तु के मूल्य परिवर्तन से उपभोक्ताओं पर पड़ा हुआ प्रभाव जाना जा सकता है। यदि वस्तु के मूल्य परिवर्तन से अतिरेक में वृद्धि होती है तो यह परिवर्तन उसके लिए हितकर है अन्यथा नहीं। इसी प्रकार किसी वस्तु के मूल्य परिवर्तन द्वारा समाज के विभिन्न वर्गों पर पड़ा हुआ प्रभाव बड़ी सरलता से जाना जा सकता है।

(४) एकाधिकारी (monopolist) के लिये भी यह विचार विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है। उपभोक्ता के अतिरेक को देखकर वह अपना लाभ अधिकतम करने के लिए मूल्यों को बड़ी सरलता से घटा बढ़ा सकता है। यदि किसी वस्तु से उपभोक्ता का अतिरेक अत्यधिक हो, तो एकाधिकारी उसका मूल्य बड़ी सरलता से बढ़ा सकता है क्योंकि उस दशा में अतिरेक की थोड़ी कमी के कारण बढ़ा हुआ मूल्य उपभोक्ता को नहीं खलेगा।

(५) इस विचार से एक लाभ यह है कि इसके द्वारा प्रयोग-मूल्य (value-in-use) तथा विनिमय-मूल्य (value-in-exchange) का अन्तर स्पष्ट हो जाता है। एक वस्तु से प्राप्त उपयोगिता (value-in-use) कुछ और होती है तथा उसके लिये दिया हुआ मूल्य (value-in -exchange) कुछ और। इसी कारण उपभोक्ता का अतिरेक प्राप्त होता है।

(६) उपभोक्ता के अतिरेक द्वारा हम अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभ का भी अनुमान लगा सकते हैं। जो वस्तु अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के कारण हमें अपेक्षाकृत

सस्ते दामों पर मिल जाती है, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के अभाव में हम उसके लिये कहीं अधिक मूल्य देने को प्रस्तुत हो जाते। इस अन्तर के कारण प्राप्त उपभोक्ता का अतिरेक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से प्राप्त उपभोक्ताओं के लाभ को मापता है।

EXERCISES

1. Explain Consumer's Surplus. Can it be measured ? Give the importance of the concept. Agra. U. P. I 1953.

2. Write a short note on "Consumer's Surplus."

Agra U. (1950, 1953).

3. Explain fully what is meant by Consumer's Surplus ? How far is it capable of being measured in terms of money. Use diagrams or table of figures to illustrate your answers.

Agra U. (1952).

4. Critically examine the notion of Consumer's Surplus. Some say that Consumer's Surplus is fictitious. Do you agree with this statement ?

Rajputana U. (1941).

5. State and explain with the help of a diagram the concept of Consumer's Surplus. Is the concept entirely fictitious ?

Agra U. B. Com. (1952).

6. Explain the concept of Consumer's Surplus and bring out its bearing on the practical problems of economic life.

Agra U. B. Com. (1940).

ALLAHABAD UNIVERSITY

1. Explain fully the concept of Consumer's, Surplus. Explain its importance. On what grounds has it been criticized ?

Allad. U. B A. (1953.)

2. Do you think that the concept of Consumer's Surplus rests necessarily on the assumption of constant marginal utility of money ? Allad. U. (1941).

प्यालों की संख्या	सी० उ०	कुल उपयोगिता
१	६ इकाइयाँ	६ इकाइयाँ
२	५ ,,	११ ,,
३	२ ,,	१३ ,,

यह उपयोग की क्रिया है किन्तु इसमें कुल उपयोगिता क्रमशः बढ़ रही है अतएव उत्पादन का अभिप्राय कुल उपयोगिता के वृद्धिमान होने से नहीं हो सकता परन्तु उत्पादन की उपर्युक्त परिभाषा इस तथ्य को स्पष्ट नहीं करती।

"जब हम किसी क्रिया को एक ऐसी आवश्यकता के दृष्टिकोण से देखते हैं जिसके निवारण में उस क्रिया से प्रति इकाई क्रमशः वृद्धिमान उपयोगिता प्राप्त हो, तो उसे उत्पादन कहते हैं।"[१]

उत्पादन की उपर्युक्त परिभाषा अधिक स्पष्ट है इसके अनुसार केवल वही क्रियायें उत्पादन के अन्तर्गत हैं जिनकी सीमान्त उपयोगिता क्रमशः बढ़ती जा रही हो। इस प्रकार की परिभाषा में उत्पादन और उपभोग का अन्तर स्पष्ट है। यदि एक व्यक्ति को एक स्टूल बनाने में ३ घंटे का समय लगता है (यहाँ स्टूल बनाना वह आवश्यकता है जिसके निवारण के दृष्टिकोण से क्रिया का अध्ययन किया जा रहा है) और यदि प्रति घंटा उपयोगिता क्रमशः १०, १५, २२ इकाइयाँ हैं अर्थात् वृद्धिमान सीमान्त उपयोगिता है तो, यह क्रिया उत्पादन है।[२] इसके विपरीत यदि तीन प्याली चाय से

---

१ An activity is called production when it is looked at from the point of view of that want in the process of removal of which it yields unit by unit, increasing satisfaction.

—Ground work of Economics. J. K. Mehta

२. कुछ विद्वानों ने उत्पादन को 'अर्घ का सृजन' (creation of value) कहा है। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि अर्घ से उनका अर्थ क्या है? क्या वे अर्घ का उपयोगिता (value-in-use) के अर्थ में प्रयोग कर रहे हैं या विनिमय-अर्घ (Value-in-Exchange) के अर्थ में। यदि हम पहले अर्थ को लें तब उत्पादन की परिभाषा 'उपयोगिता का सृजन' हो जाती है जिसकी आलोचना हम ऊपर कर चुके हैं। दूसरे अर्थ में परिभाषा 'विनिमय अर्घ का सृजन' हो जाती है जो सीमित है क्योंकि मनुष्य की क्रियायें विनिमय-अर्घ के लिये ही नहीं होती। एक चित्रकार अपने सुख के लिये भी चित्र बनाता है। ज्यों-ज्यों उसका चित्र पूरा होता जाता है, त्यों-त्यों उसकी संतुष्टि अथवा उपयोगिता बढ़ती जाती है। स्पष्ट ही यह उत्पादन की क्रिया है; परन्तु विनिमय अर्घ के सृजन की कसौटी के आधार पर इसे छोड़ना पड़ेगा।

क्रमागत उपयोगिता ६, ५, और २, इकाइयाँ हो तो ह्रासमान सीमान्त उपयोगिता के कारण यह उपभोग की क्रिया है।

इस परिभाषा की एक और विशेषता है। इसके अनुसार हम एक ही क्रिया को उत्पादन अथवा उपभोग के दृष्टिकोण से देख सकते हैं। यदि हम किसी क्रिया को वृद्धिमान सीमान्त उपयोगिता के दृष्टिकोण से देखें तो वह उत्पादन कहलायेगी। परन्तु वही क्रिया ह्रासमान सीमान्त उपयोगिता के दृष्टिकोण से उपभोग कहलायेगी। वास्तव में कोई क्रिया सम्पूर्णतः उत्पादन अथवा उपभोग की क्रिया नहीं होती। प्रत्येक में उत्पादन-पक्ष (production-aspect) तथा उपभोग पक्ष(consumption-aspect) होता है। व्यवहार में जब हम किसी क्रिया को वृद्धिमान सीमान्त उपयोगिता के दृष्टिकोण से देखते हैं तो यह उसका उत्पादन-पक्ष है, यद्यपि सुविधा के लिए बहुधा उसे उत्पादन कहा जाता है। एक उदाहरण से यह बात और भी स्पष्ट हो जायगी। मान लीजिये हम एक व्यक्ति की रोटी खाने की क्रिया का अध्ययन कर रहे हैं। प्रत्येक रोटी से प्राप्त ह्रासमान सीमान्त उपयोगिता अथवा सन्तुष्टि के अनुसार इस क्रिया का उपभोग पक्ष हमारे सम्मुख आयेगा और साधारणतया हम इसे उपभोग कहेंगे। यदि हम इस क्रिया से प्राप्त शारीरिक शक्ति के दृष्टिकोण से इसका अध्ययन करें तो सम्भवतया प्रत्येक रोटी से प्राप्त सीमान्त उपयोगिता बढ़ती होगी क्योंकि प्रत्येक रोटी पहली की अपेक्षा शारीरिक शक्ति बढ़ाने में अधिक मदद करेगी। इस दशा में उपर्युक्त क्रिया का उत्पादन-पक्ष हमारे सामने आता है। इस दृष्टिकोण से देखने पर हम इसे उत्पादन कहकर पुकारते हैं। यह दोनों दृष्टिकोण लगभग प्रत्येक क्रिया के बारे में अपनाये जा सकते हैं क्योंकि प्रत्येक क्रिया अथवा वस्तु एक से अधिक आवश्यकता की सन्तुष्टि करती हैं। हमारा निष्कर्ष यह है कि प्रत्येक क्रिया के उत्पादन और उपभोग पक्ष होते हैं। दृष्टिकोण विशेष से देखने पर हम उसे उत्पादन अथवा उपभोग की क्रिया कहते हैं।

उत्पादन के साधन (Factors of Production)

उत्पादन के साधनों में सामान्यतः निम्नांकित का समावेश किया जाता है।

१. भूमि (Land)—प्रकृति की देन (free gift o' nature)

२. श्रम (Labour)—शारीरिक परिश्रम द्वारा किया हुआ त्याग

३. पूँजी (Capital)—प्रतीक्षा (waiting) द्वारा किया हुआ त्याग

४. संगठन (Organisation)—मानसिक परिश्रम द्वारा किया हुआ त्याग

५. साहस अथवा जोखिम (Enterprise)—खतरे उठाने का त्याग

यदि उपर्युक्त उत्पादन के साधनों पर विचार किया जाय तो एक बात एकदम

स्पष्ट हो जायेगी। भूमि[1] प्रकृति की देन है वह मुक्त देन (free gift) है, उसमें किसी प्रकार का त्याग निहित नहीं है। शेष चारों साधनों में त्याग (sacrifice) सामान्य रूप से विद्यमान है। अतः भूमि एवं अन्य साधनों में एक आधारभूत अन्तर है। भूमि त्याग रहित है, अन्य साधन त्याग के ही विभिन्न रूप हैं। जब भूमि एवम् अन्य साधनों में इस प्रकार का मौलिक अन्तर है तब इन पाँचों को एक ही वर्ग, उत्पादन के साधन के वर्ग, में नहीं रखा जा सकता। उत्पादन की परिभाषा देते हुए हम उसे एक क्रिया बता चुके हैं, उत्पादन के साधन स्पष्टतया इस क्रिया में भाग लेंगे, वे सक्रिय होंगे। मानसिक परिश्रम, शारीरिक परिश्रम आदि द्वारा किये हुये त्याग इसी प्रकार के हैं। भूमि अथवा प्रकृति की देन इस अर्थ में भी अन्य साधनों से भिन्न है। वह एक देन है, अतः सक्रिय होना––त्याग करना––उसकी विशेषता नहीं है। (भूमि को छोड़कर) उत्पादन के साधनों की समान विशेषता त्याग करना है।

अब हम उत्पादन के साधन की परिभाषा देने को प्रस्तुत हैं परन्तु परिभाषा ऐसी होनी चाहिए, जो उनमें व्याप्त विशेषताओं को हमारे समक्ष रखें। यह व्यापक-विशेषता उत्पादन के साधनों में निहित त्याग है।

परिभाषा

अतः उत्पादन को परिभाषा एवम् साधनों की व्यापक विशेषता के आधार पर हम कह सकते हैं कि उत्पादन के साधन वह हैं जो उत्पादन के लिये त्याग करते हैं। इस परिभाषा के अनुसार भूमि उत्पादन का साधन नहीं है। वह त्याग रहित है; उसमें उत्पादन के साधनों की समान विशेषता––त्याग––विद्यमान नहीं है। अतः भूमि को उत्पादन का सहायक भले ही कह लें, साधन नहीं कह सकते। इस प्रकार उत्पादन के साधन कुल चार हैं (१) श्रम, (२) पूँजी, (३) संगठन और (४) साहस।

उत्पादन के साधनों के दो प्रकार

उपर्युक्त परिभाषा के आधार पर उत्पादन के साधनों के ऊपर दिये विभाजन को अस्वीकार नहीं किया जा सकता परन्तु अनेक अर्थशास्त्रियों ने भूमि को, यद्यपि वह उपर्युक्त अर्थ में उत्पादन का साधन नहीं है, उत्पादन के साधनों के अन्तर्गत ही रक्खा है। ऐसा करना केवल तभी सम्भव हो सकता है जब हम भूमि को उत्पादन के साधनों का दूसरा प्रकार मान लें; क्योंकि पूर्व अर्थ में हम उसे उत्पादन के साधनों के अन्तर्गत नहीं रख सकते। उत्पादन के साधनों के इन प्रकारों को देखने के लिए हमें 'त्याग' (sacrifice) पर विचार करना होगा।

---

[1] **अर्थशास्त्र में भूमि शब्द का प्रयोग एक विशेष अर्थ में होता है। उसका अर्थ केवल जमीन या धरातल समझ लेना भूल होगी। "भूमि" के अध्याय में इसका अर्थ स्पष्ट हो जायगा।**

एक श्रमिक का उदाहरण लीजिये। मान लीजिये इसे ५०) माहवार मजदूरी अर्पित की जाती है। यह कार्य स्वीकार करने से पूर्व वह अवश्य सोचेगा कि यदि वह अन्यत्र काम करता तो उसे कितना मिलता। यदि वह विचारने पर उपर्युक्त मजदूरी उचित समझेगा तो काम करना स्वीकार कर लेगा ; परन्तु ऐसा करने में दूसरी जगह काम करने का अवसर और इसलिये वहाँ मिलने वाली मजदूरी, उसे छोड़नी—त्यागनी—होगी। अत: श्रमिक को एक जगह का काम करने में दूसरी जगह काम करने का अवसर त्यागना पड़ता है। यही उसका त्याग अथवा अवसर-त्याग है। त्याग का दूसरा नाम लागत है अत: हम त्याग को अवसर-लागत (opportunity cost) के नाम से पुकार सकते हैं। यह स्पष्ट ही है कि त्याग अथवा अवसर-लागत श्रम के अनेक प्रयोग होने के कारण ही होती है। यदि श्रम का केवल एक ही प्रयोग हो तो श्रमिक एक ही स्थान पर काम कर सकेगा और ऐसा करने में उसे कोई अवसर नहीं त्यागना पड़ेगा। श्रम, पूँजी, संगठन और साहस सभी में अवसर लागत निहित हैं, सभी के एक से अधिक प्रयोग हैं। अब भूमि पर विचार कीजिये।

भूमि प्रकृति की देन है। उसमें किसी प्रकार का त्याग नहीं है अथवा यों कहिये (क्योंकि त्याग को अवसर लागत भी कहते हैं) कि भूमि में कोई अवसर लागत नहीं है। हम ऊपर कह चुके हैं कि अवसर-लागत एक से अधिक प्रयोग होने के कारण होती है अत: अवसर-लागत न होने का अर्थ है कि भूमि का एक से अधिक प्रयोग नहीं है अर्थात् केवल एक ही प्रयोग है। केवल एक ही प्रयोग के गुण को विशिष्टता (specificity) कहते हैं। विशिष्टता त्याग रहित होने का ही दूसरा नाम है।

हम यह भी जानते हैं कि भूमि या प्रकृति की देन उत्पादन में हमारी सहायता करती है। अब हम कह सकते हैं कि भूमि विशिष्ट (त्याग-रहित) उत्पादन का साधन (specific factor of production) है। विशिष्ट विशेषण के प्रयोग से यह स्पष्ट हो जाता है कि भूमि उसी अर्थ में उत्पादन का साधन नहीं है जिसमें श्रम, पूँजी इत्यादि हैं। श्रम पूँजी आदि अविशिष्ट उत्पादन के साधन (non-specific factor of production) हैं। अविशिष्टता त्याग का ही दूसरा नाम है। उत्पादन के साधनों के इस विभाजन से हम भूमि को उत्पादन के साधनों में सम्मिलित करते हुए भी उसकी विभिन्नता स्पष्ट रूप से बतला देते हैं। उसे केवल उत्पादन का साधन कहने में शंका उत्पन्न हो सकती थी। विशिष्ट उत्पादन का साधन कहने से ऐसी कोई सम्भावना नहीं रहती। इस प्रकार भूमि को उत्पादन का साधन कहने की परम्परा का भी निर्वाह हो जाता है और उसकी विशिष्टता भी स्पष्ट हो जाती है।

अब हम कह सकते हैं कि उत्पादन के साधन दो[1] प्रकार के होते हैं विशिष्ट (specific) तथा अविशिष्ट (non-specific) उनके अन्तर्गत विभिन्न साधन इस प्रकार हैं—

१. विशिष्ट उत्पादन के साधन—(१) भूमि

२. अविशिष्ट उत्पादन के साधन—(१) श्रम (२) पूँजी (३) संगठन और (४) साहस

सभी साधन आवश्यक हैं (All Factors of Production are Necessary)

यहाँ एक बात का स्पष्ट कर देना अत्यन्त आवश्यक है। उत्पादन के लिए विशिष्ट एवम् सभी अविशिष्ट साधनों के योग की आवश्यकता होती है। कुछ कल्पित परिस्थितियों में ऐसा सम्भव हो सकता है कि साहस अथवा जोखिम की आवश्यकता न पड़े। भविष्य की अनिश्चयता के कारण ही जोखिम उठानी पड़ती है। यदि हम ऐसी स्थिति* की कल्पना करें जहाँ भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों एक से ही हों तो वहाँ अनिश्चयता का प्रश्न ही नहीं उठेगा और इसलिए जोखिम अनावश्यक हो जायगी। ऐसी परिस्थितियों को छोड़कर अन्यत्र हर साधन का होना जरूरी है। एक कुली का उदाहरण लीजिए। उसकी क्रियाओं को आप सम्भवतया श्रम कहेंगे। परन्तु ऐसा कहना भूल होगी। बोझा ढोने के कार्य में श्रम के अतिरिक्त अन्य बातें भी हैं।

---

[1] **कुछ अर्थशास्त्रियों के अनुसार उत्पादन के साधनों की संख्या केवल दो है।**

(१) भूमि, जो प्रकृति प्रदत्त है तथा

(२) श्रम, जो मानवीय त्याग है।

यहाँ यह बता देना उचित होगा कि इनके मतानुसार अन्य साधन श्रम के ही परिवर्तित रूप हैं। उदाहरण के लिये पूँजी श्रम का ही परिवर्तित रूप है। संगठन केवल मानसिक श्रम है। यह सच है, परन्तु ऐसा केवल इसलिए है कि सभी त्याग के ही विभिन्न रूप हैं। इस अर्थ में यह विभाजन हमारे ऊपर दिये हुये विभाजन का समानार्थी है जिसमें अविशिष्ट साधनों के अन्तर्गत उन साधनों का समावेश हुआ था जिसमें त्याग (अवसर-लागत) निहित था तथा दूसरे के अंतर्गत भूमि का समावेश हुआ था। यह विभाजन इसी दृष्टिकोण से सही ठहराया जा सकता है अन्यथा नहीं; क्योंकि अन्य साधनों को श्रम का परिवर्तित रूप कहते समय हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि उनके रूप में बहुत अन्तर है और इसलिये उनका अलग अलग रखना बहुत आवश्यक है। उदाहरण के लिये एक श्रमिक का शारीरिक परिश्रम, जिसे श्रम कहते हैं, साहसोद्यमी (entrepreneur) के जोखिम से बहुत भिन्न है।

***ऐसी स्थिति को स्थैतिक दशा (static state) कहते हैं।**

कुली को बोझा उठाने से पूर्व कुछ सोच विचार—मानसिक श्रम—करना पड़ता है कि वह कितना सामान सिर पर रखे कितना बाहों पर। सामान इस तरह से रखा जाय कि वह गिर न पड़े। स्पष्ट है कि सामान को संतुलित करके रखने की सावधानी संगठन है तथा उसे गिरने न देने की आशा में ही जोखिम है। सामान गिरने पर दाम न मिलने के साथ साथ फटकार मिलने का भी भय है। कुली के वजन उठाने की क्षमता उसकी शक्ति पर निर्भर है जो सम्भवतया उसके माँ बाप द्वारा उस पर खर्च की हुई पूँजी के फलस्वरूप है। प्रकाश, आदि उसके कार्य को और भी सुगम कर देते हैं। इसके लिए उसे कोई त्याग नहीं करना पड़ता। इस प्रकार भूमि का योग भी स्पष्ट है।

वर्तमान अर्थशास्त्र प्रत्येक व्यक्ति की आय में हर उत्पादन के साधन का प्रतिफल स्वीकार करता है। एक कारखाने में काम करने वाले व्यक्ति की आय, मान लीजिये वह १०० रु० माहवार है, में भी हर साधन का भाग मौजूद है।

उदाहरणार्थ

मजदूरी	६०)	श्रम के लिए
ब्याज	२०)	पूँजी के लिए
वेतन	७)	संगठन के लिए
साहस	५)	जोखिम के लिए
लगान	८)	भूमि से प्राप्त
	१००)	कुल माहवारी आय

व्यवहार में जब हम किसी व्यक्ति को मजदूर (श्रमिक) कहकर पुकारते हैं तो उसका अर्थ यह समझना चाहिये कि उस व्यक्ति के त्याग का मुख्य भाग श्रम के अन्तर्गत है। ऊपर दिये उदाहरण वाले व्यक्ति को हम व्यवहार में मजदूर कहकर पुकारेंगे क्योंकि उसके त्याग में श्रम बहुत महत्त्वपूर्ण है।

साधनों के विभाजन की आलोचना (Criticism of the classification of the factors production)

कुछ अर्थशास्त्रियों[1] ने उत्पादन के साधनों के उपर्युक्त विभाजन को दोषपूर्ण ठहराया है। उनका कहना है कि उत्पादन के साधनों का विभाजन तभी सही माना जा सकता है जब प्रत्येक साधन के अन्तर्गत उस साधन की इकाइयाँ एक रूप हों तथा एक साधन दूसरे साधन से भिन्न हो। ऐसा न होने पर विभाजन वैज्ञानिक नहीं ठहराया जा सकता। उपर्युक्त विभाजन दोनों ही प्रकार से दोषपूर्ण

---

1. See Davenport 'Economics of Enterprise' Benham, 'Economics' pp. 110-112.

हैं। श्रम को लीजिये। श्रमिकों द्वारा किए हुए त्याग को एक रूप नहीं माना जा सकता। एक ही कारखाने में काम करने वाले दो श्रमिक एक सा ही और बराबर काम करते हैं, यह नहीं कहा जा सकता। इसके अतिरिक्त साधनों में कोई पारस्परिक विभिन्नता भी प्रतीत नहीं होती। हम श्रम के स्थान पर पूँजी (मशीन आदि) तथा पूँजी के स्थान पर श्रम का प्रयोग कर सकते हैं। एक के स्थान पर दूसरे का प्रयोग होता भी है। जब उत्पादक देखता है कि श्रमिकों की संख्या कम करके तथा उनके स्थान पर मशीन के प्रयोग से लागत कम होगी, तो वह श्रमिकों को हटाकर उनके स्थान पर मशीन का प्रयोग करता है। अतः श्रम और पूँजी विभिन्न होने के बजाय एक से ही प्रतीत होते हैं।

हम उपर्युक्त आलोचना को स्वीकार नहीं करते। जहाँ तक दो श्रमिकों के श्रम का प्रश्न है वह एक रूप ही है। दोनों शारीरिक परिश्रम द्वारा ही त्याग करके उत्पादन में योग देते हैं। उनका इकाइयों में अत्यन्त विशुद्ध रूप से विभाजन न होना एक दार्शनिक कठिनाई (philosophical difficulty) है जो हर क्षेत्र में समान रूप से विद्यमान है। टकसाल से हाल में ही निकले हुए कोई एक से दो सिक्के ले लीजिये। वे भी एक दूसरे से भिन्न हैं। अन्तर केवल इतना है कि उनकी विभिन्नता देखने के लिये हमें किसी अच्छी खुर्दबीन की सहायता लेनी पड़ेगी। श्रम के स्थान पर पूँजी के प्रयोग का यह अर्थ नहीं है कि श्रम और पूँजी में कोई विभिन्नता नहीं है। वास्तव में श्रम और पूँजी की पारस्परिक अदला-बदली केवल इसलिये ही की जाती है कि एक वस्तु न्यूनतम लागत से उत्पन्न की जा सके। एक ऐसा अनुपात होता है जिसके अनुसार साधनों का प्रयोग करने से लागत न्यूनतम हो जाती है। श्रम का पूँजी के स्थान पर प्रयोग अथवा पूँजी का श्रम के स्थान पर प्रयोग इस अनुपात को प्राप्त करने के लिए ही किया जाता है। यदि इन दोनों में कोई विभिन्नता न होती तो केवल श्रम अथवा पूँजी की सहायता से ही उत्पादन सम्भव हो सकता था। इसके अतिरिक्त उपर्युक्त विभाजन में कुछ विशेषतायें भी हैं जिसके कारण उसे स्वीकार करना उचित प्रतीत होता है। इस विभाजन के अनुसार हम मनुष्य की आय को उसके कार्यों (functions) के अनुसार देख सकते हैं जो अन्यथा सम्भव नहीं है। इस वर्गीकरण के कारण ही हम आय को लगान, मजदूरी, ब्याज, वेतन एवम् लाभ में विभाजित करने में समर्थ हैं।

उत्पादन का सामाजिक महत्व व उसका परिमाण

उत्पादन[1] के महत्व का अनुमान इस बात से सरलता से किया जा सकता है कि किसी भी देश के मनुष्यों का रहन सहन का स्तर उस देश के उत्पादन पर निर्भर

[1] यहाँ उत्पादन शब्द उत्पादित वस्तुओं के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

रहता है । । जनसंख्या के आधार पर हम देख सकते हैं कि उत्पादन की कितनी इकाइयाँ एक व्यक्ति के हिस्से में आती हैं । जितनी अधिक इकाइयाँ एक व्यक्ति के हिस्से में आयेंगी उतना ही रहन-सहन का स्तर ऊँचा होगा । यह कहा जा सकता है कि आज के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के कारण एक देश को दूसरे देशों से दान (charity) एवम् ऋण (loans) भी मिल सकते हैं और इस प्रकार एक देश के उत्पादन की कमी पूरी की जा सकती है । परन्तु याद रखना चाहिए कि दोनों की मात्रा सीमित होती है तथा ऋण चुकाने पड़ते हैं । अन्त में देश का उत्पादन ही वहाँ के निवासियों के रहन-सहन का स्तर निश्चय करेगा । अतः स्पष्ट है कि उत्पादन का परिमाण जितना अधिक होगा एक देश उतना ही समृद्धशाली समझा जायेगा । अब हमें यह देखना चाहिए कि उत्पादन का परिमाण किन-किन बातों पर निर्भर है।

साधारणतया यह कहा जा सकता है कि उत्पादन का परिमाण उपकरणों (Resources) की उपलब्धि एवम् प्रयोग पर निर्भर है । उपकरणों की उपलब्धि एक देश की भौगोलिक सम्पत्ति, जनसंख्या, खनिज पदार्थ, वनस्पति, फसलों आदि पर निर्भर है । इसके साथ यह याद रखना चाहिए कि इस सम्पत्ति का बहुत कुछ भाग दैवी आपत्तियों (natural calamities) से नष्ट भी हो सकता है । अतः इस दृष्टि-कोण से उत्पादन का परिमाण निम्न दो बातों पर निर्भर है ।

(१) किसी देश की जनसंख्या, खनिज पदार्थ एवम् अन्य सम्पत्ति,

(२) दैवी आपत्तियाँ, जैसे अतिवृष्टि, बाढ़, भूकम्प आदि, जो उत्पादन को नष्ट कर देती हैं ।

किसी देश के उत्पादन का परिमाण उस देश के उपलब्ध उपकरणों के प्रयोग पर भी निर्भर है । यह सम्भव है कि किसी देश की भौगोलिक सम्पत्ति अतुल हो परन्तु किसी कारणवश यदि उसका समुचित प्रयोग न हो तो उचित मात्रा में उत्पादन सम्भव नहीं होगा । अतः उत्पादन का परिमाण निम्न बातों पर भी निर्भर है ।

(१) जनसंख्या का आलसी अथवा कार्यशील होना । जिस देश की जनसंख्या आलसी होगी वहाँ के निवासी अपने देश की सम्पत्ति का उचित प्रयोग नहीं कर सकेंगे ।

(२) प्रावैधिक (टेक्निकल) योग्यता । आजकल उत्पादन की मात्रा उसकी प्रविधि (Technique) पर निर्भर होती है । अतः उस देश का उत्पादन अधिक होगा जहाँ टेक्निकल योग्यता अधिक विकसित होगी । उदाहरण के लिए यदि एक देश अपने पुराने हल और बैलों से खेत जोते तो निश्चय ही उसका उत्पादन इतना अधिक नहीं होगा जितना उस देश का, जो ट्रैक्टर आदि का प्रयोग करता हो। रूस को ही लीजिये । उसके प्राचीन समय के उत्पादन, जब घोड़ों की सहायता से खेती की जाती

थी, तथा अब के उत्पादन में, जब मशीनों, ट्रैक्टरों का प्रयोग होता है, आकाश-पाताल का अन्तर हो गया है।

(३) देश का उत्पादन वहाँ की राजनीतिक परिस्थितियों पर भी निर्भर होता है। यदि राज्य-सरकार देश के आर्थिक विकास की ओर प्रयत्नशील होती है तब निश्चय ही उत्पादन में वृद्धि होगी। इसके विपरीत यदि राज्य-सरकार इस ओर कोई ध्यान नहीं देती तो उत्पादन पिछड़ा रहेगा।

(४) देश की बैंकिंग-व्यवस्था एवम् साख-प्रणाली के विकास पर भी उत्पादन निर्भर रहता है। रुपये के लेन-देन से ही उत्पादन सरलतापूर्वक संगठित किया जा सकता है। लेन-देन की सुविधायें बैंकिंग-व्यवस्था और साख प्रणाली पर ही निर्भर है।

उत्पादन के परिमाण की माप

ऊपर हम उन बातों की चर्चा कर चुके हैं जिन पर उत्पादन का परिमाण निर्भर रहता है। यहाँ यह याद रखना चाहिए कि उत्पादन के परिमाण से हमारा अर्थ किसी नियत अवधि जैसे एक वर्ष, के भीतर किये हुए उत्पादन से ही होता है। इस परिमाण को हम इस प्रकार से माप सकते हैं।

साधारणतया हम देश में उत्पादित वस्तुओं को दो वर्गों में विभाजित कर सकते हैं।

(१) उपभोक्ता की वस्तुयें (Consumer's goods) जैसे, आटा, कपड़ा आदि

(२) उत्पादक की वस्तुयें (Producer's goods) जैसे मशीनें आदि

नियत अवधि में दोनों प्रकार का कुल उत्पादन ही हमें पता लगाना है। हम कुल उत्पादन की कोई सामान्य इकाई (Common unit) बनाकर उसका परिमाण नहीं माप सकते क्योंकि उत्पादन में उपर्युक्त दोनों वर्गों की अनेक प्रकार की वस्तुयें सम्मिलित होती हैं। अतः उसके परिमाण का अनुमान हम द्राव्यिक-मूल्य से लगाते हैं। ऐसा करने में हमें यह सावधानी बरतनी पड़ती है कि किसी वस्तु को हम एक से अधिक बार न गिन जायँ। उदाहरण के लिए यदि हम गेहूँ की एक निश्चित मात्रा का द्राव्यिक-मूल्य ले चुके हैं तो उससे उत्पन्न आटे को हम शामिल नहीं करेंगे क्योंकि आटा गेहूँ का हीं परिवर्तित रूप है। इसके अतिरिक्त उत्पादन की वस्तुओं में हमें उनके घिसाव (Depreciation) को भी छोड़ना पड़ेगा। देश में उत्पन्न हुई मशीनें आदि वर्ष के अन्त में अपने प्रारंभिक मूल्य के बराबर नहीं रह जातीं क्योंकि उनमें कुछ घिसाव (Depreciation) होता रहता है। अतः उनका द्राव्यिक-मूल्य निकालते समय कुछ प्रतिशत (उदाहरणार्थ १० प्रतिशत, यदि घिसाब उनके द्राव्यिक मूल्य का १० प्रतिशत माना जाय) घिसाव के कारण घटा देते हैं।

इन सावधानियों को ध्यान में रखकर हम उत्पादन का परिमाण बड़ी सरलता से माप सकते हैं उपभोक्ता की वस्तुओं तथा उत्पादक की वस्तुओं के उत्पादन सम्बन्धी आँकड़े सरकार छापती रहती है। उनका द्राव्यिक मूल्य जानने के लिए हमें उनकी इकाइयों को उनके मूल्य से गुणा करना होगा। उपर्युक्त प्रकार की वस्तुओं के मूल्यों के सम्बन्ध में भी सरकार आँकड़े छापती रहती है जिससे यह कार्य और भी अधिक सरल हो जाता है।

EXERCISES

1. "Production is the creation of Utilities." Discuss.

Agra U. B. Com. 1953.

2. There are only two factors of production Land and Labour. Amplify this statement in the light of specific and non-specific factors of production.

3. Discuss the importance of Production in a country,

अध्याय १२

भूमि

(LAND)

क्लासिकल अर्थशास्त्रियों का मत (The Classical View)

क्लासिकल अर्थशास्त्रियों ने भूमि को प्रकृति की देन कहा है। इस परिभाषा को पूर्णरूप से समझने के लिये हम प्रो० मार्शल के मत को विस्तार के साथ देखेंगे। आधुनिक समय में क्लासिकल अर्थशास्त्रियों के मत का योग्यतापूर्ण प्रतिपादन प्रो० मार्शल ने किया है और इसलिये इन्हें (neo-classical) आधुनिक क्लासिकल अर्थशास्त्री कहा जाता है।

प्रो० मार्शल[1] के अनुसार भूमि (land) से तात्पर्य उन पदार्थों एवम् शक्तियों से है जो प्रकृति मनुष्य की सहायता के लिए भूमि अथवा जमीन, पानी, वायु, प्रकाश और ताप (heat) के रूप में मुफ्त देती है। इससे यह स्पष्ट है कि भूमि का प्रयोग अर्थशास्त्र में जमीन (या साधारण बोलचाल में जिसे भूमि कहते हैं) के अर्थ में नहीं होता। साधारण बोलचाल की भूमि अथवा जमीन की केवल वे शक्तियाँ और पदार्थ ही अर्थशास्त्र में भूमि कहलायेंगी जो हमें प्रकृति द्वारा मुफ्त या बिना त्याग के मिली हैं। उदाहरण के लिये एक जमीन के टुकड़े के ऊपर वर्ष भर में प्राप्त धूप, वायु, वर्षा आदि के लिये हमें कुछ नहीं देना पड़ता। हम इन्हें वे शक्तियाँ या पदार्थ कहेंगे जो प्रकृति द्वारा निःशुल्क प्राप्त हुई हैं और इसलिये अर्थशास्त्र में इन्हें भूमि कहा जायेगा याद रहे, हम जमीन के टुकड़े को भूमि नहीं कह रहे हैं उससे निःशुल्क प्राप्त शक्तियाँ और पदार्थों को ही भूमि कहा गया है। मनुष्य के प्रत्येक काम के लिये जमीन का प्रयोग आवश्यक है, उस पर स्थित होकर ही वह कुछ कर सकता है। इसके साथ उसे प्रकाश, वायु आदि जो प्रकृति निःशुल्क देती है प्राप्त हो जाते हैं। जमीन के टुकड़े का प्रयोग सदैव आवश्यक है और उसके साथ उपर्युक्त निःशुल्क देन भी सदैव सम्बधित है अतः **भूमि की सर्व विद्यता**—उसका सब जगह होना—स्पष्ट है। प्रत्येक मनुष्य के कार्य में भूमि का योग स्पष्ट है। अतः प्रत्येक मनुष्य की आय

[1] By land is meant the material and the forces which Nature gives freely for man's aid, in land and water, in air and light and heat. pp. 138 Principle of Economics VI Ld.

में भूमि से प्राप्त (Rent from land) भी अवश्य होगा। भूमि के आधुनिक अर्थ से इसकी तुलना कीजिएगा।

भूमि का कोई पूर्ति मूल्य नहीं है (Land has no supply price)

जब हमें किसी जमीन के टुकड़े के प्रयोग का अधिकार मिल जाता है तो उसके साथ ही हमें उसके ऊपर के विस्तार (space) अथवा पृथ्वीमण्डल के कुछ भाग के प्रयोग का अवसर भी मिल जाता है। पृथ्वी का क्षेत्रफल निश्चित है। अत: पृथ्वी के उपर्युक्त भाग का शेष भागों से सम्बन्ध भी निश्चित है। उनमें कोई परिवर्तन नहीं किया जा सकता। मनुष्य का अंकुश उनपर नहीं लग सकता। माँग उसे प्रभावित नहीं कर सकती। माँग के घटने बढ़ने पर साधारण वस्तुओं की पूर्ति की तरह हम उसे घटा बढ़ा नहीं सकते क्योंकि मनुष्य उसे किसी मूल्य पर भी उत्पन्न नहीं कर सकता। अथवा यों कहिए कि उसका कोई पूर्ति मूल्य नहीं है। यहाँ यह याद रखना चाहिए कि प्रो० मार्शल जमीन के टुकड़े से प्राप्त नि:शुल्क प्रकृति की देन—जमीन के ऊपर की वायु प्रकाश, आदि—की ही चर्चा कर रहे हैं। वे जमीन के अर्थ में भूमि के विषय में उपर्युक्त बात नहीं कह रहे हैं। जमीन को एकदम प्रकृति की देन मानने में उन्हें संकोच है क्योंकि किसी भी देश की भूमि अथवा जमीन की वर्तमान दशा में उस देश के पूर्वजों के परिश्रम का बड़ा हाथ होता है। इससे यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है कि प्रो० मार्शल ने भूमि शव्द का प्रयोग जमीन के अर्थ में नहीं किया है वरन् उन नि:शुल्क प्रकृति की देन के अर्थ में जो उससे सम्बन्धित हैं। इन्हीं प्रकृति की देन के बारे में उनका कहना है कि वे पूर्ति-मूल्य रहित है।[१]

जमीन का पूर्ति मूल्य होता है। एक व्यक्ति के लिये जमीन पूँजी का ही एक विशेष रूप है। हम उसे अर्थशास्त्र के अर्थ में भूमि नहीं कह सकते। एक किसान का दूसरी जमीन लेने अथवा न लेने का सोच विचार एक नये हल के खरीदने या न खरीदने के समान ही है।[२]

भूमि की विशेषतायें—क्लासिकल अर्थशास्त्रियों के दृष्टिकोण से हम भूमि के अर्थ को देख चुके। अब हम उन्हीं के अनुसार उसकी विशेषताओं पर विचार करेंगे। ऊपर जो कुछ कहा जा चुका है उसके अनुसार भूमि (land) की निम्न विशेषतायें बताई जा सकती हैं।

(१) भूमि प्रकृति की देन है जिसके लिये हमें कोई त्याग नहीं करना पड़ता।

१ Principles of Economics pp. 155-5

२ The question whether a farmer..should..take in another piece of land, is of the same kind as the question whether he should buy new plough....etc....

—Marshall pp. 430

(२) भूमि का विस्तार निश्चित है। हम ऊपर इस बात की चर्चा कर चुके है किसी जमीन के टुकड़े के ऊपर का विस्तार (space) शेष पृथ्वी के ऊपर के विस्तार से एक निश्चित अनुपात में सम्बन्धित है। मनुष्य इस विस्तार को नहीं बदल सकता।

कुछ अर्थशास्त्री इसके अपवाद स्वरूप हालैण्ड में समुद्र से प्राप्त हुई नई जमीन, अथवा बम्बई में समुद्र से प्राप्त जमीन की चर्चा करके यह बताने की चेष्टा करते हैं कि भूमि को बढ़ाया जा सकता है। यह अनुपयुक्त है क्योंकि समुद्र से प्राप्त की हुई जमीन अर्थशास्त्र में भूमि (land) नहीं कहला सकती। हम कह चुके हैं कि भूमि प्रकृति की देन है, त्याग-रहित है। समुद्र से जमीन प्राप्त करने के लिये मनुष्य को बहुत त्याग करना पड़ता है। हजारों रुपयों के व्यय से ही यह सम्भव है। इस प्रकार से प्राप्त जमीन को भूमि कैसे कहा जा सकता है ?

(३) भूमि का कोई पूर्ति-मूल्य नहीं है। मनुष्य भूमि का उत्पादन नहीं कर सकता भूमि में और उत्पादन-लागत नहीं होती अतः उसमें पूर्ति मूल्य भी नहीं होता।

(४) भूमि निष्क्रय है। वह उत्पादन में योग तो अवश्य देती है परन्तु उसमें कोई सक्रिय भाग नहीं लेती। उदाहरण के लिये यदि एक मोची जूते बनाता है इस कार्य में उसे निःशुल्क प्राप्त रोशनी, वायु आदि से योग अवश्य मिलता है परन्तु ये उत्पादन में कोई सक्रिय भाग नहीं लेते।

(५) भूमि सर्वत्र विद्यमान है। हम ऊपर कह चुके हैं कि जमीन भूमि नहीं है वरन् उसके ऊपर का विस्तार उसकी निःशुल्क शक्तियाँ—प्रकाश, वायु उष्णता आदि—भूमि हैं। हम प्रत्येक कार्य पृथ्वी के ऊपर स्थित होकर ही कर सकते हैं। उपर्युक्त शक्तियाँ पृथ्वीतल से अविच्छिन्न रूप से सम्बद्ध है अतः भूमि की सर्व-विद्यता स्पष्ट है।

उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट है कि भूमि उत्पादन में योग देती है। अतः वह उत्पादक है। परन्तु क्या हम यह बता सकते हैं कि भूमि की उत्पादकता किन-किन बातों पर निर्भर है। जब कभी भूमि की उत्पादकता की चर्चा की जाती है तो लोगों का ध्यान खेतिहर जमीन की ओर आकर्षित होता है, उसे उपजाऊ बनाने वाले तत्त्वों का विवेचन किया जाता है। बहुधा कहा जाता है कि भूमि का उपजाऊ होना मुख्यतया दो बातों पर निर्भर है।

(१) भूमि की बनावट अर्थात् भूमि रेतीली, ऊसर अथवा मुलायम आदि किस प्रकार के गुण की है।

(२) भूमि के रासायनिक तत्त्व अर्थात् भूमि में पौदों के बढ़ने के लिये तत्त्व कहाँ तक विद्यमान हैं ?

इसी के साथ भूमि के मूल्य को प्रभावित करने वाली बातों की चर्चा की जाती है। कहा जाता है कि जो भूमि अपेक्षाकृत अच्छी जगह होगी उसका मूल्य अधिक होगा। जनसंख्या की वृद्धि के साथ भूमि का मूल्य बढ़ता जाता है आदि। इन सब बातों पर विचार करते समय बहुधा लोग भूल जाते हैं कि 'भूमि' शब्द का प्रयोग यहाँ जमीन के अर्थ में किया गया है जो पूँजी का ही एक रूप है। भूमि (जमीन) को उपजाऊ बनाने में मनुष्य का बहुत बड़ा हाथ है। अतः प्रकृति की देन के अर्थ में हम रासायनिक तत्त्वों आदि की गणना नहीं कर सकते। यह सब पूँजी के ही प्रकार हैं और भूमि (जिस अर्थ में वह अर्थशास्त्र में प्रयुक्त होता है) के अन्तर्गत उनका विवेचन समीचीन नहीं है।[१]

आधुनिक मत (The Modern View)

'भूमि' के उपर्युक्त विस्तृत विवेचन से यह बात स्पष्ट हो गई होगी कि क्लासिकल अर्थशास्त्रियों का विचार (concept) प्रकृति (Nature) से अविच्छिन्न रूप से सम्बन्धित है। यद्यपि मार्शल ने यदा-कदा भूमि को मनुष्यों* से भी सम्बन्धित करके देखा है परन्तु सम्पूर्ण क्लासिकल विचारधारा में इस विचार का मूल सम्बन्ध प्रकृति से ही माना गया है। वर्तमान अर्थशास्त्री इस सम्बन्ध पर बल नहीं देते। वे उसके आधार-भूत सत्य, भूमि त्याग-रहित है, को लेकर चलते हैं। यहाँ त्याग-रहित शब्द बहुत महत्त्वपूर्ण है। भूमि के आधुनिक मत को देखने से पूर्व हम क्लासिकल विचार को एक आलोचनात्मक दृष्टि से देखेंगे। यह कहना कि जमीन को धूप, वायु, वर्षा आदि के रूप में जो वार्षिक आय होती है, वह निःशुल्क है, भूल है। यदि हम एक ही बनावट की दो जमीनें लें तो हम देखेंगे कि जो वर्षा, धूप आदि के दृष्टिकोण से अधिक अच्छी है उसके लिये अपेक्षाकृत अधिक मूल्य देना पड़ता है। वास्तव में यह अधिक मूल्य वर्षा, धूप आदि के कारण ही देना पड़ता है। अतः उसे निःशुल्क नहीं कहा जा सकता। अब प्रश्न यह उठता है कि निःशुल्क (त्याग रहित) किसे कहा जाय।

आधुनिक अर्थशास्त्रियों के अनुसार त्याग का अर्थ अवसर-त्याग है जिसकी चर्चा हम पिछले अध्याय में कर चुके हैं। धूप, वर्षा, वायु आदि तभी भूमि के अन्तर्गत

१..."all that lies just below the surface has in it the large element of capital, the produce of man's lde's past labour. Those free gifts of nature which Ricardo classed as the "inherent" and "indestructible" properties of the soil, have been largely modified; partly impoverished and partly enriched by the work of many generations of men."
—Marshall pp. 147

* उदाहरणार्थ योगफल के प्रसंग में,

आ सकेंगे जब इनमें कोई अवसर लागत न हो। अवसर-लागत के विचार से मुख्य लाभ यह है कि इससे मनुष्य में विद्यमान भूमि-पक्ष (land-aspect) की ओर हमारा ध्यान आकर्षित होता है। एक श्रमिक जो एक स्थान पर १००) माहवार पर काम करता है एक दूसरे अवसर को त्यागता है जहाँ सम्भवतया उसे ८०) माहवार मिलता। यहाँ ८०) उसकी अवसर-लागत (त्याग) है। उसकी आय १००) है। अतः २०) उसका अतिरिक्त (surplus) है, इसके लिये उसे कोई त्याग नहीं करना पड़ता है। स्पष्ट है कि २०) किसी त्याग का प्रतिफल नहीं है, वह बिना त्याग के मिला है। बिना किसी त्याग के प्राप्त हुई आय भूमि, जो उत्पादन में योग देते हुए भी त्याग-रहित है, से ही हो सकती है। श्रमिक का यह अतिरिक्त उसमें विद्यमान भूमि-पक्ष (land aspect) के कारण ही मिला है। अतः स्पष्ट है कि भूमि एक प्रकार का गुण है जिसे हमने विशिष्टता (specificity) कह कर पुकारा है। जो जितना अधिक विशिष्ट होगा उसमें भूमि-पक्ष उतना ही सबल होगा। यदि उपर्युक्त श्रमिक की अवसर-लागत केवल १०) होती तो भूमि से प्राप्त अतिरिक्त ९०) होता। इस दशा में उसका भूमि-पक्ष बहुत ही प्रबल है और मोटे तौर पर हम कह सकते हैं कि ९० प्रतिशत विशिष्ट है क्योंकि उसकी आय का ९० प्रतिशत भूमि के कारण है। यदि हम ऐसी कल्पना करें कि वह श्रमिक पूर्णतया विशिष्ट है तो उसकी अवसर लागत शून्य होगी और उसकी आय शत प्रतिशत भूमि से होगी अथवा यों कहिये कि वह स्वयं ही भूमि होगा। ऐसी स्थिति की हम कल्पना भले ही कर लें अन्यथा व्यवहारिक जीवन में पूर्ण विशिष्टता असम्भव है। आंशिक विशिष्टता अथवा भूमि पक्ष ही व्यवहारिक जीवन में मिलेगा।

भूमि की इस परिभाषा के अनुसार उसकी सर्वविद्यता—हर जगह होना—भी स्पष्ट हो जाती है क्योंकि भूमि पक्ष किसी न किसी मात्रा में हर जगह विद्यमान होगा। इसके अतिरिक्त भूमि का विचार विस्तृत हो जाता है। वह प्रकृति के अतिरिक्त मनुष्यों को भी अपने में समेट लेता है। क्लासिकल अर्थ में यह बात इतनी स्पष्ट नहीं थी।

आधुनिक अर्थशास्त्री भूमि को विशिष्टता (Specificity) कह कर पुकारते हैं। अर्थशास्त्र में विशिष्टता अथवा भूमि के अध्ययन का विशेष महत्त्व है। इसकी सहायता से हम किसी भी व्यक्ति की आय का अतिरिक्त (surplus) जान सकते हैं। इस प्रकार कर लगाने के लिये हमें एक कसौटी मिल जाती है। जिस व्यक्ति की आय में अधिक अतिरिक्त हो, उस पर अधिक कर लगाना चाहिये। आधुनिक समय में जमींदारी-उन्मूलन को हम इसीलिये ठीक कहेंगे क्योंकि जमींदारों की अधिकांश आय उनके त्याग का प्रतिफल नहीं था। वह त्याग-रहित थी अतः उनकी इस आय को छीन लेना सिद्धान्त के दृष्टिकोण से अनुचित नहीं है।

EXERCISES

1. What is 'Land' ? Is it a factor of production ?

2. Explain the modern concept of Land. Also bring out clearly why is it not regarded as a factor of porduction.

3. Distinguish between the classical and the modern concept of land. Do you consider land as a factor of production ?

Allad. U. B. A. I Part 1957

अध्याय १३

श्रम

(LABOUR)

परिभाषा

उत्पादन के साधनों की चर्चा करते हुये हम श्रम को शारीरिक परिश्रम द्वारा किया हुआ त्याग कह चुके हैं। यहाँ हम श्रम की परिभाषा पर अधिक विस्तार से विचार करेंगे तथा कतिपय परिभाषाओं की परीक्षा के बाद एक उचित परिभाषा ढूँढ़ेंगे।

श्रम की अत्यधिक प्रचलित एवम् मान्य परिभाषा प्रो० जेवन्स (Jevons) की है जिसे प्रो० मार्शल ने भी स्वीकार किया है। उनके अनुसार श्रम से तात्पर्य "मस्तिष्क अथवा शरीर के उस परिश्रम से है जो उससे प्रत्यक्ष रूप से प्राप्त सुख (pleasure) के लिये न हो कर, अंशतः अथवा पूर्णतः किसी अन्य हित (good) के लिये किया गया हो।"[१]

इस परिभाषा के अनुसार मानसिक एवम् शारीरिक, दोनों प्रकार के त्याग श्रम के अन्तर्गत हैं। यदि ऐसा है तो संगठन (organisation) की क्या परिभाषा दी जाय ? प्रो० मार्शल[२] स्वयं संगठन को एक अलग उत्पादन का साधन मानते हैं। उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार संगठन का कोई अलग अस्तित्व ही नहीं रह जाता। यदि हम श्रम को शारीरिक परिश्रम (त्याग) तथा संगठन को मानसिक परिश्रम (त्याग) कहें तो क्या हमारी समस्या हल हो सकती है ? हाँ, यह हमारी समस्या का हल तो अवश्य है परन्तु इसे समझने में एक सावधानी रखनी चाहिये। प्रत्येक शारीरिक कार्य में मानसिक परिश्रम अवश्य होता है, भले ही वह अत्यन्त अल्प हो तथा इसी प्रकार प्रत्येक मानसिक कार्य में कुछ न कुछ शारीरिक परिश्रम होता ही है। अतः इससे यह न समझ लेना चाहिये कि शारीरिक परिश्रम, जिसे हम श्रम कह रहे हैं, वह मानसिक परिश्रम से शून्य है। हमारा अर्थ केवल इतना है कि श्रम में शारीरिक

---

[१] **इस परिभाषा की विशद आलोचना के लिये, देखिये** Ground work of Economics—*Prof. J. K. Mehta.*

[२] Labour is an activity "undergone partly or wholly with a view to some good other than the pleasure derived directly from it." Principles of Economics pp. 138 *Marshall.*

परिश्रम की प्रधानता है। यहाँ एक प्रश्न उठाया जा सकता है कि आज के मशीन-युग में श्रमिक का कार्य केवल यंत्र परिचालन भर रह गया है अतः श्रम में शारीरिक परिश्रम की प्रधानता ढूँढ़ना कहाँ तक उपयुक्त है ? इसका स्पष्ट उत्तर यह है कि शारीरिक परिश्रम की मात्रा पहले से कम अवश्य हो गई है, परन्तु उसकी प्रधानता विलुप्त नहीं हुई है। मशीन के परिचालन के लिये निपुण श्रमिकों की आवश्यकता होती है। कुशल श्रमिकों (skilled labourers) के शारीरिक परिश्रम की मात्रा अनिपुण श्रमिकों के परिश्रम की अपेक्षा साधारणतया कम होती है। इसके अतिरिक्त श्रमिक तथा संगठन-कर्त्ता के कार्यों में एक आधार-भूत अन्तर होता है। जिसके आधार पर हम आज के मशीन युग में भी जब कि शारीरिक परिश्रम का महत्त्व अपेक्षाकृत कम हो गया है, संगठन और श्रम में अन्तर स्थापित कर सकते हैं। संगठनकर्त्ता का मुख्य कार्य रूप-रेखा का निर्माण तथा निर्देशन (designing and directing) है जब कि श्रमिक का कार्य इन आदेशों का निर्वाह है। यह सम्भव है कि एक व्यक्ति अपने से उच्च अधिकारी द्वारा कार्य निर्देशन का आदेश प्राप्त करे और अधिकांश में अपने से नीचे व्यक्तियों को उस आदेश का निर्वाह सुपुर्द कर दे। ऐसी दशा में प्रथम व्यक्ति का कार्य संगठन है; दूसरे व्यक्ति का कार्य उसके उच्च अधिकारी के दृष्टिकोण से श्रम तथा उसके निम्नस्थ कर्मचारियों के दृष्टिकोण से संगठन है।

हमारे विचार से श्रम की परिभाषा इस प्रकार होनी चाहिये। श्रम वह क्रिया अथवा क्रिया का भाग है जो शारीरिक परिश्रम द्वारा एक ऐसी इच्छा की पूर्ति के लिए की जाती है जिससे वृद्धिमान उपयोगिता की प्राप्ति हो।[1] इस परिभाषा से दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं। एक तो यह कि श्रम शारीरिक परिश्रम है तथा (वृद्धिमान उपयोगिता के कारण) दूसरे यह कि वह उत्पादन की क्रिया है।

श्रम की कुछ परिभाषायें इतनी अस्पष्ट हैं कि वे यह भी स्पष्ट नहीं करतीं कि श्रम उत्पादन की क्रिया है। उदाहरण के लिए ऐली (Ely) हर प्रकार का मानवीय कार्य, मानसिक अथवा शारीरिक, जिसका आर्थिक महत्त्व हो, श्रम के अन्तर्गत मानते हैं। इस परिभाषा के अनुसार तो उपभोग की क्रियायें भी श्रम के अन्तर्गत आ जायेंगी क्योंकि मानवीय कार्य होने के साथ-साथ उनका आर्थिक महत्त्व भी है। इन्हीं अस्पष्टताओं को दूर करने के उद्देश्य से हमने श्रम की उपर्युक्त परिभाषा दी है।

श्रम के प्रकार (Classification of Labour) बहुधा श्रम को निम्न प्रकार से विभाजित किया जाता है।

(१) (Skilled & Unskilled Labour) कुशल तथा अकुशल श्रम

---

[1]. Ground work of Economics—J. *K. Mehta.*

(२) (Productive & Unproductive Labour) उत्पादक तथा अनुत्पादक श्रम

(१) प्रथम वर्गीकरण के सम्बन्ध में प्रश्न यह उठता है कि कुशल और अकुशल श्रम से तात्पर्य क्या है ? वास्तव में इनका अर्थ देश और काल के अनुसार बदलता रहता है। पिछड़ी हुई जातियों में जिस कार्य को कुशल श्रम कहा जाता है वही कार्य उन्नतिशील देशों में अकुशल श्रम के अन्तर्गत आता है। जहाँ सामान्यत: सभी व्यक्ति शिक्षित हों, वहाँ ऐसे पेशे जिनमें पढ़ने-लिखने की जरूरत पड़ती हो, अकुशल माने जायेंगे जब कि दूसरे स्थान पर जहाँ शिक्षा का अभाव हो, इसी पेशे को कुशल कहा जायेगा। वास्तव में अकुशल श्रम उसे कहना चाहिए जिसमें केवल सामान्य योग्यता की आवश्यकता हो तथा कुशल श्रम वह है जिनमें सामान्य के अतिरिक्त विशेष योग्यता की आवश्यकता हो। सामान्य योग्यता से तात्पर्य उस जानकारी से है जो थोड़े बहुत अन्तर के साथ सभी में विद्यमान हो। अकुशल श्रम के इस अर्थ से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि एक देश का कुशल श्रमिक दूसरे देश में अकुशल क्यों समझा जाता है। प्रत्येक देश की सामान्य योग्यता का अन्तर ही इसका कारण है। किसी देश की सामान्य योग्यता वहाँ पर उपलब्ध साधारण एवम् (टेक्निकल) प्राबोधिक शिक्षा पर निर्भर है। एक व्यक्ति की परिस्थितियाँ भी उसके इस शिक्षा प्राप्त करने में सहायक होती है। इन्हीं से एक देश की सामान्य योग्यता का स्तर निश्चित होता है।

(२) दूसरे वर्गीकरण में श्रम को उत्पादक तथा अनुत्पादक की श्रेणियों में रखा गया है। वह वर्गीकरण भ्रान्तिपूर्ण है। परन्तु इसकी आलोचना करने से पूर्व हम संक्षेप में इसे समझने का प्रयत्न करेंगे।[1] इस सम्बन्ध में अत्यधिक मान्य मत प्रो० मार्शल का है। उनके अनुसार वह श्रम अनुत्पादक है जो हमें उद्देश्य की ओर बढ़ाने में असफल है और इसलिए उपयोगिता का उत्पादन नहीं करता।[2] ऐसे श्रम को छोड़कर शेष सभी श्रम उत्पादक हैं। उदाहरण के लिए यदि कुछ श्रमिक एक

---

१. श्रम के उत्पादक तथा अनुत्पादक होने के सम्बन्ध में प्राचीन अर्थशास्त्रियों के विभिन्न मत रहे हैं। वाणिज्यवादी (Mercantilists) अर्थशास्त्रियों ने केवल उस श्रम को उत्पादक माना जिससे सोने चाँदी की वृद्धि हो। कृषिवादी विचारधारा (Phyoiocrats) ने कृषि में लगे हुये श्रम को अन्य कार्यों में प्रयुक्त श्रम से अधिक उत्पादक कहा। एडम स्मिथ ने मूर्त (Tangible) पदार्थों के सृजन करने वाले श्रम को उत्पादक कहा। विभिन्न पुस्तकें बहुधा प्रो० मार्शल के मत को सही मानती हैं इस कारण हम उसी को आधार मान कर चले हैं।

२. पृष्ठ संख्या ६५, 'Principles of Economics'—*Marshall*

ऐसी नदी का बाँध बनाने की कोशिश करें जो अपने तेज बहाव से उनके प्रयत्नों को आगे बढ़ने ही न दे तो इनका श्रम, प्रो० मार्शल के अनुसार, अनुत्पादक कहा जायेगा। यहाँ एक बात विचार योग्य है। श्रम को अनुत्पादक इसलिए कहा जा रहा है क्योंकि कोई उत्पादन नहीं हो सका अथवा उद्देश्य की प्राप्ति—चाहे वह बाँध बनाना हो, अथवा किसी वस्तु का उत्पादन—नहीं हो पाती। प्रश्न यह है कि क्या ऐसा कहना युक्त-संगत है ?

हम पहले ही कह चुके हैं, और यह सर्वमान्य है, कि उत्पादन के लिये सभी साधनों का होना आवश्यक है। कोई एक साधन, चाहे वह श्रम हो या पूँजी, उत्पादन नहीं कर सकता। अतः यदि उद्देश्य की प्राप्ति अथवा उत्पादन नहीं हो सका, तो सभी साधनों के प्रयत्न निरर्थक हैं; अथवा प्रो० मार्शल की शब्दावली में अनुत्पादक हैं। केवल श्रम को अनुत्पादक नहीं कहा जा सकता। परन्तु क्या हम उत्पादन के साधनों को अनुत्पादक कह सकते हैं ? यह एकदम विरोधात्मक बात है।

हम किसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिये ही साधनों को कार्य में लगाते हैं। यदि हमें पहले से ही यह मालूम हो कि साधनों के प्रयत्न असफल होंगे, तब हम ऐसा कदापि न करेंगे और इसलिये साधनों के अनुत्पादक होने का प्रश्न ही न उठेगा। हम तो उद्देश्य प्राप्ति की निश्चय आशा पर ही साधनों को कार्य-युक्त करते हैं। विभिन्न साधन परिणाम की प्राप्ति के लिये ही कार्य में लगे रहते हैं; इसी कारण उनसे वृद्धि-मान उपयोगिता प्राप्त होती रहती है। यदि ऐसी स्थिति आ जाय कि उद्देश्य प्राप्ति न हो अथवा यह निश्चय रूप से पता चल जाय कि उद्देश्य प्राप्ति नहीं होगी तो उसके बाद साधनों का प्रयोग बन्द कर दिया जायेगा। उस समय साधनों को अनुत्पादक नहीं कहा जा सकता क्योंकि उस समय वे क्रियाशील नहीं हैं। ऐसी स्थिति आने से पूर्व वे सभी उद्देश्य प्राप्ति के लिये प्रयत्न कर रहे थे और इसलिये उत्पादक थे। अतः उत्पा-दन के साधन—चाहे वह श्रम हो अथवा अन्य कोई साधन—सदैव उत्पादक होते हैं। यदि उद्देश्य प्राप्त न हो अर्थात् प्रयत्नों का अन्त असफलता में हो तो इसका अर्थ केवल यह है कि जोखिम उठाने वाले व्यक्ति को (entrepreneur) आकस्मिक क्षति (accidental loss) हुई है, यह नहीं कि उत्पादन के साधन अथवा श्रम अनुत्पादक हैं। एक उदाहरण से यह बात और भी स्पष्ट हो जायेगी। मान लीजिये किसी जमीन के नीचे खान (mines) पाने की आशा में सरकार उस जमीन को खुदवाती है। श्रम आदि इस कार्य में योग देंगे और इस समस्त कार्य की जोखिम सरकार पर होगी। मजदूर आदि खोदने में उस समय तक लगे रहेंगे जब तक कि खान का पता न लग जाय। मजदूरी बराबर दी जायेगी। यदि कुछ समय बाद यह पता लगे कि वहाँ खान नहीं है तब जोखिम उठाने वाले को, जो यहाँ सरकार है, क्षति होगी। श्रम अनुत्पादक

नहीं है। उत्पादन में योग देने के कारण अर्थात् उत्पादक होने के कारण ही उसे पारिश्रमिक प्राप्त होता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया होगा कि श्रम को उत्पादक अथवा अनुत्पादक वर्गों में रखना उचित नहीं है। इसका कारण यह है कि उत्पादन के शेष साधनों की भाँति श्रम तो सदैव उत्पादक होता है अतः उसे अनुत्पादक कहना भ्रमपूर्ण है।

श्रम की कार्यक्षमता

श्रम और श्रमिक एक दूसरे से अभिन्न रूप से सम्बद्ध हैं। श्रमिक की कार्यक्षमता एक नियत अवधि के भीतर उसके द्वारा उत्पादित वस्तुओं के गुण (quality) तथा परिमाण (quantity) से जानी जाती है। निश्चय ही यह एक तुलनात्मक शब्द है। यदि दिये हुये समय में एक श्रमिक दूसरे की अपेक्षा अच्छे प्रकार की (परन्तु परिमाण अथवा मात्रा में बराबर) वस्तु का निर्माण करे तो उसकी कार्य-क्षमता दूसरे से अधिक समझी जायेगी। इसी प्रकार जो श्रमिक दूसरे की अपेक्षा एक ही प्रकार का परन्तु परिमाण में अधिक उत्पादन करने में समर्थ है, उसकी कार्य-क्षमता भी दूसरे की अपेक्षा अधिक है।

श्रमिक की कार्य-क्षमता मुख्यतया चार बातों पर निर्भर है।

(१) श्रमिक की सामान्य योग्यता (The factor of general ability)
(२) परिस्थितियाँ (The factor of industrial conditions)
(३) व्यवसायिक मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियाँ (The factor of industrial psychology)
(४) फुटकर (Miscellaneous)

श्रमिक की सामान्य योग्यता का उसकी कार्य-क्षमता पर विशेष प्रभाव पड़ता है। जिस देश के श्रमिकों की सामान्य योग्यता दूसरे देश के श्रमिकों से अधिक होती है उनकी कार्य-क्षमता भी अधिक होती है। श्रमिक की सामान्य योग्यता उसके जातीय गुणों के अतिरिक्त उसकी साधारण शिक्षा-दीक्षा पर निर्भर है। इस दिशा में निम्नलिखित कारण उल्लेखनीय हैं।

(अ) जातीय गुण (Racial Qualities)

कहा जाता है कि श्रमिकों की सामान्य योग्यता उनके जातीय गुणों से सम्बन्धित है। कुछ जातियों के श्रमिक स्वभाव से ही अधिक सूझबूझ वाले तथा चतुर होते हैं। इसलिये श्रमिकों के जातीय गुण उनकी कार्य-क्षमता से सम्बन्धित है। उदाहरण के लिये जर्मनी के श्रमिक जापान के श्रमिकों की अपेक्षा कार्य-क्षमता में कहीं आगे बढ़े हुए हैं। प्रश्न यह उठता है कि क्या जातीय गुण सचमुच इतने महत्त्वपूर्ण हैं?

वास्तविकता तो यह है कि संसार की विभिन्न जातियों का सम्मिश्रण बराबर होता रहा है, और यह सम्मिश्रण व्यवसायिक वर्ग (industrial Classes) में अत्यधिक हुआ है। इस सम्मिश्रण के कारण व्यवसायिक गुणों का एक जातीय इतिहास (race history) सम्भव नहीं है। हम यह भी नहीं कह सकते कि अमुक गुण एक विशेष जाति की ही सम्पत्ति है। वास्तव में जातीय गुण जाति विशेष से ही सम्बन्धित न होकर किसी देश की जलवायु, वहाँ पर उपलब्ध साधारण शिक्षा आदि पर अधिक निर्भर है। अर्थशास्त्र के दृष्टिकोण से इनका प्रभाव अधिक महत्त्वपूर्ण है।

भारतीय मजदूरों के विषय में कुछ लोगों का मत है कि उनकी कार्य-क्षमता इसलिए अधिक नहीं है क्योंकि उनमें जातीय रूप से ऐसे गुण विद्यमान नहीं हैं। यह बात निराधार है क्योंकि भारतीय व्यवसायिक वर्ग (industrial classes) संसार की सर्वश्रेष्ठ जातियों के सम्मिश्रण से बना है। इस देश में आने वाली सभी जातियाँ यहीं की हो गईं। अतः यहाँ के श्रमिकों की कार्य-क्षमता में अन्य बातों का महत्त्व-पूर्ण हाथ है।

(ब) जलवायु (Climate)

जलवायु का मनुष्य की शारीरिक शक्ति पर बहुत प्रभाव पड़ता है, और शारीरिक शक्ति का कार्यक्षमता से घनिष्ट सम्बन्ध है। उदाहरण के लिये गर्म जलवायु शारीरिक शक्ति के लिये हानिकारक होती है। गर्म जलवायु में रहने वाले व्यक्ति कठिन मेहनत अधिक देर तक नहीं कर सकते हैं। समशीतोष्ण जलवायु के व्यक्ति अधिक देर तक परिश्रम कर सकते हैं। इंगलैण्ड और न्यूजीलैण्ड के निवासी कहीं अधिक परिश्रम कर सकते हैं जबकि भारतीय मजदूर अपेक्षाकृत कम मेहनत कर पाता है। इसी कारण भारत के मजदूर की कार्य-क्षमता अपेक्षाकृत कम है।

(स) साधारण शिक्षा

मजदूरों की कार्य-क्षमता इस बात पर बहुत निर्भर है कि वे अपनी मानसिक शक्तियों का कहाँ तक उचित प्रयोग कर सकते हैं। इस दिशा में साधारण शिक्षा का बहुत हाथ है। साधारण शिक्षा अथवा उदार शिक्षा (Liberal education) मनुष्य की मानसिक शक्तियों (Faculties) का विकास कर उन्हें इस योग्य बना देती है कि वे अपने कार्य को शीघ्र समझ लें तथा उसे उचित रूप से कर सकें। हमारे देश के मजदूर इस दृष्टिकोण से बहुत ही पिछड़े हुए हैं। अधिकांश मजदूर और उनके बालक पढ़ना-लिखना सीखने से पूर्व ही मजदूरी के काम में लग जाते हैं। देश की अधिकांश जनता अपढ़ है। उनका विचार है कि बच्चों को पढ़ाने-लिखाने की अपेक्षा उन्हें कल-कारखाने में नौकरी करा देना कहीं अच्छा है ताकि पढ़ाने-लिखाने के बजाय वे कुछ कमा कर ला सकें। यह बहुत बड़ी भूल है। पढ़ने-लिखने के बाद मनुष्य की सामान्य

योग्यता का स्तर ऊँचा हो जाता है। इससे वह अपने कार्य में शीघ्र ही निपुण हो जाते हैं। अशिक्षा के कारण ही भारतीय मजदूर इन बातों को नहीं समझते तथा उनकी कार्य क्षमता कम होने का एक कारण यह भी है।

(द) टैक्निकल योग्यता (Technical Ability)

सामान्य शिक्षा किसी व्यक्ति की सामान्य योग्यता का ही विकास कर सकती है परन्तु विभिन्न व्यवसायों की सूक्ष्म कार्य-प्रणालियों को पूर्ण रूप से समझने में वह अधिक सहायता नहीं कर सकती। इसके लिये टैक्निकल शिक्षा आवश्यक है। जिस देश में टैक्निकल शिक्षा के अवसर पर्याप्त और सुलभ हैं वहाँ के मजदूर की कार्य क्षमता भी बढ़ी हुई है। इंगलैण्ड जर्मनी आदि देशों में टैक्निकल शिक्षा प्राप्त श्रमिक अधिकांश में हैं और इसलिये उनकी कार्यक्षमता कहीं अधिक है। दुर्भाग्यवश भारत के मजदूर इस दिशा में पिछड़े हुए हैं।

२. परिस्थितियाँ (Factor of Industrial Conditions)

उपर्युक्त बातों के अतिरिक्त व्यवसायिक परिस्थितियाँ भी श्रमिक की कार्य-क्षमता पर प्रभाव डालती हैं। इस दिशा में तीन बातों का प्रभाव विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

(अ) काम करने की परिस्थितियाँ (Conditions of work)

इन परिस्थितियों में अनेक बातें सम्मिलित हैं। उदाहरण के लिये तापक्रम, नमी, शोर, धूल, सफाई और रोशनी का प्रबन्ध एवम् कारखानों में सुरक्षा का प्रबन्ध आदि इन्हीं के अन्तर्गत है। तापक्रम का प्रभाव कठिन परिश्रम के कामों में विशेष रूप से पड़ता है। यद्यपि तापक्रम भौगोलिक परिस्थितियों पर निर्भर है परन्तु उसे नियमित किया जा सकता है। इंगलैंड में टिनप्लेट के उत्पादन में देखा गया है कि वर्ष के अत्यधिक सर्द तथा अत्यधिक गर्म सप्ताह के उत्पादन में २० प्रतिशत से ३० प्रतिशत तक का अन्तर होता है। भारत एक गर्म देश होने के कारण यहाँ का मजदूर थोड़े ही परिश्रम से थक जाता है। रोशनी के प्रबन्ध का प्रभाव भी महत्वपूर्ण है। अक्सर देखा गया है कि रात्रि में बनाया हुआ सामान गुण और परिमाण दोनों ही प्रकार से अधिक अच्छा नहीं होता। भले ही प्रकाश का कितना ही अच्छा प्रबन्ध हो। अतः ऐसे कारखानों में जहाँ दिन में ही अँधेरा रहता है कार्य-क्षमता पर पड़े हुए हानिकारक प्रभाव का अन्दाज लगाया जा सकता है। रोशनदान आदि के उचित प्रबन्ध से कार्य-क्षमता बढ़ सकती है।

कार्य करने की परिस्थितियों में नमी (humidity) का बहुत बड़ा हाथ है विशेष रूप से सूती कपड़ा के उद्योग में। कारखानों में भाप द्वारा नमी पैदा करने से सूत तो अवश्य ही अच्छा हो जाता है परन्तु इसका प्रभाव मजदूरों के स्वास्थ्य के लिये बहुत

हानिकारक होता है। इसी कारण से इंगलैण्ड में १९११ ई० में ही कानून द्वारा नमीकरण नियमित कर दिया गया। भारत में भी सन् १९३४ के फैक्ट्री कानून में इन बातों का समावेश हुआ। बम्बई सरकार ने कुछ परिस्थितियों के अतिरिक्त कृत्रिम नमीकरण को रोक दिया। खेद का विषय यह है कि भारत ऐसे गर्म देश में ऐसे नियम नहीं बनाए गए जिनके अनुसार वायु को ठण्डा रखा जाय, जहाँ ऐसी आवश्यकता हो।

उपर्युक्त बातें इस बात की स्पष्ट पुष्टि करती हैं कि मजदूर की कार्य-क्षमता बढ़ाने के लिये उसके कार्य करने की परिस्थितियों को अवश्य सुधारना चाहिये। इन के अभाव में उसकी कार्य-क्षमता पर प्रतिकूल प्रभाव ही पड़ेगा।

(ब) काम करने की अवधि (Hours of work)

प्रारम्भ में लोगों का विश्वास था कि मजदूर जितनी अधिक देर काम करेगा, उत्पादन भी उतना ही अधिक होगा। जब कभी काम के घंटों को कम किया गया तो इसका कारण केवल मिल-मालिक की उदारता थी। आधुनिक खोजों ने इस बात की पुष्टि कर दी है कि न केवल व्यवसायिक दृष्टिकोण से वरन् सामाजिक दृष्टिकोण से भी कार्य करने की अवधि पर नियंत्रण एवम् मध्य-विराम (rest pauses) अधिक आवश्यक है। उत्पादन की वृद्धि के अतिरिक्त श्रमिक की कुशलता और कार्य-क्षमता बनाये रखने के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है। इस दिशा में इंगलैंड की व्यवसायिक थकान-खोज-परिषद् (Industrial Fatigue Research Board)द्वारा की हुई खोज उल्लेखनीय है। इस परिषद् के अनुसार लोहे और स्पात (Iron and steal) शीशे आदि के कारखानों में बदली (shift) की अवधि कम कर देने से प्रति घंटा उत्पादन में प्रायः वृद्धि पाई गई। मध्य विराम के बारे में परिषद् का कहना है कि साधारण शारीरिक काम में ४½–५ घंटे बाद १०-१५ मिनट का विराम देने से उत्पादन में ५-१० प्रतिशत वृद्धि होती है। प्रयोगशाला के प्रयोगों के अनुसार कठिन और भारी कामों में विराम देना लाभदायक सिद्ध हुआ है। विराम देने से मुख्य लाभ यह होता है कि मजदूर अपनी खोई हुई शक्ति को कुछ अंशों में फिर से प्राप्त कर अधिक उत्साह से काम में लग जाता है।

हमारे देश का अनुभव भी इसी प्रकार का है। सन् १९०८ में जब कारखाना श्रम आयोग (Factory labour commission) अपना काम कर रहा था, अनेक कपड़ों की मिलें मजदूरों से १३, १५ घन्टे प्रतिदिन काम करा रही थीं। सन् १९११ में जब सरकारी तौर पर १२ घन्टे की अवधि निश्चित् कर दी गई, तो उत्पादन में आशाजनक वृद्धि हुई। काम के घंटों में कमी कार्य की गहनता (intensity of work) में वृद्धि करती है। कार्य-क्षमता के लिये अवकाश (Leisure) भी अत्यन्त आवश्यक है। अब सरकारी तौर पर हमारे देश में मजदूरों की कार्य अवधि ८ घन्टे निश्चित की

गयी है । बच्चों के लिये कार्य अवधि केवल ५ है । इसके अतिरिक्त मिल मालिक मजदूरों को छुट्टियाँ, अवकाश आदि देने के लिये भी बाध्य हैं ।

(स) कार्य-विधि (Methods of work)

कार्य-क्षमता मशीन की श्रेष्ठता तथा कारीगर की योग्यता पर भी निर्भर है । मशीन की श्रेष्ठता उसकी बनावट तथा अन्य गुणों पर निर्भर है जिससे कारीगर को उस पर काम करने में सुविधा प्रतीत हो । कारीगर की योग्यता उसकी शिक्षा-दीक्षा आदि पर भी निर्भर है जिसकी चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं । भारत दोनों ही दृष्टि-कोणों से पिछड़ा हुआ है । अनेक कारखानों में अत्यधिक पुरानी मशीनों से ही काम होता है जिन पर कारीगर को काम करने में बड़ी असुविधा प्रतीत होती है । इस कारण उतना उत्पादन नहीं हो पाता जितना कि मशीन के अच्छे होने पर होता है । इसके अतिरिक्त हमारे देश में कारीगरों की भरती करने में कोई विशेष सावधानी नहीं बरती जाती । कार्य सम्बन्धी ज्ञान की कोई परीक्षा (vocational test) नहीं ली जाती । इसमें कोई सन्देह नहीं यदि योग्य कारीगरों को नियुक्त किया जाय तथा श्रेष्ठ मशीनों का प्रयोग हो तो हमारे देश के श्रमिक की कार्य-क्षमता अवश्य अधिक हो जायगी ।

३ व्यवसायिक मनोविज्ञान (The Factor of Industrial Psychology)

व्यवसायिक मनोविज्ञान एक ओर उत्पादन की वृद्धि के लिये ऐसी खोज करता है जिससे कि उत्पादन की विधियाँ अति सरल हो जायँ तथा दूसरी ओर वह मनुष्य की उन प्रवृत्तियों को महत्व देता है जो कि कार्य करने में बहुत सहायक होतीं है । इन प्रवृत्तियों में सबसे मुख्य प्रवृत्ति कार्य की ओर रुझान (incentive to work) है । काम की ओर रुझान होना या न होना अनेक बातों पर निर्भर रहता है जिनमें मुख्य यह हैं ।

(अ) उचित पारिश्रमिक तथा सहानुभूति पूर्ण व्यवहार (Adequate wages and sympathetic treatment)

यदि श्रमिक को उसके परिश्रम के बदले में उचित मजदूरी मिलती है और वह सन्तुष्ट है तब निश्चय ही वह अपना काम अधिक मन लगाकर करेगा । तथा उत्पादन में वृद्धि होगी । साथ ही यदि उसके प्रति संगठन-कर्त्ता अथवा मिल-मालिक का व्यवहार सौजन्य-पूर्ण है तो उसकी कार्य की दिलचस्पी और भी बढ़ जायगी । प्रतिकूल कटु व्यवहार मजदूर को उसके कार्य के प्रति उदासीन बना देते हैं और इसका प्रभाव कार्य-क्षमता पर पड़ता है ।

(ब) उन्नति की आशा तथा रोजी की सुरक्षा (Hope of promotion and security of employment)

यदि श्रमिक को यह आशा हो कि वह जिन्दगी भर एक ही काम नहीं करता रहेगा तथा उसकी उन्नति होगी तो उन्नति की आशा में वह और भी मन लगाकर काम करेगा और इस प्रकार उसकी कार्य-क्षमता में वृद्धि होगी। साथ ही यदि श्रमिक को यह मालूम हो कि उसका रोजगार सुरक्षित है तो उसके काम करने की दिलचस्पी बढ़ जावेगी। यदि वह यह समझेगा कि उसकी नौकरी केवल चार दिन की है तब वह काम में कोई दिलचस्पी नहीं लेगा।

(स) निर्विघ्न काम करने का अवसर (No Interruption in work)

कुछ कारखानों में कारीगरों को काम करते समय बहुत टोका जाता है। यह बहुत हानिकारक है। मजदूर को कार्य की स्वतन्त्रता होनी चाहिये। रोक टोक से उसके कार्य में विघ्न पड़ता है और वह दिये हुए काम के प्रति उदासीन होता जाता है। अतः यह बहुत आवश्यक है कि मजदूर को अपना काम निर्विघ्न करने दिया जाय।

४ कुछ फुटकर कारण (Miscellaneous Factors)

उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त श्रमिक की कार्य-क्षमता पर कुछ अन्य बातों का भी प्रभाव पड़ता है। उदाहरण के लिये श्रमिक के चरित्र पर सामाजिक तथा राजनैतिक परिस्थितियाँ श्रम-संगठन आदि सभी अपना अपना प्रभाव डालते हैं। व्यवस्थापक की योग्यता (ability of an organiser) भी कार्य-क्षमता को प्रभावित करती है। यदि उचित व्यक्ति को उचित काम पर नहीं लगाया जायगा तब कार्य-क्षमता पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा और उत्पादन कम हो जायगा।

सच तो यह है कि मनुष्य के जीवन को प्रभावित करने वाली सभी बातें कार्य-क्षमता से किसी न किसी रूप में सम्बद्ध हैं। ऊपर हमने कुछ मुख्य बातों का ही अध्ययन किया है।

श्रम की विशेषताएँ (Peculiarities of Labour)

श्रम की विशेषताओं की चर्चा दो दृष्टिकोणों से करना चाहिए। वे दृष्टिकोण निम्नलिखित हैं।

(१) उत्पादन के अन्य साधनों की तुलना में श्रम में क्या विशेषताएँ हैं।

(२) श्रमिक की सेवाओं के मूल्यांकन अर्थात मजदूरी निश्चित करने के दृष्टिकोण से श्रम में वस्तुओं के (मूल्यांकन) की तुलना में क्या विशेषताएँ हैं।

श्रम की विशेषताओं की चर्चा करते समय बहुधा इन दृष्टिकोणों को भुला दिया जाता है जिससे भ्रम उत्पन्न हो सकता है। क्योंकि जो विशेषता एक दृष्टिकोण से

सही है वह दूसरे दृष्टिकोण से गलत है। उदाहरण के लिये श्रम की यह विशेषता कि वह नाशवान (Perishable) है, को लीजिये। वस्तुओं के मूल्यांकन की तुलना में यह कथन उचित है क्योंकि अधिकतर वस्तुओं को संचित करके रखा जा सकता है और उचित मूल्य मिलने के अवसर आने पर वे बेची जा सकती हैं। श्रम को इस प्रकार संचित करके नहीं रखा जा सकता है। यदि श्रमिक एक दिन काम नहीं करेगा तो वह उस दिन की मजदूरी खो देगा, अतः मजदूर कोई भी मजदूरी स्वीकार कर लेगा। इस विशेषता को यदि हम उत्पादन के साधनों की तुलना में देखें, तो यह गलत सिद्ध होगी। प्रत्येक उत्पादन का साधन श्रम के समान ही त्याग को संचित करके नहीं रख सकता। यदि पूँजी एक दिन के लिये उधार नहीं दी जायगी, तो उस दिन का ब्याज नहीं मिलेगा इत्यादि। अतः उत्पादन के साधनों की तुलना में इसे श्रम की विशेषता नहीं कह सकते। इस प्रकार की भ्रांतियों के निवारण तथा स्पष्टता के लिये ही हमने उपर्युक्त दृष्टिकोणों को अपनाया है।

(१) उत्पादन के अन्य साधनों की तुलना में श्रम की विशेषतायें

(अ) अविशिष्ट उत्पादन के साधन और श्रम के बीच अन्तर (The Difference between Non-specific Factors of Production and Labour) :

श्रमिक को स्वयं सेवाओं को देना होता है। (A labourer has to deliver the services personally)

श्रमिक को काम करने के लिये खुद कल-कारखानों में जाना होता है। जहाँ कहीं पर श्रम की आवश्यकता होगी श्रमिक को वहीं जाकर अपनी सेवायें देनी होंगी। उत्पादन के अन्य साधनों के सम्बन्ध में यह बात नहीं है। पूँजीपति अपनी पूँजी को कानपुर में बैठे बैठे बम्बई के किसी भी व्यवसाय में लगा सकता है। जोखिम उठाने वाले आगरा में रहते हुए भी कानपुर के मिल का जोखिम उठा सकते हैं क्योंकि अधिकतर जोखिम उठाने वाले हिस्सेदार होते हैं। श्रम के साथ यह बात नहीं है। श्रमिक को कानपुर की मिल में काम करने के लिये कानपुर ही जाना होगा। शेष बातों में एक उत्पादन के साधन के नाते श्रम तथा अन्य अविशिष्ट उत्पादन के साधनों में कोई अन्तर नहीं है।

(ब) विशिष्ट उत्पादन का साधन (भूमि) तथा श्रम का अन्तर (The Difference between Specific Factor of Production (Land) and Labour)

(अ) श्रम एक अविशिष्ट उत्पादन का साधन है। वह उत्पादन में त्याग करके योग देता है अतः वह सक्रिय है। भूमि एक विशिष्ट उत्पादन का साधन है, वह एक

निःशुल्क देन है। उसके लिये कोई त्याग नहीं करना पड़ता। प्रकृति की देन के रूप में वह उत्पादन में हमारी सहायता करता है, त्याग नहीं। अतः भूमि निष्क्रिय है।

(ब) श्रम में गतिशीलता (Mobility) है। श्रमिक एक स्थान से दूसरे स्थान पर आ जा सकता है। भूमि में गतिशीलता नहीं है। इस अर्थ में भी श्रम भूमि से भिन्न है।

(स) श्रमिक उत्पादन में योग देने के कारण उत्पादक (Producer) तो है ही परन्तु साथ ही वह उपभोक्ता भी है। यह बात पूँजीपति, जोखिम उठाने वाले आदि सभी पर लागू होती है; परन्तु भूमि केवल उत्पादन में योग देती है, वह उपभोक्ता नहीं है।

२. श्रम और वस्तुएँ (Labour as a commodity distinguished from other commodities)

बहुधा कहा जाता है कि श्रमिक की मजदूरी उसी तरह निश्चित की जा सकती है जिस प्रकार कि एक वस्तु का मूल्य। सिद्धांत में यह बात ठीक तो है परन्तु श्रम और वस्तुओं में कुछ मौलिक अन्तर है, जिन पर ध्यान रखना बहुत आवश्यक है। नीचे श्रम की इन्ही विशेषताओं का उल्लेख किया जा रहा है।

(अ) श्रम नाशवान वस्तु है (Labour is a perishable commodity)

श्रम अत्यन्त नाशवान् है। यदि श्रमिक एक दिन काम नहीं करता है तो वह उस दिन की मजदूरी खो देता है। श्रमिक का जितना भी समय बिना काम के बीत जाता है, वह बेकार हो जाता है। इसलिए श्रमिक मजबूर होकर कम मजदूरी पर भी कार्य करने को तैयार हो जाता है। वस्तुओं के साथ यह बात नहीं है। यदि एक वस्तु का मूल्य गिर जाय तो उत्पादक उसे संचित करके रख सकता है और उचित अवसर हाथ आने पर अच्छे दामों पर उसे बेच सकता है। वह श्रमिक की तरह वस्तु का कोई भी मूल्य स्वीकार करने के लिए मजबूर नहीं है।

(ब) श्रम की पूर्ति घटने-बढ़ने में अपेक्षाकृत अधिक समय लगता है (It takes comparatively greater time to increase or decrease the supply of labour.)

यदि किसी समय देश में श्रमिकों की पूर्ति कम हो जाय, तो उसे शीघ्र ही बढ़ाया नहीं जा सकता। मनुष्यों की संख्या बढ़ने में, विशेष रूप से उनके श्रमिक बनने में, काफी समय लगता है। यदि कुल श्रमिकों की पूर्ति बढ़ानी हो तब तो और भी अधिक समय लगेगा। वस्तुओं की पूर्ति अधिक सरलता से बढ़ाई जा सकती है।

(स) श्रमिक अपना श्रम बेचता है परन्तु उसका स्वामित्व नहीं खोता (The labourer sells his labour but retains its ownership)

श्रमिक या मजदूर केवल अपना श्रम बेचता है परन्तु उसका स्वामित्व नहीं खोता किन्तु वस्तु को बेचने के बाद उत्पादक का उस पर कोई स्वामित्व नहीं रह जाता। श्रमिक की इस विशेषता का उसकी मजदूरी पर बहुत प्रभाव पड़ता है। बहुधा पूँजीपति अपने कारखानों के श्रमिकों की ट्रेनिंग आदि पर केवल इसलिए व्यय नहीं करना चाहते क्योंकि ट्रेनिंग पाने के बाद वे किसी भी क्षण नौकरी छोड़ कर अन्यत्र जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त पूँजीपतियों का व्यवहार असहानुभूति का हो सकता है। वे सोचने लगते हैं कि मजदूर से जब तक हो खूब काम लेना चाहिये, बाद में पता नहीं वह रहे या चला जाय।

EXERCISES

1. Discuss the factors that go to make Indusirial labour efficient.

Agra U. 1952.

2. Discuss carefully the various peculiarities of labour as an agent of production. Can labour be treated as commodity ?

Agra U. 1950.

3. Explain the conditions which promote or retard the efficiency of labour.

Agra U. B. Com. 1951

4. Write a short note on un-productive labour.

Agra U. B. Com. 1950.

अध्याय १४

जनसंख्या के सिद्धान्त

(THEORIES OF POPULATION)

माल्थस का सिद्धान्त

माल्थस (T. R. Malthus) को जनसंख्या-सिद्धान्त का जन्मदाता कहा जाता है। इसका अर्थ केवल इतना है कि माल्थस ने जनसंख्या-सम्बन्धी बातों का अध्ययन करके उन्हें पहली बार एक व्यवस्थित रूप में रखा अन्यथा माल्थस से पूर्व अनेक व्यक्तियों ने जनसंख्या सम्बन्धी बातों पर अनेक मत प्रकट किये हैं। स्वयं माल्थस ने अपनी पुस्तक में उनकी चर्चा की है। इन व्यक्तियों में ह्यम (Hume), वालेस (Wallace), एडम स्मिथ (Adam Smith), आर्थर यंग (Arthur Young) आदि मुख्य हैं।

माल्थस की पुस्तक 'एन एसे आन द प्रिन्सिपिल्स आफ पोपुलेशन' (An Essay on the Principles of Population) का पहला संस्करण विवादास्पद ढंग से लिखा गया था। उस संस्करण में माल्थस का मुख्य ध्येय अन्य विचारों का (उदाहरणार्थ गॉडविन आदि के विचारों का)विरोध करना था। माल्थस ने पुस्तक के अन्य संस्करणों में विवादास्पद रीति का त्याग कर अपने मत का प्रतिपादन अधिक दृढ़ता के साथ किया। उनके जनसंख्या सम्बन्धी विचारों को उनकी पुस्तक के प्रथम या द्वितीय संस्करण पर ही आधारित करना भूल होगी। माल्थस के विचारों का परिवर्तन और परिशोधन उनकी पुस्तक के शेष संस्करणों में विद्यमान है। अतः माल्थस के सिद्धान्त का शुद्ध और अन्तिम रूप जानने के लिए हमें उनकी पुस्तक के सभी संस्करणों में प्रगट किये हुये विचारों को देखना होगा। माल्थस की लिखित कृतियों[1] के आधार पर हम उसके सिद्धांत को निम्न रूप से रख सकते हैं।

माल्थस का सिद्धांत दो मुख्य बातों पर आधारित है।

(१) मनुष्य के अस्तित्व के लिये खाद्य सामग्री अत्यन्त आवश्यक है।

(२) यौनिक आसक्ति (sexual passion) भविष्य में भी लगभग वर्तमान के समान ही विद्यमान रहेगी।

---

[1]सन् १७९८, १८०३, १८०६, १८०७, १८१७ में प्रकाशित उनकी पुस्तक के पाँच संस्करणों तथा सन् १८२४ में लिखित एक लेख के आधार पर।

यह दो बातें प्रकृति के दो नियमों के समान हैं और सदा से इसी प्रकार चली आई हैं।

इस बात पर सन्देह नहीं किया जा सकता कि खाद्य सामग्री और जनसंख्या दोनों ही समय के साथ बढ़ती हैं। यदि खाद्य सामग्री इतनी अधिक मात्रा में बढ़े कि कुल जनसंख्या के लिए सदैव पर्याप्त रहे, तब तो जनसंख्या की समस्या ही न उठेगी। अतः जनसंख्या की समस्या को समझने के लिए हमें खाद्य सामग्री एवम् जनसंख्या की वृद्धि—विशेषतया इन दोनों की वृद्धि-दर—पर विचार करना होगा।

एक ऐसे स्थान की कल्पना कीजिये जहाँ प्रारंभ में खाद्य सामग्री जनसंख्या के लिए पर्याप्त है। अतः इस समय कोई समस्या नहीं उठेगी। समय के साथ जनसंख्या में भी वृद्धि होगी और साथ ही खाद्य-सामग्री में भी। खाद्य सामग्री की वृद्धि के बारे में माल्थस का कहना है कि अच्छे से अच्छे साधनों के प्रयोग से खाद्य सामग्री अधिक से अधिक पहले पच्चीस वर्षों में दूनी हो जायेगी। उदाहरण के लिए यदि प्रारंभ में १ लाख टन खाद्य-सामग्री पैदा हुई हो, तो पच्चीस वर्ष बाद वह बढ़कर अधिक से अधिक दो लाख टन हो जायेगी। आगामी पच्चीस वर्षों में खाद्य सामग्री अधिक से अधिक प्रारंभिक खाद्य-सामग्री के बराबर ही बढ़ाई जा सकती है। अतः भविष्य में हर पचीसवें वर्ष खाद्य सामग्री प्रारंभिक खाद्य की तुलना में दुगनी, तिगुनी आदि हो जायेगी। इसका अर्थ यह हुआ कि प्रति पच्चीस वर्ष में खाद्य सामग्री समान अन्तर से बढ़ेगी। खाद्य सामग्री की इस वृद्धि की तुलना गणित के समानान्तर क्रम (Arithmetical Progression) से की जा सकती है। अतः माल्थस का कहना है कि खाद्य सामग्री समानान्तर से बढ़ती है। गणित के अनुसार वृद्धि का रूप इस प्रकार का होगा।

१, २, ३, ४, ५, ६, ७,......समानान्तर क्रम (Arithmetical Progression)

यहाँ यह बता देना उपयुक्त होगा कि माल्थस ने खाद्य सामग्री की चर्चा करते हुए केवल कृषि पर ध्यान दिया है तथा ह्रासमान प्रत्युपलब्धि के नियमों को लागू माना है। इसी कारण खाद्य सामग्री अधिक से अधिक समान अन्तर से बढ़ती है।

अब जनसंख्या की वृद्धि पर विचार कीजिये। माल्थस का कहना है कि जनसंख्या की वृद्धि अपेक्षाकृत कहीं अधिक होती है। अतः जनसंख्या पहले पच्चीस वर्ष में दूनी, तथा आगामी हर पच्चीस वर्ष में क्रमशः चौगुनी, आठगुनी आदि होती जायगी। ऐसा केवल इसलिये संभव है क्योंकि यौनिक-आसक्ति समान रहती है। इसलिए जनसंख्या प्रति पचीसवें वर्ष इसी क्रम से बढ़ेगी जिस क्रम से पहले पचीसवें वर्ष में बढ़ी थी। इस कारण से जनसंख्या हर पचीस वर्ष बाद दूनी होती जाती है। जनसंख्या की वृद्धि का यह क्रम गणित के ज्यामितिक-क्रम (Geometrical Progression) के अनुसार है। अतः जनसंख्या की वृद्धि, यदि उस पर कोई रुकावट न लगाई जाय, ज्यामितिक क्रम से होती है। गणित के अनुसार वृद्धि का रूप इस प्रकार होगा।

१, २, ४, ८, १६, ३२ ज्यामितिक क्रम (Geometrical Progression)

खाद्य पदार्थों एवम् जनसंख्या की वृद्धि पर विचार करने के बाद माल्थस निम्न निष्कर्ष पर पहुंचता है।

यदि प्रारंभ में जनसंख्या और खाद्य सामग्री संतुलन की स्थिति में हों, जैसा ऊपर के उदाहरण में कहा जा चुका है, तो पहले पचीसवें वर्ष के अन्त तक कोई समस्या नहीं उठेगी क्योंकि खाद्य सामग्री जितनी पहले थी उतनी ही बढ़कर दूनी हो जायेगी तथा जनसंख्या भी दूनी हो जायेगी। इसके बाद खाद्य सामग्री अधिक से अधिक उसी अन्तर (जितनी पहली थी) से बढ़ेगी परन्तु जनसंख्या प्रति पचीसवें वर्ष प्रारम्भिक जनसंख्या की दूनी चौगुनी होती जायेगी। खाद्य पदार्थों के अभाव में यह बढ़ती हुई जनसंख्या एक समस्या का रूप धारण कर लेगी।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि जनसंख्या का अस्तित्व खाद्य पदार्थों पर ही निर्भर है अतः उसके अभाव में बढ़ी हुई जनसंख्या का अस्तित्त्व सम्भव नहीं हो सकता। इसलिये जनसंख्या की वृद्धि को रोकना अति आवश्यक है। यह दो प्रकार से हो सकता है।

(१) एक तो यह कि मनुष्य जनसंख्या की वृद्धि से उत्पन्न भावी संकट को पहले से सोचकर उसकी वृद्धि को रोकने का स्वयं प्रयत्न करे। इन प्रयत्नों को माल्थस ने निवारक अवरोध (Preventive Checks) कहा है।

(२) दूसरे यह (स्वयं मनुष्यों द्वारा जनसंख्या को रोकने के प्रयत्न के अभाव में) कि बढ़ी हुई जनसंख्या को कम करने का भार प्रकृति अपने हाथ में ले। प्रकृति जिन उपायों को अपनाती है उनमें वे सभी कारण सम्मिलित हैं जो मानव-जीवन को कम करते हैं। इनमें अकाल, महामारी, भूचाल, बाढ़ आदि सभी सम्मिलित हैं। इन्हें माल्थस ने नैसर्गिक अवरोध (Positive Checks) कहा है।

अपनी पुस्तक के बाद के संस्करणों में माल्थस ने जनसंख्या को रोकने के इन उपायों का फिर से वर्गीकरण किया और उन्हें तीन वर्गों में रखा।

(१) नैतिकसंयम (Moral Restraint)
(२) अनैतिक अवरोध (Vice)
(३) प्राकृतिक कष्ट (Misery)

वे निवारक अवरोध (Preventive Checks) जिनमें अनियमित सम्भोग-सुख के प्रयत्न नहीं होते, नैतिक अवरोध हैं। अनियमित सम्भोग-सुख के प्रयत्न उदाहरणार्थ अनुचित सम्बन्ध (illegitimate connection) तथा ऐसे कार्यों को छिपाने के लिए किये गये अनुचित कार्य अनैतिक अवरोध है। प्रकृति द्वारा प्रयुक्त शेष अवरोधों को प्राकृतिक कष्ट (Misery) कहा गया।

माल्थस के अनुसार मानव-जाति का भविष्य उज्ज्वल नहीं है। यदि मानव-जाति स्वत: अपनी संख्या बढ़ने पर रोक नहीं लगाती तब जनसंख्या तेजी से बढ़कर खाद्य-सामग्री का अतिक्रमण कर जायगी। नैसर्गिक-अवरोध अपना काम प्रारम्भ कर देंगे। अकाल, महामारी आदि जनसंख्या को पीड़ित करेंगे। इन्हीं कारणों से माल्थस को एक निराशावादी अर्थशास्त्री (Pessimist Economist) कहा गया है। अब हम माल्थस के सिद्धान्त तथा उपर्युक्त निराशावादी निष्कर्ष की परीक्षा करेंगे।

सिद्धान्त की परीक्षा (Examination of the Theory)

माल्थस ने खाद्य सामग्री के अन्तर्गत केवल कृषि पर ही विचार किया है। खाद्य-सामग्री का यह संकुचित अर्थ लेना अनुचित है। मनुष्य केवल कृषि से उत्पन्न खाद्यान्न पर ही निर्भर नहीं रहता। संसार में उत्पन्न छोटे जीवधारी भी उसके भोजन की सामग्री हैं और इनकी वृद्धि मनुष्यों की संख्या की वृद्धि की अपेक्षा कहीं अधिक होती है। उदाहरण के लिऐ मछलियों को लीजिये। वे मनुष्य का आहार हैं और उनकी वृद्धि मनुष्यों की अपेक्षा कहीं अधिक तीव्र गति से होती है।

इसके अतिरिक्त वैज्ञानिक आविष्कार तथा उनके द्वारा हुई कृषि कला की उन्नति ने कृषि-उत्पादन में भी आश्चर्यजनक उन्नति की है। माल्थस को सम्भवतया इस उन्नति का अनुमान नहीं था। इसी कारण से खाद्य सामग्री की वृद्धि के बारे में माल्थस ने ऐसी निराशापूर्ण धारणा बना ली थी। वर्तमान समय में मनुष्य का दावा है कि उसने उत्पादन की समस्या का हल कर लिया है। पूँजीवादी देशों में लाखों टन कहवा और गेहूँ समुद्र में फेंक दिया जाता है या अन्य प्रकार से नष्ट कर दिया जाता है ताकि वस्तुओं का मूल्य लाभदायक स्तर पर स्थिर रहे।

जनसंख्या की ज्यामितिक-वृद्धि का आधार माल्थस का यह विचार था कि यौनिक आसक्ति लगभग समान रहेगी। इस अनुमान को सच मान लेने पर भी इससे निकाला हुआ निष्कर्ष भ्रान्तिपूर्ण है। यौनिक आसक्ति समान रहने के अर्थ यह नहीं हैं कि सन्तानोत्पत्ति की इच्छा समान रहेगी। संभोग लालसा तथा सन्तानोत्पत्ति की कामना दो अलग-अलग वस्तुयें हैं। जीवन का स्तर उठाने के लिए मनुष्य संतति-निग्रह औषधियों का प्रयोग करते हैं। फ्रांस की जनसंख्या कतिपय ऐसे ही कारणों से स्थिर सी हो गई है। अतः माल्थस का यह निष्कर्ष तर्क-संगत नहीं है। उन्होंने सन्तानोत्पत्ति की इच्छा तथा संभोग लालसा को समानार्थी मान लिया है जो युक्ति-युक्त नहीं है। सम्भवतया माल्थस इस बात से भ्रमित हो गया था कि संभोग से सन्तान उत्पन्न होती है और इसलिये उसने संभोग-लालसा तथा सन्तानोत्पत्ति को एक मान लिया था।

इतिहास भी माल्थस के सिद्धान्त की पुष्टि नहीं करता। किसी भी देश की

जनसंख्या उस भयावह रूप से नहीं बढ़ी है जिसकी माल्थस ने कल्पना की थी। यही नहीं, अनेक देशों में जनसंख्या बढ़ने के बजाय स्थिर अथवा ह्रासमान है।

माल्थस ने जनसंख्या को खाद्य सामग्री से सम्बन्धित करके देखा था। उनके सिद्धान्त से यह स्पष्ट है कि जनसंख्या का वह आकार सर्वश्रेष्ठ है जिसके लिये खाद्य पदार्थ पर्याप्त मात्रा में हों। इसके अतिरिक्त जनसंख्या कीअपेक्षाकृत तीव्र वृद्धि दर के आधार पर माल्थस जनसंख्या के बढ़ने को भय की दृष्टि से देखते हैं। यह दोनों बातें भ्रान्तिमूलक हैं। जनसंख्या का उचित सम्बन्ध देश की राष्ट्रीय आय से है। यह सम्भव है कि जनसंख्या की वृद्धि से देश में उत्पन्न खाद्य पदार्थ पर्याप्त नहीं परन्तु उत्पादन-क्षमता (Productive Efficiency) में उन्नति होने के कारण देश की राष्ट्रीय आय बढ़ सकती है और राष्ट्रीय आय में प्रत्येक व्यक्ति का भाग पहले से अधिक हो सकता है। ऐसी दशा में जनसंख्या की वृद्धि से देश और अधिक उन्नत अवस्था को ही पहुँचा है तथा जनसंख्या की वृद्धि भय के स्थान पर हर्ष का विषय है। आधुनिक अर्थशास्त्री जनसंख्या को राष्ट्रीय आय से सम्बन्धित करके देखते हैं। अब जनसंख्या की समस्या उसके आकार तथा खाद्य सामग्री की पूर्ति के सम्बन्ध के रूप में हमारे समक्ष नहीं आती वरन् जनसंख्या तथा उत्पादन क्षमता के सम्बन्ध के रूप में आती है। इस दृष्टिकोण से जिस सिद्धान्त का निर्माण हुआ है उसे अनुकूलतम जनसंख्या का सिद्धान्त कहते हैं।

अनुकूलतम जनसंख्या का सिद्धान्त (The Optimum Theory of Population)

यह सिद्धान्त जनसंख्या को देश के साधनों के उपयोग से सम्बन्धित करता है। देश के साधनों का उपयोग वहाँ की जनसंख्या पर निर्भर है। किसी एक समय देश के साधनों से उपयोग के दृष्टिकोण से जनसंख्या का एक विशेष आकार ही उपयुक्त हो सकता है। जनसंख्या के आकार की उपयुक्तता की कसौटी प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय का अधिकतम होना है। जिस आकार पर प्रतिव्यक्ति राष्ट्रीय आय अधिकतम होती है वह अनुकूलतम (Optimum) जनसंख्या है। एक उदाहरण से यह विचार और भी अधिक स्पष्ट हो जावेगा।

एक छोटे से खेतिहर देश की कल्पना कीजिये जहाँ जमीन ही एक साधन है तथा इस समय ५ एकड़ भूमि का उपयोग हो रहा है ऐसी दशा में निम्नलिखित आँकड़ों पर विचार कीजिये•

जनसंख्या	कुल राष्ट्रीय आय	प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय
२५	६२५)	२५)
२७	८१०)	३०)
२९	८४१)	२९)

५ एकड़ भूमि के उपयोग के लिए तीन कल्पित जनसंख्यायें दी गई हैं। यह स्पष्ट है कि उसका सबसे अच्छा उपयोग तभी सम्भव है जब जनसंख्या २७ है क्योंकि उसी दशा में प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय अधिकतम है। यद्यपि जनसंख्या की वृद्धि से कुल राष्ट्रीय आय बढ़ती जाती है परन्तु उसकी वाञ्छनीयता (desirability) तभी प्रमाणित की जा सकती है जब प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय बढ़ रही हो। प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय के बढ़ने का अर्थ है कि जनसंख्या अनुकूलतम आकार से कम है (under-population) तथा उसकी ओर अग्रसर हो रही है। प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय के घटने का अर्थ है कि जनसंख्या अनुकूलतम आकार से अधिक है (over-population) तथा उसका बढ़ना वाञ्छनीय नहीं है। अत: इस दशा में इस देश के लिए २७ व्यक्तियों की जनसंख्या ही अनुकूलतम है। इस सिद्धान्त के अनुसार किसी एक समय पर दिये हुए साधनों के दृष्टिकोण से जनसंख्या का वह आकार ही अनुकूलतम है जो प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय को अधिकतम करे। अब हम इस सिद्धान्त के दूसरे पहलू पर विचार करेंगे।

ऊपर दिये हुए उदाहरण में हमने तीन जनसंख्याओं के लिये निश्चित साधन अथवा साधनों के विकास की निश्चित अवस्था मान ली थी। वास्तविकता में जनसंख्या के परिवर्तन के साथ प्रयुक्त साधनों की मात्रा भी बदलती जाती है। यदि ऊपर दिये हुए उदाहरण में, जब जनसंख्या बढ़कर २९ हो जाती है तब प्रयुक्त साधन भी बढ़कर ७ एकड़ भूमि हो जाँय तब २७ व्यक्ति अनुकूलतम आकार नहीं बतायेंगे। उस समय हमें फिर जनसंख्याओं को देखकर निकालना पड़ेगा कि प्रतिव्यक्ति राष्ट्रीय आय किस जनसंख्या पर अधिकतम होती है। सम्भवतया ७ एकड़ भूमि के उपयोग के दृष्टिकोण से ३२ व्यक्तियों की जनसंख्या अनुकूलतम हो अर्थात इस जनसंख्या पर प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय अधिकतम हो। कहने का तात्पर्य यह है कि अनुकूलतम जनसंख्या कोई निश्चित आकार नहीं है। ऊपर दिये हुए उदाहरण में केवल भूमि को साधन मानकर हम दिखा चुके हैं कि ज्यों ज्यों भूमि बढ़ती जाती है, अनुकूलतम जनसंख्या बदलती जाती है। यह तथ्य देश के समस्त साधनों के सम्बन्ध में भी उतना ही लागू होगा। हमारा निष्कर्ष यह है कि जनसंख्या का अनकूलतम आकर किसी देश के साधनों के विकास और प्रयोग (development and use) के साथ बदलता रहता है। वह एक प्रवैगिक विचार (Dynamic Concept) है। हाँ, यदि देश के समस्त साधन विकसित हो चुके हों, अर्थात् साधनों के और अधिक विकास की कोई सम्भावना न हो तथा उनका उपयोग हो रहा हो, तब हम ऐसे अनुकूलतम आकार की कल्पना कर सकते हैं जो स्थिर हो। ऐसा करने में हम यह मान लेते हैं कि साधनों के वर्तमान विकास और उपयोग की अवस्था ऐसी ही बनी रहेगी।

अनुकूलतम जनसंख्या का हम चित्र द्वारा निरूपण कर सकते हैं। साधनों के विकास की दी हुई अवस्था के आधार पर जब तक जनसंख्या अनुकूलतम आकार से कम होगी प्रतिव्यक्ति राष्ट्रीय आय बढ़ती जायगी, जब जनसंख्या उससे अधिक होगी प्रतिव्यक्ति राष्ट्रीय आय घटने लगेगी।
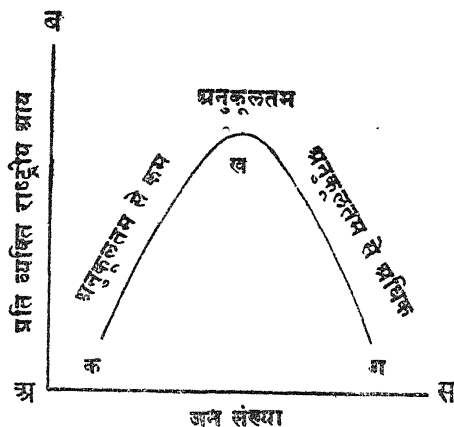
ऊपर के चित्र में क ख तक जनसंख्या अनुकूलतम आकार से कम है (under-population) है। ख ग तक अनुकूलतम आकार से अधिक (over-population) है। ख बिन्दु पर जनसंख्या अनुकूलतम है क्योंकि इस बिन्दु पर प्रतिव्यक्ति राष्ट्रीय आय अधिकतम है।

डाल्टन का फार्मूला (Dalton's Formula)

अनुकूलतम आकार से जनसंख्या की न्यूनता या अधिकता मापने के लिए प्रो० डाल्टन ने एक फार्मूला दिया है। उनके अनुसार हमें वास्तविक जनसंख्या से अनुकूलतम जनसंख्या को घटाकर अनुकूलतम जनसंख्या से भाग देना चाहिए।

$$\text{न्यूनाधिक माप} = \frac{\text{वास्तविक जनसंख्या} - \text{अनुकूलतम जनसंख्या}}{\text{अनुकूलतम जनसंख्या}}$$

यदि परिणाम धनात्मक हो तब जनसंख्या अधिक है। यदि ऋणात्मक है तो जनसंख्या कम है। यदि परिणाम शून्य है तो जनसंख्या अनुकूलतम है।

व्यवहारिक प्रयोग में डाल्टन का फार्मूला विशेष महत्व नहीं रखता क्योंकि अनुकूलतम जनसंख्या का पता लगाना सरल नहीं है।

अनुकूलतम-सिद्धान्त की आलोचना (Criticism of the Theory)

यह सिद्धान्त केवल प्रतिव्यक्ति राष्ट्रीय आय के अधिकतम होने पर केन्द्रित है तथा राष्ट्रीय आय के वितरण-पक्ष के प्रभावों को यह बिलकुल भुला देता है। यह

सम्भव है कि प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय बढ़ रही है परन्तु राष्ट्रीय आय का अधिकांश भाग कुछ गिने चुने लोगों के पास जा रहा हो तथा गरीबों का भाग शोषण के कारण कम हो रहा हो। उस दशा में आर्थिक-क्षेम के दृष्टिकोण से जनसंख्या अनकूलतम नहीं होगी (भले ही प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय-आय अधिकतम हो) ।

इस सिद्धान्त की अनुकूलतम जनसंख्या की कसौटी कोई व्यापक कसौटी नहीं है । किसी भी देश में जनसंख्या-नीति एक सामाजिक उद्देश्य प्राप्त करने के दृष्टिकोण से अपनाई जाती है । यह आवश्यक नहीं है कि यह उद्देश्य प्रतिव्यक्ति राष्ट्रीय आय को अधिकतम करना ही हो । नाजी देशों ने स्वस्थ मनुष्यों की संख्या बढ़ाने के विचार से जनसंख्या को बढ़ाने की नीति को अपनाया, यद्यपि इस नीति से प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय की वृद्धि आवश्यक नहीं थी । रूस आज भी ऐसी ही नीति अपनाये हुये हैं । वहाँ ग्यारह बच्चों की माँ को 'मदर हीरोइन' (Mother Heroine) की उपाधि से विभूषित किया जाता है ।

अनुकूलतम जनसंख्या के विचार में एक व्यवहारिक कठिनाई भी है । अनुकूलतम आकार का पता लगाना कोई सहज कार्य नहीं है । देश के साधनों के विकास की दी हुई अवस्था के लिये अनुकूलतम आकार को जानने के हेतु पूरे और सही आँकड़ों की प्राप्ति तथा उनका सही विश्लेषण आवश्यक है इसके अतिरिक्त अनुकूलतम आकार बदलता रहता है, इससे व्यवहारिक कठिनाई और भी बढ़ जाती है । इन्हीं कठिनाइयों से डाल्टन का फार्मूला उपयोगी सिद्ध नहीं हुआ है ।

अनुकूलतम सिद्धांत की महत्ता (The Importance of the Theory)

उपर्युक्त आलोचनाओं से यह निष्कर्ष नहीं निकलना चाहिये कि अनुकूलतम सिद्धान्त की कोई व्यवहारिक महत्ता नहीं है । वास्तव में यह सिद्धांत जनसंख्या नीति के निर्माण के लिये एक कसौटी प्रस्तुत करता है । जनसंख्या का बढ़ना सदैव ही बुरा नहीं होता । इस सिद्धान्त को ध्यान में रखकर जनसंख्या को बढ़ाने के लिये प्रोत्साहित अथवा हतोत्साहित किया जा सकता है। माल्थस जनसंख्या की वृद्धि को सदैव भय की दृष्टि से देखते थे ।इस सिद्धान्त की यही विशेषता है कि वह ऐसे भ्रामक विचारों को दूर करता है। नीचे हम उपर्युक्त सिद्धान्त की माल्थस के सिद्धान्त से विभिन्नता दिखायेंगे ।

माल्थस के सिद्धांत से तुलना (The Optimum Theory & the Malthusian Theory of Population)

(१) जनसंख्या सम्बन्धी उपर्युक्त दोनों सिद्धान्तों के अध्ययन के बाद उनका अन्तर स्पष्ट हो जाना चाहिये । माल्थस जनसंख्या को केवल खाद्य-पदार्थ से सम्बन्धित करके देखते हैं जबकि अनुकूलतम-सिद्धान्त जनसंख्या और राष्ट्रीय आय के सम्बन्ध का अध्ययन करता है ।

माल्थस की कसौटी के अनुसार उस समय जनाधिक्य नहीं होगा, अतएव माल्थस की कसौटी अपूर्ण है ।

भारत की जनसंख्या अनुकूलतम है या अधिक(Is India Overpopulated ?)

यह जानने के लिये हमें पता लगाना होगा कि भारत की वर्तमान जनसंख्या से प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय अधिकतम है अथवा नहीं । यदि नहीं तो हमें देखना होगा कि जनसंख्या की वृद्धि से प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय घटेगी अथवा बढ़ेगी । यदि इस समय प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय अधिकतम नहीं है तथा जनसंख्या की वृद्धि से प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय घटती है तो स्पष्ट है कि भारत की जनसंख्या अनुकूलतम से अधिक है । यदि हम भारत के आर्थिक साधनों की वर्तमान अवस्था (साधनों के प्रयोग और विकास की वर्तमान अवस्था) देखें तो स्पष्ट रूप से विदित हो जावेगा कि हमारे देश की जनसंख्या अनुकूलतम नहीं है वरन् यहाँ जनाधिक्य (over-population) है ।

कुछ लोग यह तर्क उपस्थित करते हैं कि भारत की औसत राष्ट्रीय आय में बराबर वृद्धि हुई है अतः यहाँ जनाधिक्य नहीं है । इस मत में दो भूलें छिपी हुई हैं । एक तो यह कि राष्ट्रीय आय के विभिन्न अनुमान विभिन्न समयों पर किये गए थे । इन विभिन्न समयों पर देश के आर्थिक साधनों के विकास की अवस्था भी भिन्न थी और इसलिये राष्ट्रीय आय के अनुमान भी भिन्न थे । प्रत्येक अवस्था के राष्ट्रीय आय के अनुमान उस समय के जनाधिक्य की ओर संकेत करते हैं । उदाहरण के लिए सन् १८६७-७० में औसत राष्ट्रीय आय (दादाभाई नौरोजी के अनुसार २०) थी तथा १९०० में लार्ड कर्जन के अनुसार ३०) थी और १९१३-१४ में (वाडिया और जोशी के अनुसार) ४४।–) आदि थी । इन अनुमानों को कौन अनुकूलतम अथवा उससे कम जनसंख्या का साक्षी मान सकता है ? वास्तव में यह बढ़ती हुई औसत राष्ट्रीय आय देश के उस समय से लेकर अबतक की जनाधिक्य की स्थिति की ही द्योतक है । दूसरी बात यह है कि औसत राष्ट्रीय आय की वृद्धि वास्तविक राष्ट्रीय आय की वृद्धि का कोई अनुमान नहीं देती । वह केवल द्राव्यिक वृद्धि (increase in money income) बताती हैं जो मुद्राप्रसार के कारण है; अन्यथा यह विचारने योग्य बात है कि आजकल जब देश में बेकारी फैल रही हो, उस समय (वास्तविक) राष्ट्रीय आय कैसे बढ़ सकती है ? इन्हीं कारणों से हमारा मत है कि भारत में जनाधिक्य है ।

यदि माल्थस की कसौटी से भी देखा जाय तो हमारे निष्कर्ष की पुष्टि ही होगी । बाढ़, भूचाल, अकाल आदिअभी हाल की ही घटनायें हैं। इन नैसर्गिक अवरोधों के अतिरिक्त देश की गरीबी भी भारत के जनाधिक्य को स्पष्ट रूप से बता रही है ।

EXERCISES

1. State and explain the Malthusian Theory of Poputlaion and in this connection examine the concept of "Optimum Population."

Agra. U. 1951

2. Write a note on "Malthusian Theory of Population."

Agra U. 1950

3. "The Problem of Population is not one of mere size in relation to food supply, but of efficient Production and equitable Distribution." Discuss.

Agra U. B. Com. 1953

4. Write a short note on Optimum Poulation.

Agra U. B. Com. 1951

5. Critically examine the Malthusian Theory of Population.

Rajputana U. 1951

6. What is the Optimum Theory of Population. Do you think India is over-populated ?

Allad. U. B. A. 1951

अध्याय १५

पूँजी

(CAPITAL)

पूँजी के अर्थों की विभिन्नता की चर्चा करते हुये प्रो० मार्शल ने कहा है कि इस विचार के उतने ही अर्थ हैं जितने कि आय के। अपनी पुस्तक के अन्त में एक परिशिष्ट में उन्होंने इन विभिन्न विचारों का विवेचन किया है। पूँजी की इन विभिन्न परिभाषाओं के कारण बहुधा विरोधात्मक विचार व्यक्त किये जाते हैं। उदाहरण के लिये कुछ अर्थशास्त्रियों (बैनहम आदि) का मत है कि उपभोक्ताओं की वस्तुयें उदाहरण के लिये कार रेडियो आदि पूँजी हैं तथा कुछ अन्य अर्थशास्त्री इन्हें पूँजी नहीं मानते। इन विरोधात्मक विचारों का कारण पूँजी की एक उचित परिभाषा का अभाव है। प्रचलित परिभाषायें बहुधा यह भुला देती हैं कि पूँजी उत्पादन का साधन है तथा उसमें उत्पादन से सम्बन्धित विशेषतायें होनी चाहिये। यही उपभोग-पूँजी (consumption capital) जैसे भ्रामक विचारों के लिये उत्तरदायी है, अन्यथा पूँजी को, जो उत्पादन का साधन है, उपभोग पूँजी कैसे कहा जा सकता है ? उपभोग और उत्पादन एक दूसरे के विपरीत है। हम ऐसी परिभाषा देने की चेष्टा करेंगे जिससे इस प्रकार के भ्रमों की संभावना ही न रहे तथा जो पूंजी का स्पष्ट बोध कराने में समर्थ हो।

हमारे मत से प्राकृतिक देनों को (free gifts of nature) छोड़कर आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के लिए प्रयुक्त अन्य सभी वस्तुयें पूँजी के अन्तर्गत हैं जब उन्हें उत्पादन क्रिया के दृष्टिकोण से देखा जाता है। इस परिभाषा से दो बातें एकदम स्पष्ट हो जाती हैं। **एक तो यह** कि प्रकृति की देन पूँजी के अन्तर्गत नहीं है। **दूसरे यह** कि उत्पादन-क्रिया के दृष्टिकोण से ही वस्तुयें पूँजी के अन्तर्गत ली जा सकती हैं। उत्पादन क्रिया के दृष्टिकोण से तात्पर्य वृद्धिमान सीमान्त उपयोगिता से है। इन बातों को ध्यान में रखकर हमें यह निर्णय करने में कोई कठिनाई नहीं होगी कि विभिन्न वस्तुयें उदाहरणार्थ रेडियो, कार आदि पूँजी हैं अथवा नहीं।

क्या उपभोग-पदार्थ पूँजी हैं ? (Are consumption goods capital?)

कुछ उपभोग पदार्थों से काफी समय तक सेवायें प्राप्त होती रहती हैं। इनके सम्बन्ध में अक्सर प्रश्न किया जाता है कि इन्हें पूँजी माना जाय अथवा नहीं। कुछ अर्थशास्त्री जिनमें बैनहम भी शामिल हैं, इन पदार्थों को पूंजी मानते हैं। उनका कहना है कि कार, रेडियो आदि से काफी समय तक प्रवाह-रूप सेवायें (flow of service)

प्राप्त होती रहती है अतः इन्हें पूँजी मानना चाहिये । सेवाओं से अभिप्राय उनसे प्राप्त उपयोगिता से ही है । हम इस मत को तभी स्वीकार कर सकते हैं जब इससे प्राप्त सीमान्त उपयोगिता वृद्धिमान हो । यदि इन पदार्थों से प्राप्त सीमान्त उपयोगिता ह्रासमान है तब इन्हें पूँजी नहीं कहा जा सकता । यदि व्यवहारिक दृष्टिकोण से इस प्रश्न पर विचार किया जाय तो सम्भवतया इन पदार्थों को पूँजी नहीं कहा जा सकता । रेडियो पर ही विचार कीजिये । जिस समय वह खरीदा जाता है उस समय उससे प्राप्त उपयोगिता बहुत अधिक होती है । धीरे-धीरे रेडियो सुनने का शौक कम होता जाता है अर्थात् उसकी सेवाओं का महत्व घटता जाता है । दूसरे शब्दों में उससे ह्रासमान सीमान्त उपयोगिता प्राप्त होती है । इस दशा में उसे पूँजी नहीं कहा जा सकता ।

क्या भूमि पूँजी है ? (Is Land Capital ?)

इस प्रश्न पर बहुत भ्रान्तिपूर्ण विचार प्रगट किये जाते हैं वास्तव में इस भ्रम का मुख्य कारण भूमि शब्द है । हमें याद रखना चाहिये कि भूमि शब्द का प्रयोग अर्थशास्त्र में दो अर्थों में होता है । एक प्राकृतिक देन के अर्थ में जो विशिष्ट (specific) अथवा त्याग रहित हैं, दूसरे जमीन के अर्थ में । इन दोनों अर्थों की चर्चा हम 'भूमि' के अध्याय में कर चुके हैं ।

यदि भूमि शब्द से हमारा अर्थ प्राकृतिक देन (free gift of nature) से है तो वह पूँजी नहीं है । यदि भूमि से हमारा तात्पर्य जमीन से है, तो हमें विचारना होगा कि जमीन में प्राकृतिक देन कहाँ तक विद्यमान है । क्लासिकल अर्थशास्त्री—रिकार्डो तथा मार्शल—जमीन के जन्मजात तथा अक्षय गुणों (Original and Indestructible properties) को ही प्रकृति की देन मानते हैं । जमीन में मानव-जाति सदियों से परिवर्तन करती आई है । जमीन का वर्तमान रूप अधिकांश में मनुष्यों के परिश्रम का फल है । इसलिए प्रो० मार्शल ने जमीन को पूँजी का ही रूप माना है । सिद्धान्त के दृष्टिकोण से शुद्ध तो यह होगा कि जमीन की जन्मजात तथा अक्षय शक्तियों को छोड़ कर हम उसे पूँजी के नाम से पुकारें । बेनहम एवम् अन्य अर्थशास्त्री जब भूमि को पूँजी मानते हैं तो वे भूमि का प्रयोग जमीन के अर्थ में ही करते हैं । बैनहम ने स्वयं लिखा है कि प्राकृतिक देन के अर्थ में भूमि पूँजी नहीं है । केवल मनुष्य-कृत भूमि ही पूँजी के अन्तर्गत है ।[1] विक्सटीड (Wicksteed) ने ठीक ही कहा है कि भूमि और पूँजी का अन्तर स्पष्टतया, स्वेच्छाचारिता से किया जाता है । जमीन की जन्मजात तथा अक्षय शक्तियाँ भूमि है तथा शेष पूँजी ।

क्या समस्त सम्पत्ति (Wealth) पूँजी है

फ्रेंच अर्थशास्त्री प्रो० फिशर के अनुसार सम्पत्ति के समस्त समूह पूँजी है । इस मत को मानने में कठिनाई यह है कि सम्पत्ति के अन्तर्गत सभी सीमित एवम् उपयोगी

[1] Economics—Benham p. 138-139

वस्तुयें आती हैं। हम उत्पादन के अध्याय में बता चुके हैं कि कोई भी वस्तु एक से अधिक आवश्यकता की सन्तुष्टि करती है और इसलिए उसे उत्पादन अथवा उपभोग से सम्बन्धित करके देखा जा सकता है। अतः समस्त सम्पत्ति तभी पूँजी मानी जा सकती है जब उसे उत्पादन क्रिया से सम्बन्धित करके देखा जाय। प्रो० फिशर की परिभाषा इस बात को स्पष्ट नहीं करती। हम उनके कथन में इतना सुधार करना चाहेंगे कि समस्त सम्पत्ति पूँजी उस समय है जब उसे उत्पादन क्रिया के दृष्टिकोण से देखा जाता है। यदि सम्पत्ति को उपभोग के दृष्टिकोण से देखा जाय तो उसे पूँजी नहीं कहा जायेगा। रेडियो, कार आदि जिसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है सीमित एवम् उपयोगी पदार्थ होने के कारण सम्पत्ति अवश्य हैं परन्तु उन्हें सदैव पूँजी नहीं कहा जा सकता। उपभोग-पदार्थों के सम्बन्ध में दिये हुए उदाहरण के अनुसार रेडियो, यद्यपि वह सम्पत्ति है, पूँजी नहीं है।

क्या व्यक्तिगत गुण (Personal Qualities) पूँजी हैं

कुछ अर्थशास्त्रियों के अनुसार एक मनुष्य के व्यक्तिगत गुण पूँजी है। उनका कहना है कि गुणों के निखार और विकास के लिये मनुष्य को खर्च करना पड़ता है। अतः उन्हें पूँजी मानना चाहिये। इन गुणों को बहुधा वैयक्तिक पूँजी (Personal Capital) कहकर पुकारा जाता है। इस मत में एक भूल छिपी हुई है। खर्च करने से गुणों का केवल निखार और विकास ही होता है, गुणों की सृष्टि नहीं होती। अतः जहाँ तक गुणों का निखार सम्भव हो सका हो वहीं तक उन्हें पूँजी कहा जा सकता है।

सच तो यह है कि मनुष्यों के वैयक्तिक गुण प्रकृति प्रदत्त होते हैं और मनुष्य उनमें बहुत कम परिवर्तन कर सकता है। यदि खर्च करने से गुणों की सृष्टि सम्भव होती तो शायद हो कोई व्यक्ति ऐसा रहता जो बुद्धिहीन हो। वास्तव में प्रकृति-प्रदत्त गुणों का थोड़ा बहुत परिमार्जन ही मनुष्य कर पाता है। एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायगी। एक परिवार के ऐसे दो व्यक्तियों को लीजिये जिन्होंने साथ ही साथ एम० ए० और कानून की परीक्षायें पास कर वकालत शुरू की हो। इन दोनों के ऊपर खर्च किया हुआ धन लगभग समान होगा परन्तु वकालत की सफलता समान नहीं होगी। सम्भव है कि एक व्यक्ति अपने गुणों से अपनी धाक जमा ले और दूसरा व्यक्ति मवक्किलों के इन्तजार में मक्खी मारता रहे। हम यह मानने से इन्कार नहीं करते कि मनुष्य प्रकृति-प्रदत्त गुणों में थोड़ा बहुत परिवर्तन या परिमार्जन कर सकता है; परन्तु इन थोड़े बहुत परिमार्जन के कारण हम उसके गुणों को पूँजी नहीं कह सकते। अधिकांश में वह प्रकृति-प्रदत्त है और इसलिए उन्हें भूमि (free gift of nature) कहना उचित होगा। प्रो० मार्शल ने ऐसे गुणों से युक्त व्यक्ति की आय को योग्यता का लगान (Rent of Ability) कहा है। अधिकं

से अधिक हम यह कह सकते हैं कि मनुष्य के गुणों का मनुष्य-कृत भाग अथवा विकास पूँजी है; परन्तु उसके गुण पूँजी नहीं हैं।

ऊपर कतिपय विवादास्पद प्रश्नों के उत्तर दिये गये हैं। हमारी परिभाषा के अनुसार किसी भी वस्तु के पूँजी होने अथवा न होने का निर्णय बहुत ही सरल अथवा स्पष्ट है। इसके अतिरिक्त पूँजी की जो परिभाषा हमने दी है, उसके अनुसार यह समझने में कठिनाई नहीं होती कि हम प्रत्येक वस्तु को पूँजी (उत्पादन) अथवा उपभोग से सम्बन्धित करके देख सकते हैं। जब हम उसे उत्पादन से सम्बन्धित करके देखते हैं तो वह पूँजी है अन्यथा नहीं। हम एक वस्तु को उत्पादन अथवा उपभोग दोनों से एक साथ सम्बन्धित करके नहीं देख सकते। इसी कारण हम उपभोग–पूँजी (Consumption-Capital) आदि भ्रामक वाक्यांशों को, जो परस्पर विरोधी विचारों को हमारे सामने रखते हैं, अशुद्ध ठहराते हैं। अब हम पूँजी के कार्यों पर विचार करेंगे।

पूँजी के कार्य (Functions of Capital)

हम ऊपर पूँजी की परिभाषा दे चुके हैं। साधारणतया पूँजी का कार्य, अन्य उत्पादन के साधनों की तरह उत्पादन में योग देना है। जब हम उसके कार्यों की विस्तार से चर्चा करते हैं तो हम उपर्युक्त कार्य के विभिन्न रूपों का अध्ययन करते हैं। पूँजी अनेक प्रकार से उत्पादन में योग देती है और इन्हीं प्रकारों के आधार पर हम पूँजी के निम्नलिखित कार्यों (या कार्यों के रूप) का अध्ययन करते हैं।

(१) कच्चे माल के रूप में पूँजी उत्पादन का आधार प्रस्तुत करती है। बिना कच्चे माल के उत्पादन सम्भव ही नहीं है। पूँजी से कच्चे माल की प्राप्ति होती है।

(२) यंत्र आदि के रूप में पूँजी उत्पादन के संगठन को बहुत विस्तृत कर देती हैं। यंत्रादि के कारण उत्पादन बड़ी मात्रा में तथा एक रूप इकाइयों (uniform units) में सम्भव हो सका है। आज के वैज्ञानिक युग में यंत्रादि द्वारा उत्पादन की महत्ता बहुत बढ़ गई है।

(३) पूँजी के द्वारा न केवल उत्पादन की वस्तुओं का निर्माण होता है बरन् उपभोक्ताओं की वस्तुओं का भी। इस प्रकार समाज में उत्पादन और उपभोग की वस्तुयें बराबर प्रस्तुत होती रहती हैं।

(४) पूँजी द्वारा जीवन निर्वाह के साधनों की उपलब्धि होती है। श्रमिकों को दी जाने वाली मजदूरी, संगठनकर्त्ता को दिये जानेवाला वेतन आदि उत्पादक की पूँजी ही है। मजदूर आदि इसी से अपना जीवन निर्वाह करते हैं।

पूँजी के उपर्युक्त कार्यों से यह स्पष्ट हो गया होगा कि उसका मुख्य कार्य उत्पादन में योग देना है यद्यपि इस योग देने के अनेक रूप हो सकते हैं। अब हम पूँजी के विभिन्न रूपों पर विचार करेंगे।

पूँजी की परिभाषा देते हुए हम कह चुके हैं कि प्राकृतिक देनों को छोड़कर शेष सभी वस्तुयें उत्पादन क्रिया के दृष्टिकोण से पूँजी है। अत: पूँजी के विभिन्न रूप जानने के लिए हमें इन्हीं वस्तुओं के प्रकार देखने होंगे। साधारणतया हम इन्हें तीन वर्गों में रख सकते हैं या यों कहिये कि पूँजी के तीन रूप हैं:—

(i) यंत्रादि के रूप में पूँजी

(ii) अन्य वस्तुओं के रूप में पूँजी जैसे कच्चा माल आदि

(iii) द्रव्य के रूप में पूँजी

पूँजी के इन रूपों का विशेष महत्त्व है:—

(अ) पूँजी के इन रूपों तथा विभिन्न उपयोगों के आधार पर हम उसका अनेक वर्गों में विभाजन करने में समर्थ हैं।

(ब) **दूसरे,** पूँजी के तीसरे रूप की सहायता से हम पूँजी की वृद्धि तथा उसके संचय (increase and accumulation of capital) का अध्ययन करते हैं। पूँजी के पहले दो रूप, यंत्र, वस्तुयें आदि द्रव्य-पूँजी के ही परिवर्तित रूप हैं।

(स) **तीसरे,** पूँजी के पहले रूप अर्थात् यंत्रादि ने संसार की आर्थिक-व्यवस्था में आश्चर्य-जनक परिवर्तन उपस्थित कर दिये हैं। अत: उनका अध्ययन बहुत महत्त्व का विषय हो गया है। श्रम और पूँजी के संघर्ष की चर्चा उत्पादन के यंत्रों के प्रयोग के साथ ही साथ बढ़ती गई है। इन तीनों बातों की चर्चा हम क्रमश: करेंगे।

(अ)

पूँजी का विभाजन (Classification of Capital)

द्राव्यिक पूँजी को उसके मुख्य-मुख्य उपयोगों के अनुसार निम्न प्रकार से विभाजित किया जाता है।

(क) **शुद्ध पूँजी, वा स्वतंत्र पूँजी** (Pure capital, or free capital or floating capital) अमेरिकन के अर्थशास्त्री प्रो० क्लार्क का कहना है कि द्रव्य के रूप में जो पूँजी है उसे शुद्ध पूँजी (Pure capital) कहना चाहिये। अन्य पदार्थ वस्तु-पूँजी (capital goods) हैं। शुद्ध पूँजी की तुलना एक स्थिर झरने से की जा सकती है तथा वस्तु-पूँजी उसकी बूँदों के समान है जो उत्पादन में प्रविष्ट होकर फिर उसे छोड़ देती है। इसी द्रव्यिक पूँजी को प्रो० मार्शल ने स्वतंत्र पूँजी (fioating capital) कहा है। प्रो० मार्शल के अनुसार वह द्राव्यिक पूँजी जो किसी भी काम के लिये प्रयुक्त हो सकती है, स्वतंत्र पूँजी है।

(ख) **वेतन पूँजी** (Remunerative Capital) आजकल श्रमिकों तथा अन्य कर्मचारियों को, जो उत्पादन में योग देते हैं, पारिश्रमिक द्रव्य के रूप में दिया जाता है। वेतन के रूप में इस प्रकार दिये हुये द्रव्य को वेतन पूँजी कहा जाता है।

सहायक पूँजी (Auxiliary capital): इसके साथ उत्पादन में योग देने वाली पूँजी जैसे मशीनरी आदि को सहायक पूँजी कहा जाता है।

(ग) **व्यापार-पूँजी** (Trade capital) वह पूँजी जो द्राव्यिक आमदनी (money income) की प्राप्ति की हेतु लगाई जाती है, व्यापार पूँजी है। साधारण बोलचाल में पूँजी शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया जाता है।

(घ) **चालू पूँजी** (Working Capital) वह द्रव्य जिसे कोई भी उत्पादक साधारणतया अपने उत्पादन कार्य को चलाने के लिये लगाता है, चालू पूँजी कहलाती है। बड़ी-बड़ी कम्पनियों में कर्मचारियों के वेतन, कच्चे माल की खरीद आदि के लिये प्रयुक्त इस प्रकार की पूँजी लाखों करोड़ों रुपयों की होती है। इस पूँजी से उनका व्यवसाय चलता रहता है। व्यवसाय के प्रसार के साथ साथ यह पूँजी बढ़ती जाती है।

वस्तु-पूँजी का विभाजन (Classification of Capital Goods)

वस्तु पूँजी—यंत्रादि तथा अन्य वस्तुयें—का विभाजन भी उनके मुख्य उपयोगों के आधार पर ही किया गया है। यदि वस्तु-पूँजी में ऊपर दिये हुये विभाजन की विशेषतायें मौजूद हों तो हम उसे भी उसी नाम से पुकार सकते हैं। उदाहरण के लिये, यदि यंत्रादि अनेक प्रयोगों में आ सकते हों तो हम उन्हें भी स्वतन्त्र अथवा अनेकार्थी पूँजी (floating capital) कह कर पुकारेंगे। इसके विपरीत यदि उनका प्रयोग केवल एक विशेष कार्य के लिये हो और अन्य कामों में वह प्रयुक्त न हो सके तो हम उसे एकार्थी पूँजी (sunk capital) कहेंगे। वस्तु पूँजी का सबसे मुख्य भेद अचल और चल पूँजी का है जिस पर हम अधिक विस्तार से विचार करेंगे।

अचल और चल पूँजी (Fixed and Circulating Capital)

प्रसिद्ध अर्थशास्त्री एडम स्मिथ के अनुसार अचल और चल पूँजी का निर्णय इस बात पर होना चाहिये कि वस्तुओं से लाभ बिना स्वामित्व परिवर्तन के होता है अथवा स्वामित्व परिवर्तन से। उदाहरण के लिये, उत्पादन में प्रयुक्त कच्चे माल से, वस्तु के रूप में बिकने पर (स्वामित्व-परिवर्तन द्वारा) लाभ हो सकता है परन्तु वस्तु के उत्पादन में प्रयुक्त यंत्र अथवा मशीनरी (उस वस्तु के द्वारा) अपना स्वामित्व-परिवर्तन किये बिना ही लाभ देती है। इसलिये यंत्रादि अचल पूँजी हैं, कच्चा माल आदि चल पूँजी हैं।

रिकार्डो के अनुसार वे वस्तुयें अचल पूँजी हैं जिनका उपभोग धीरे-धीरे होता है तथा चल पूँजी उन वस्तुओं को कहते हैं जिन्हें बार-बार उत्पन्न करना पड़ता है। रिकार्डो ने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि इस सम्बन्ध में विभाजन की कोई सुनिश्चित रेखा नहीं खींची जा सकती।

चल और अचल पूँजी के उपर्युक्त विभाजन में परिशोधन करते हुए मिल (J.S. Mill) ने कहा है कि जो वस्तुयें उत्पादन में एक ही बार प्रयुक्त होकर अपना कार्य समाप्त कर देती हैं वे चल पूँजी हैं तथा जो वस्तुयें टिकाऊ हैं तथा ऐसा रहने तक उत्पत्ति करती रहती हैं वे अचल पूँजी हैं। प्रो० मार्शल तथा अधिकांश अर्थ-शास्त्री इसी मत को मानते हैं। मिल की परिभाषा की विशेषता यह है कि वह चल और अचल पूँजी का अन्तर स्पष्ट रूप से हमारे सामने रखती है, परन्तु उसकी कमी यह है कि उसमें पूर्ण वैज्ञानिक विशुद्धता नहीं है। एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायगी। लकड़ी के सामान पर पालिश करने वाले व्यक्ति को लीजिये। पालिश करने में उसे रेगमाल (sand paper) तथा पालिश की आवश्यकता पड़ेगी। यदि वह प्रतिदिन एक छोटे स्टूल पर पालिश करता हो तो रेगमाल का एक टुकड़ा दो तीन दिन तक बराबर काम देगा। एक ही प्रयोग में उसका काम समाप्त नहीं हो जायगा। अतः रेगमाल (sand paper) का टुकड़ा अचल पूँजी है। स्टूल पर लगाई हुई पालिश चल पूँजी है। इन दोनों के अन्तर को मिल की परिभाषा उचित रूप से व्यक्त नहीं करती। हमने पालिश को चल पूँजी इसलिये कहा है कि जितनी भी पालिश प्रयुक्त हुई है वह दुबारा प्रयोग में नहीं आयेगी; परन्तु यदि विचार कर देखा जाय तो यह बात रेगमाल के ऊपर भी उतनी ही लागू होती है। पहले दिन के प्रयोग से रेगमाल का खुरदरापन कम अवश्य हो जायगा। जितना खुरदरापन कम हो चुका है वह दूसरे दिन प्रयोग में आ ही नहीं सकता। अतः मिल की परिभाषा के अनुसार दोनों वस्तुयें एक सी हैं, फिर एक को चल और दूसरी को अचल पूँजी कैसे कहा जा सकता है ?

यदि ध्यानपूर्वक विचार किया जाय तो इन वस्तुओं का अन्तर विदित हो जायेगा। पालिश उत्पादित वस्तु, स्टूल का एक अभिन्न भाग हो जाती है जबकि रेगमाल के साथ यह बात नहीं है। इस अन्तर के आधार पर ही हम पालिश को चल तथा रेगमाल को अचल पूँजी कह सकते हैं। मिल की परिभाषा के अनुसार उनमें कोई अन्तर ही नहीं रह जाता। इसलिये हमने मिल की परिभाषा को वैज्ञानिक शुद्धता (Scientific Precision) से अपूर्ण माना है। मिल की परिभाषा की इस कमी को दूर करने के लिये हम चल और अचल पूँजी की निम्न परिभाषा देना चाहेंगे। **चल पूँजी** के अन्तर्गत पूँजी के वे सभी रूप हैं जो उत्पादन क्रिया में भाग लेकर उत्पादित वस्तु का अभिन्न अंग बन जाते हैं।

अचल पूँजी के अन्तर्गत पूँजी के वे रूप हैं जो उत्पादन क्रिया में भाग लेते हैं परन्तु उत्पादित वस्तु का अभिन्न अंग नहीं होते। अचल पूँजी दो प्रकार की हो सकती हैं।

(१) अविभाज्य (Indivisible) वह अचल पूँजी जो विभाजित होने पर सारी उपयोगिता खो देती है अविभाज्य अचल पूँजी है। उदाहरण के लिये, बढ़ई की आरी, रुखानी आदि अविभाज्य अचल पूँजी है क्योंकि यदि आरी आदि को टुकड़ों में विभाजित किया जाय तो वह बेकार हो जायगी। वह अचल पूँजी इसलिये है क्योंकि आरी उत्पादन क्रिया में भाग अवश्य लेती है परन्तु उत्पादित वस्तु का अभिन्न अंग नहीं होती।

(२) विभाज्य (Divisible)

वह अचल पूँजी जो टुकड़ों में विभाजित की जा सकती है विभाज्य अचल पूँजी है। रेगमाल इसी तरह की अचल पूँजी है।

चल और अचल पूँजी की जो परिभाषा हमने दी है वह मिल की परिभाषा से श्रेष्ठ है क्योंकि वह चल और अचल पूँजी के वास्तविक अन्तर को स्पष्ट करती है तथा उसके विरुद्ध ऐसी कोई आपत्ति नहीं उठाई जा सकती जो मिल की परिभाषा के विरुद्ध सम्भव है।

व्यक्तिगत तथा सामूहिक पूँजी (Individual and Collective Capital)

स्वामित्व के दृष्टिकोण से जो पूँजी एक व्यक्ति के अधिकार में है उसे व्यक्तिगत पूँजी कहा जाता है तथा जिस पूँजी पर मनुष्यों के समुदाय का अधिकार हो उसे सामूहिक पूँजी कहते हैं। उदाहरण के लिये, एक परिवार की पूँजी उसके सदस्यों की सामूहिक पूँजी है।

सार्वजनिक पूँजी (Social Capital)

जिस पूँजी पर किसी सार्वजनिक संस्था का अधिकार हो उसे सार्वजनिक पूँजी कहते हैं। शहर के अन्दर म्यूनिसिपैलिटी के पार्क, खेल के मैदान आदि ऐसी ही पूँजी हैं।

राष्ट्रीय पूँजी (National Capital)

जिस पूँजी पर एक राष्ट्र का अधिकार हो उसे राष्ट्रीय पूँजी कहते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी (International Capital)

जिस पूँजी पर एक से अधिक राष्ट्र का अधिकार हो उसे अन्तर्राष्ट्रीय पूँजी कहते हैं।

(ब)

पूँजी का संचय अथवा पूँजी का निर्माण (Accumulation of Capital or Formation of Capital)

पूँजी के सभी रूप अन्त में द्रव्य के रूप में परिणित किये जा सकते हैं। द्रव्य के रूप में पूँजी का निर्माण आय और उसके उपभोग के उस अन्तर पर निर्भर है

जिसका प्रयोग पुनः उत्पादन के लिये किया जाता है। आय और उपभोग के अन्तर का आसंचित भाग (hoarded) पूँजी निर्माण में योग नहीं देता। पूँजी निर्माण के सम्बन्ध में उपर्युक्त सत्य व्यक्ति तथा देश दोनों पर समान रूप से लागू है। अतएव आगे आय और उपभोग के अन्तर का प्रयोग करते समय हमने आसंचित धनराशि को उसमें सम्मिलित नहीं किया है।

बचत और उपभोग का क्लासिकल सिद्धान्त

प्राचीन अर्थशास्त्रियों के अनुसार किसी देश में पूँजी का निर्माण उस देश के निवासियों की कुल आय तथा उपभोग के अन्तर से होता है। यदि किसी देश में दूसरे देश की अपेक्षा आय और उपभोग का अन्तर अधिक हो तो वहाँ पूँजी का निर्माण पहले देश की अपेक्षा अधिक होगा। इन अर्थशास्त्रियों ने आय के अन्तर्राष्ट्रीय असमान वितरण के प्रभावों को भुला दिया है। उनके अनुसार एक उन्नतिशील देश के पूँजी निर्माण की गति तथा अन्य प्रगति दूसरे देश में पूँजी निर्माण को प्रभावित नहीं करती। वहाँ पूँजी निर्माण आय और उपभोग के अन्तर पर ही निर्भर होता है।

आधुनिक सिद्धान्त (The new theory of consumption and saving)

आधुनिक अर्थशास्त्रियों के अनुसार पूँजी के निर्माण में आयों की अन्तर्राष्ट्रीय असमानता बहुत प्रभाव डालती है। प्रो० रगनार नर्कसे (Ragnar Nurkse) के अनुसार एक देश के उपभोक्ताओं का व्यवहार दूसरे देश के उपभोक्ताओं से सम्बन्धित है।[१] जेम्स० एस० डयूजेन बेरी (James. S. Duesenbery)[२] ने अपनी पुस्तक में इस बात को सिद्ध किया है कि जब अच्छी वस्तुओं के बारे में मनुष्यों की जानकारी बढ़ती है, अथवा जब एक देश के लोग दूसरे देश के श्रेष्ठतर उपभोग से परिचित हो जाते हैं तो वे भी उनके अनुकरण की चेष्टा करते हैं। इसका प्रभाव उनके उपभोग पर पड़ता है और इसके द्वारा पूँजी के निर्माण पर भी। आधुनिक सिद्धान्त इसी बात में प्राचीन सिद्धान्त से भिन्न है अन्यथा प्राचीन सिद्धान्त की भाँति वह भी आय और उपभोग के अन्तर को पूँजी निर्माण का आधार मानता है।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे यह बात स्पष्ट हो गई होगी कि पूँजी का निर्माण बचत[३] (saving) द्वारा होता है। बचत के रूप में पूँजी के निर्माण को बहुधा पूँजी का संचय कहा जाता है और पूँजी के निर्माण (capital formation) से

---

[१] Problems of Capital Formation in Underdeveloped Countries pp.58 (पृष्ठ संख्या ५८) Ragnar Nurkse (published 1953)

[२] Income, Saving, and the Theory of Consumer Behaviour (Camridge 1940) p.p.27 (पृष्ठ संख्या २७)

[३] बचत में आसंचित धनराशि (Hoarded money) सम्मिलित नहीं होता।

तात्पर्य किसी देश में यंत्रादि (producer's goods) की मात्रा की वृद्धि से होता है। इन दोनों में शाब्दिक अन्तर ही है अन्यथा यंत्रादि के रूप में पूँजी बचत का ही एक रूप है। अब हम यह देखने की चेष्टा करेंगे कि पूँजी का संचय अथवा निर्माण किन कारणों पर निर्भर है।

मूलतः वे सभी कारण जो किसी देश की आय और उपभोग को प्रभावित करते हैं, पूँजी के निर्माण पर भी अपना प्रभाव डालेंगे। इन कारणों को मोटे तौर पर हम दो भागों में बाँट सकते हैं।

(१) बचत करने की क्षमता (capacity to save)

(२) बचत करने की इच्छा (willingness to save)

इस विभाजन का यह अर्थ कदापि नहीं है कि यह दोनों कारण एक दूसरे से निरपेक्ष और स्वतंत्र हैं। यदि मनुष्य में बचत करने की क्षमता होगी, तो बचत करने की इच्छा का स्वभावतः विद्यमान होना स्पष्ट ही है। क्षमता होने पर भी बचत की इच्छा का अभाव अपवाद स्वरूप ही होगा। इसी प्रकार बचत करने की इच्छा होने पर बचत करने की क्षमता बढ़ाने के लिये लोग अधिक प्रयत्नशील होंगे। अतएव यह दोनों कारण परस्पर एक दूसरे को प्रभावित करते हैं।

(१) बचत करने की क्षमता मनुष्य अथवा देश की आय पर निर्भर है। यदि उपभोग में कोई परिवर्तन न हो तथा आय बढ़ जाय तो बचत करने की क्षमता भी बढ़ जायगी। यदि तीन सौ रुपये माहवार पाने वाला व्यक्ति दो सौ रुपये उपभोग पर खर्च करता हो, तो उसकी बचत सौ रुपये होगी। इससे यह स्पष्ट है कि आय के बढ़ने से अधिक बचत की जा सकती है। यदि आय और उपभोग दोनों ही में वृद्धि हो परन्तु अपेक्षाकृत आय की वृद्धि अधिक हो तब भी अधिक बचत सम्भव हो सकेगी। इसके लिये हमें बचत करने की क्षमता पर प्रभाव डालने वाले कारणों का अध्ययन करना होगा। इस सम्बन्ध में यह बात बता देना उचित होगा कि आय की वृद्धि यंत्रादि (capital goods) के रूप में प्रयुक्त पूँजी से ही सम्भव है क्योंकि इनके प्रयोग से अधिक उत्पादन और उससे अधिक आय प्राप्त हो सकती है। बचत करने की क्षमता बढ़ाने के लिये प्रत्येक देश यंत्रादि का अधिक संचय करने की चेष्टा करता है ताकि उस देश का उत्पादन और उससे प्राप्त आय की वृद्धि हो सके। इस बारे में निम्न-लिखित बातें विशेष प्रभाव डालती हैं।

(अ) विदेशी पूँजी (Foreign capital)

यदि किसी देश में यंत्रादि के रूप में पूँजी का अभाव हो तथा इस कारण वहाँ का उत्पादन और आय बहुत कम हो, तो विदेशी पूँजी द्वारा यह कमी दूर की जा सकती है। वर्तमान समय में अनेक पिछड़े हुए देश अन्य देशों से उत्पादन में प्रयुक्त

यंत्रादि की सहायता से पूँजी निर्माण का प्रयत्न कर रहे हैं। पूँजी निर्माण के लिये विदेशी पूँजी के प्रयोग का सदैव समर्थन नहीं किया जा सकता। इसके लिये विदेशी पूँजी की प्राप्यता की शर्तों का अध्ययन करना होगा। सामान्यतः यह कहा जा सकता है कि यदि विदेशी पूँजी अनुकूल शर्तों पर प्राप्त हो, तो उसके प्रयोग में कोई आपत्ति न होनी चाहिये।

(ब) व्यवसायिक नीति (Commercial Policy)

बचत करने की क्षमता बढ़ाने के लिये एक उचित व्यवसायिक नीति आवश्यक है। इसके लिये हमें आयात और निर्यात के सम्बन्ध में एक निश्चित नीति अपनानी होगी। यदि हम विदेशों से विलासिता आदि की वस्तुयें न खरीद कर उत्पादन में प्रयुक्त यंत्रादि को खरीदें तो इससे पूँजी निर्माण में अधिक सहायता मिलेगी। इस उद्देश्य को पाने के लिये एक देश बाहर से आने वाली विलासिता की वस्तुओं के उपभोग को रोकने अथवा कम करने के लिये इन पर आयात-कर (import duty) लगा सकता है। या इनका आयात निषिद्ध कर सकता है। देश के अन्दर भी आय को उत्पादन की ओर मोड़ने के लिये ऐसी ही नीति अपनायी जा सकती है। इस दिशा में देश के उद्योगों के लिये अपेक्षित कच्चे माल के निर्यात को हमें रोकना चाहिये। इस प्रकार एक देश उचित व्यवसायिक नीति अपना कर देश के उत्पादन और आय की वृद्धि कर पूँजी निर्माण में आगे बढ़ सकता है।

(स) प्राकृतिक सम्पत्ति तथा आर्थिक विकास की स्थिति

किसी देश की बचत करने की क्षमता उसकी प्राकृतिक सम्पत्ति तथा उसके उपयोग के फलस्वरूप वहाँ के आर्थिक विकास पर भी निर्भर होगी। यदि देश प्राकृतिक साधनों से परिपूर्ण है तथा उसका उपयोग भली प्रकार हो रहा है तो निश्चय ही वह समृद्धिशील होगा जिसके फलस्वरूप बचत करने की क्षमता अवश्य बढ़ जायगी। इन कारणों में उत्पादन के साधनों की कुशलता, परिवहन और संचार साधन का विकास, कर-प्रणाली आदि सभी सम्मिलित हैं क्योंकि साधनों की कुशलता ही देश की संपत्ति के समुचित उपयोग को सम्भव बना सकती है तथा परिवहन और संचार साधन इसमें सहायक सिद्ध होते हैं। कर-प्रणाली की बचत की क्षमता पर सीधा-सीधा प्रभाव पड़ता है। यदि अधिक आय कर द्वारा ले ली जाती है तो व्यक्ति की बचत की क्षमता अवश्य कम हो जायगी, इसके विपरीत यदि कर द्वारा आय का अल्पांश ही सरकार द्वारा लिया जाय तो बचत करने की क्षमता बढ़ जायगी।

२. बचत करने की इच्छा (Willingness to Save)

यह सम्भव है कि किसी व्यक्ति अथवा देश में बचत करने की क्षमता विद्यमान हो परन्तु बचत करने की इच्छा न हो। इस दशा में पूँजी का निर्माण लगभग नहीं

के बराबर होगा । बचत करने की इच्छा पूँजी के निर्माण अथवा संचय में बहुत महत्वपूर्ण है । बचत करने की इच्छा एक ओर तो मनुष्य की मानसिक प्रवृत्तियों पर निर्भर होती है तथा दूसरी ओर उन परिस्थितियों पर भी जो बचत करने की इच्छा को प्रोत्साहित अथवा हतोत्साहित करती हैं ।

(अ) मानसिक प्रवृत्तियाँ (Mental Outlook)

(१) दूरदर्शिता (Foresight)

वे मनुष्य जो अधिक दूरदर्शी होते हैं भविष्य के लिये बचत करने की पूरी चेष्टा करते हैं । भविष्य की सही जानकारी न होने के कारण दूरदर्शी व्यक्ति अपनी आय का काफी भाग बचाते हैं । ऐसे व्यक्ति भावी घटनाओं के लिये अपेक्षित धनराशि का संग्रह प्रारम्भ से ही करते हैं । वे व्यक्ति जो दूरदर्शी नहीं हैं अथवा कम दूरदर्शी हैं अपेक्षाकृत कम बचत कर पाते हैं । अतः जिस देश में अधिक दूरदर्शी व्यक्ति होंगे वहाँ की बचत भी, अन्य बातें समान रहने पर, दूसरे देशों की अपेक्षा अधिक होगी ।

(२) मानव-स्वभाव (Human Nature)

कुछ व्यक्ति स्वभावतः बचत करने के आदी होते हैं और वे अन्य साधारण कामों की भाँति बचत भी करते हैं । कुछ व्यक्ति स्वभाव से ही फिजूल खर्च होते हैं और उनके लिये बचत करना असम्भव होता है । ऐसे व्यक्ति पहले वालों की अपेक्षा बहुत कम बचत करने में समर्थ होंगे । जिस देश के व्यक्ति स्वभाव से ही बचत करने के आदी होंगे वहाँ दूसरे देशों की अपेक्षा अधिक बचत सम्भव होगी । जब व्यक्ति स्वभावतः बचत करना चाहता है तो अनेक कारण उसमें योग दे सकते हैं । उदाहरणार्थ, पारिवारिक स्नेह के कारण तथा उत्तराधिकारियों के लिये धनराशि छोड़ जाने की दृष्टि से भी लोग बचत करते हैं । यदि व्यक्ति का स्वभाव बचत करने का है, तो पारिवारिक स्नेह उसकी बचत करने की प्रवृत्ति को और अधिक बल देगा ।

(ब) परिस्थितियाँ (Conditions)

१. सामाजिक तथा राजनीतिक परिस्थितियाँ (Social & Economic Conditions)

इन परिस्थितियों का बचत करने की इच्छा पर विशेष प्रभाव पड़ता है । यदि एक देश का सामाजिक संगठन इस प्रकार का हो, जहाँ सामाजिक प्रतिष्ठा का आधार धन-धान्य न होकर मनुष्य के गुण हों तो वहाँ बचत करने की इच्छा बलवती नहीं हो सकती । यदि राजनैतिक परिस्थितियाँ भी ऐसी हों कि सरकार जनता द्वारा की हुई बचत पर रोक लगा दे तब भी व्यक्तियों की बचत करने की इच्छा कम हो जावेगी । इसके विपरीत यदि सामाजिक प्रतिष्ठा का आधार धन-धान्य हो तथा राजनैतिक परिस्थितियाँ अनुकूल हों तो अधिक बचत सम्भव हो सकेगी । वर्तमान समय में मनुष्य

की सामाजिक स्थिति अधिकांशत उसकी धनाढ्यता पर ही निर्भर है। अतएव आजकल सामाजिक प्रतिष्ठा की भावना लोगों को बचत करने के लिये प्रेरित करती है। धनवान बनने के लिये लोग रुपया कमाना चाहते हैं। बहुत से व्यक्ति ब्याज या लाभांश कमाने की इच्छा से भी बचत करते हैं। बचत करने के इन कारणों के मूल में धन कमाकर सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त करने का ही मुख्य उद्देश्य होता है। एक दृष्टि से ये आर्थिक कारण भी कहे जा सकते हैं किन्तु बचत करना स्वयं आर्थिक क्रिया है अतएव उसे प्रभावित करने वाले कारणों की आर्थिक प्रकृति की ओर संकेत करना अनावश्यक है।

राजनीतिक परिस्थितियाँ एक दूसरे प्रकार से भी बचत को प्रभावित कर सकती हैं। जिस समाज में श्रम का शोषण होता हो, उन्हें उचित पारिश्रमिक न मिलता हो वहाँ उनकी बचत कम होगी। इसके विपरीत यदि प्रत्येक व्यक्ति को उचित प्रतिफल मिलता हो, तो अधिक बचत होगी।

२. सुविधा आदि (Facilities to Save)

इसके लिये देश में ऐसे अवसर उपलब्ध होने चाहिये जिनका प्रयोग निम्न स्तर के आय वाले व्यक्ति भी कर सकें। निम्नस्तर के आय वालों के लिये डाकखाना, सेविंग्स बैंक आदि उचित साधन हैं। उच्चस्तर की आय वाले व्यक्तियों के लिये देश में बैंक तथा ऐसे सुरक्षित उद्योग होने चाहिये जिनमें बचत को लगाया जा सके।

बचत करने की सुविधाओं का विकास देश के आर्थिक––विशेषकर औद्योगिक विकास से सम्बन्धित है। अधिक विकसित देशों में बैंकिंग प्रणाली, विनियोग योग्य उद्योग आदि उपलब्ध होते हैं जो वहाँ पूँजी के निर्माण और बचत में सहायता करते हैं। यदि एक प्रकार से देखा जाय तो बचत करने की गति के साथ साथ ही सुविधाओं का विकास होता जाता है। फिर भी इतना तो कहना ही पड़ेगा कि प्रारम्भ में बचत करने के लिये सुविधाओं का होना आवश्यक है। इस दृष्टि से ही देश की औद्योगिक स्थिति, बैंकिंग प्रणाली का महत्व है।

एक बात और है। बचत करने की सुविधाओं का उपयोग भली प्रकार तभी हो सकता है जब देश में शान्ति और सुरक्षा है। शान्ति और सुरक्षा होने पर ही धनोपार्जन की क्रिया को प्रेरणा मिल सकती है। यथेष्ठ धनोपार्जन होने पर ही बचत हो सकती है। शान्ति और सुरक्षा के अभाव में धनोपार्जन की क्रिया शिथिल होगी। इसके अतिरिक्त देश की आर्थिक स्थिरता आदि भी बचत को प्रभावित करती है। यदि देश में आर्थिक अस्थिरता हो, लोगों का विश्वास बैंकों इत्यादि से उठ रहा हो, तो बचत की क्रिया को प्रेरणा मिलने के बजाय धक्का पहुँचेगा। लोग पूँजी के

विनियोग को अरक्षित समझकर या तो उसका उपयोग उपभोग के लिये करेंगे या उसका आसंचयन (Hoarding) करेंगे।

उपर्युक्त सुविधाओं के अभाव में पूँजी का यथेष्ठ संचय सम्भव नहीं होगा।

पूँजी का संचय अथवा निर्माण और राज्य (State and the Capital Accumulation or Capital Formation)

आजकल पूँजी के निर्माण अथवा संचय का प्रश्न इतना महत्वपूर्ण हो गया है कि प्रत्येक देश इस सम्बन्ध में जागरुक रहता है। पिछड़े हुए देशों में पूँजी के निर्माण की समस्या एक गम्भीर विषय है। विदेशों के प्रभाव के कारण प्रत्येक देश के उपभोग के रूप बदलते जा रहे हैं अर्थात् उपभोग का स्तर ऊँचा उठ रहा है परन्तु आय की वृद्धि अपेक्षाकृत कम है। राज्य इस बारे में एक उचित नीति अपनाकर समस्या को हल कर सकता है।

पूँजी के निर्माण की समस्या अन्ततोगत्वा केवल इतनी ही है कि देश की आय को बढ़ाया जाय तथा उसका अधिक भाग उत्पादन की वस्तुओं पर खर्च किया जाय, तभी पूँजी का निर्माण उचित रूप से होता रहेगा। पूँजी के निर्माण में बचत करने की क्षमता बचत करने की इच्छा से अधिक महत्वपूर्ण है। यदि देश के निवासियों में बचत करने की क्षमता हो परन्तु किसी कारणवश बचत करने की इच्छा न होने के कारण पूँजी का निर्माण न हो रहा तो राज्य अनिवार्य-बचत के प्रोग्राम (Compulsory Savings Programme) अथवा अन्य उपाय द्वारा उन्हें बचत करने को बाध्य कर सकती है। अतः बचत करने की इच्छा को राज्य सरलता से पूँजी निर्माण की ओर अग्रसर कर सकती है। बचत करने की क्षमता को प्रभावित करने वाले कारणों को देखने से पता लगेगा कि राज्य इस दिशा में भी बहुत कुछ कर सकता है। उदाहरण के लिये, राज्य बचत करने की सुविधाओं के विकास, तथा उचित सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों द्वारा देश की बचत करने की क्षमता में वृद्धि कर सकता है।

अब किसी देश में पूँजी निर्माण व्यक्तिगत इच्छाओं का ही परिणाम नहीं है। राज्य के पास व्यक्तियों की इच्छा और क्षमता को प्रभावित करने वाले अनेक अस्त्र हैं। लगभग सभी राज्य ऐसी आर्थिक नीति अपनाते हैं जो पूँजी निर्माण में सहायक हों क्योंकि पूँजी निर्माण ही देश के आर्थिक विकास की आधारशिला है। अतएव वर्तमान समय में पूँजी निर्माण में राज्य का महत्त्व बहुत अधिक है।

भारत में पूँजी निर्माण (Capital Formation in India)

जहाँ तक हमारे देश का प्रश्न है, वह इस दिशा में बहुत पिछड़ा हुआ है। हमारे यहाँ पूँजी निर्माण की गति बहुत शिथिल रही है। इसके अनेक कारण हैं। प्रथम,

यहाँ के निवासियों की बचत करने की क्षमता बहुत कम है। नेशनल इनकम कमेटी (राष्ट्रीय आय समिति) के अनुसार १९५०-५१ में चालू मूल्यों पर प्रति-व्यक्ति राष्ट्रीय आय केवल २६५) थी। वस्तुओं के बढ़े हुए मूल्यों को ध्यान में रखते हुए इस आय से बचत करने की कोई गुंजायश नहीं दिखाई देती। भारतवासी दूरदर्शी होते हुए भी पर्याप्त बचत नहीं कर सकते क्योंकि उनकी आय इसे सम्भव ही नहीं होने देती। स्वभावत: भारतवासी में बचत करने की इच्छा अवश्य होती है। परिवार तथा भावी आवश्यकताओं के लिए निर्धन से निर्धन भारतीय बचाने के लिए सोचता अवश्य है किन्तु आय की अल्पता उसके मार्ग का रोड़ा बन जाती है। या यों कहिये बचत करने की क्षमता का अभाव ही उनकी कठिनाई है। दूसरे, हमारे देश में लोग पूँजी का निर्माण करने के स्थान पर द्रव्य अथवा सोने-चाँदी को दबा कर रखते हैं। इस धनराशि का प्रयोग उत्पादन में नहीं हो पाता तब भला पूँजी निर्माण कैसे हो सकता है? इसी प्रवृत्ति को लक्षित कर कुछ लोग भारतीय पूँजी के शर्मीले (shy) होने की बात करते हैं।

जहाँ तक बचत करने की सुविधाओं का प्रश्न है, भारत में अपेक्षाकृत इनका भी अभाव रहा है। देश की आर्थिक दशा अभी हाल तक गई-गुजरी थी। स्वतन्त्रता के पश्चात् देश के आर्थिक पुनरुत्थान के प्रयत्न हो रहे हैं। बैंकिंग प्रणाली, विनियोग योग्य उद्योगों का विकास अब भी ऐसा नहीं है जिसकी तुलना औद्योगिक दृष्टि से विकसित देशों से की जा सके। अतएव बचत की सुविधाओं तथा क्षमता के अभाव में पूँजी निर्माण की शिथिलता कोई आश्चर्य का विषय नहीं।

स्वतन्त्रता के बाद भारतीय सरकार ने पूँजी निर्माण पर काफी ध्यान दिया है। देशवासियों की आय और रोजगार बढ़ाने के प्रयत्न में सरकार बराबर लगी हुई है। आय की वृद्धि बचत-क्षमता को बढ़ाकर पूँजी निर्माण में सहायक सिद्ध होगी। अधिक रोजगार मिलने पर वे व्यक्ति भी बचत कर सकेंगे जो अभी बेकार हैं। सरकार विदेशी पूँजी की सहायता से भी देश में उत्पादन, रोजगार तथा आय की वृद्धि कर बचत क्षमता बढ़ाकर पूँजी निर्माण का प्रयत्न कर रही है। सरकार बचत करने की सुविधाओं का भी प्रसार कर रही है। डाकखाने की सुविधाओं का विस्तार किया गया है। इसके अतिरिक्त बचत करने को प्रोत्साहित करने के लिए कर्मचारी उदाहरणार्थ नेशनल सेविंग्स आफिसर इत्यादि नियुक्त किये गए हैं। देश के अधिकांश व्यक्तियों की आय बहुत कम होने के कारण, सरकार अल्प बचत योजना द्वारा उनका सहयोग प्राप्त करने का प्रयत्न कर रही है। सरकार पूँजी निर्माण के प्रति इतनी सजग है कि वह छोटी से छोटी आय वाले व्यक्ति से भी बचत की अपेक्षा करती है। इसी उद्देश्य से बचत टिकट की योजना चलाई गई हैं जिन्हें मामूली व्यक्ति खरीद कर जब उनका मूल्य ५ रु० हो तो उनके बदले में सेविंग्स सर्टिफिकेट खरीद

सकता है। यदि प्रत्येक व्यक्ति प्रतिमाह केवल चार आने की ही बचत करे तो इस प्रकार वह एक वर्ष में ३ रु० बचा लेगा। देश के ३६ करोड़ व्यक्तियों की यह वार्षिक बचत १०८ करोड़ रु० होगी जो किसी माने में नगण्य नहीं कही जा सकती। इसी विचार से देश में अल्प बचत योजना पर जोर दिया जा रहा है ताकि पूँजी निर्माण में सबका सहयोग हो सके और उसकी गति तीव्र हो जिसके फलस्वरूप आर्थिक विकास को भी गति मिले। विदेशों से उत्पादन की वस्तुओं (Producers' goods) के आयात पर विशेष जोर दिया जा रहा है। देशवासियों से ऋण लेकर उसे उत्पादन-कार्य में लगा कर भी पूँजी निर्माण का प्रयत्न हो रहा है।

पूँजी का घिसाव (Depreciation of Capital)

पूँजी के निर्माण से सम्बन्धित दूसरी एक मुख्य समस्या उसको यथारूप बनाए रखने (Maintaining Capital Intact) की है। समय बीतने के साथ पूँजी का अर्घ पहले की अपेक्षा कम हो जाता है। पूँजी के अर्घ की इस कमी को पूँजी का घिसाव कहते हैं। पूँजी को यथारूप बनाए रखने के लिए इस कमी को पूरा करना पड़ता है। इसके लिए उत्पादक कुछ रकम अलग से रखते है जिसे घिसाव-कोष (Depreciation fund) कहते हैं।

'पूँजी के घिसाव' वाक्यांश का प्रयोग दो अर्थों में होता है।

(१) पूँजी की आय देने वाली शक्तियों की कमी के कारण पूँजी का घिसाव-पूँजी के अर्घ की कमी—अथवा

(२) पूँजी के विक्रय-मूल्य की कमी के कारण पूँजी का घिसाव।

मान लीजिये, एक मशीन प्रारम्भ में किसी वस्तु की दस इकाइयाँ बनाती हैं। कुछ समय बाद वह मशीन केवल नौ इकाइयाँ ही बना पायेगी और इसलिये उत्पत्ति के रूप में उससे प्राप्त आय कम हो जायेगी। पूँजी की आय देने की शक्ति कम होने के कारण अब उसका अर्घ पहले की अपेक्षा कम हो जायेगा। आय श्रोत की कमी अनेक कारणों से होती है और इसलिये पूँजी का घिसाव देखते समय हमें सभी कारणों पर विचार करना होगा। आधुनिक समय में प्रो० हायेक (Prof. Hayek) ने इस मत का प्रतिपादन किया है।

दूसरा अर्थ व्यवहारिक है। एक रोजगार करने वाले मनुष्य के लिए उसकी मशीनें आदि एक व्यापारिक सम्पत्ति (Assets) भी है। अतः वह उनके घिसाव को उनके विक्रय मूल्य की कमी के रूप में देखता है। यदि एक मशीन का मूल्य १०००) हो परन्तु कुछ समय बाद घिसाव के कारण उसका मूल्य ८००) रु० हो जाय, तो यहाँ २००) का घिसाव हुआ है। इस घिसाव को पूरा करने के लिए वह कुछ रकम सदैव अलग रख लेता है।

पूँजी के घिसाव के सम्बन्ध में उपर्युक्त दोनों विचार दो दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं। प्रसंगानुसार कभी हम इसका प्रयोग पहले अर्थ में करते हैं और कभी दूसरे अर्थ में।

(स)

यंत्रादि के रूप में पूँजी का आर्थिक महत्व

सन् १७६० ई० विश्व के आर्थिक इतिहास की एक महत्वपूर्ण तिथि है। इंगलैण्ड की औद्योगिक क्रान्ति का प्रारम्भ––उत्पादन में मशीनों का प्रयोग––इसी तिथि से माना जाता है। मशीनों के प्रयोग का आर्थिक महत्व उनके द्वारा किए हुए उन मौलिक परिवर्तनों के कारण है जो औद्योगिक क्रांति के बाद आर्थिक व्यवस्था के मुख्य अंग बन गए। इन परिवर्तनों पर विचार करने से पूर्व हम संक्षेप में मशीनों के प्रयोग से लाभ और हानि अथवा उनकी विशेषताओं की चर्चा करेंगे। मशीनों की सहायता से मनुष्य ने :––

(१) प्रकृति के ऊपर अपना स्वामित्व जमा लिया है। प्रकृति के तत्त्व––वायु, भाप, जलविद्युत आदि––की सहायता से मनुष्य ने आश्चर्यजनक उन्नति की है।

(२) मशीनों से ही श्रम-विभाजन तथा बड़े पैमाने का उत्पादन सम्भव है। इसके अतिरिक्त,

(३) मशीनों के प्रयोग ने श्रमिक की कार्य-क्षमता एवम् उत्पादकता को भी बढ़ा दिया है।

(४) श्रमिक की गतिशीलता भी बढ़ गई है। मशीनों पर काम लगभग समान होने के कारण श्रमिक सरलता से एक स्थान को छोड़ कर दूसरे स्थान पर नौकरी कर सकता है।

(५) मशीनों की सहायता से एक ही प्रकार का उत्पादन सम्भव है। मनुष्य के हाथ इतनी सफाई से काम नहीं कर सकते कि हजारों वस्तुयें एकसी बना दें। यह काम मशीन द्वारा बड़ी सुगमता से हो जाता है।

(६) मशीनों के प्रयोग के कारण उत्पादन का समय कम हो गया है। वस्तुओं की जिस मात्रा का उत्पादन महीनों में सम्भव था, मशीनों की सहायता से वह कुछ ही दिनों में हो जाता है। इत्यादि।

जहाँ मशीनों से अनेक लाभों की सम्भावना है वहाँ इनका प्रयोग किसी सीमा तक हानिप्रद भी है।

(१) मशीनों के प्रयोग के कारण गन्दी और घनी बस्तियाँ बसती गई हैं जिनका कुप्रभाव मनुष्य के नैतिक एवम् शारीरिक स्वास्थ्य पर पर्याप्त मात्रा में पड़ा है।

(२) मशीनों के प्रयोग के कारण मनुष्य की कलात्मक प्रवृत्तियों एवम् कलात्मक उत्पादन को काफी क्षति पहुँची है। मशीनें एकसा सामान ही बना सकती हैं,

उनके द्वारा हर वस्तु में कला-प्रदर्शन की गुंजायश ही नहीं है। और इस प्रकार कारीगर की स्वच्छन्दता भी छिन गई है।

(३) मनुष्य का काम केवल मशीन परिचालन भर रह गया है। उत्पादन में उसकी प्रधानता विलुप्त हो गई।

(४) इसके अतिरिक्त बच्चों तथा स्त्रियों के श्रम का शोषण आदि—फैक्ट्री व्यवस्था के सभी दोष—मशीनों के प्रयोग के साथ आ गये। इत्यादि।

मशीनों के प्रयोग से आर्थिक व्यवस्था में हुए महत्वपूर्ण परिवर्तन

अब हम मशीनों के प्रयोग के कारण हुए कतिपय मौलिक परिवर्तनों पर विचार करेंगे। मशीनों के प्रयोग के कारण आर्थिक व्यवस्था में निम्न महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए:—

(१) आर्थिक संगठन में छोटे-छोटे व्यवसायों के स्थान पर बड़े-बड़े व्यवसायों की महत्ता स्थापित हो गई, घरेलू-व्यवसायों का स्थान फैक्ट्रियों ने ले लिया। परिवार के सदस्य घर में बैठकर साधारण औजारों से उत्पादन करने के स्थान पर फैक्ट्रियों में काम करने जाने लगे। मनुष्य मशीन का दास हो गया। उसका जीवन मशीन से उत्पादित वस्तु की माँग पर निर्भर हो गया।

(२) मशीनों के प्रयोग से मिल मालिक और मजदूरों के बीच नए सम्बन्ध स्थापित हुए। मशीनों द्वारा उत्पादन करने में अत्यधिक पूँजी की आवश्यकता हुई और पूँजीपतियों की प्रभुता बढ़ती गई। श्रमिकों और उत्पादक (पूँजीपति) के बीच सम्पर्क का अभाव हो गया। अब घरेलू व्यवसायों की तरह मालिक और मजदूरों में कोई घनिष्ट सम्बन्ध नहीं रहा। अपनी प्रभावपूर्ण स्थिति का लाभ उठाकर पूँजीपतियों ने मजदूरों का शोषण प्रारम्भ कर दिया। पूँजीपति और श्रमिक के बीच संघर्ष प्रारम्भ हो गया। मशीनों के प्रयोग द्वारा हुए इन परिवर्तनों का परिणाम यह हुआ कि श्रम और पूँजी का संघर्ष दिन प्रति दिन बढ़ता गया।

श्रम और पूँजी का संघर्ष (The Conflict between Labour & Capital)

श्रम और पूँजी के संघर्ष से तात्पर्य पूँजीपति एवम् श्रमिकों के संघर्ष से है। उत्पादन के साधन के अर्थ में श्रम और पूँजी में कोई संघर्ष नहीं है क्योंकि उत्पादन में दोनों का सहयोग आवश्यक है। अतएव श्रम और पूँजी का संघर्ष श्रमिकों और पूँजीपतियों का संघर्ष है जिसका सूत्रपात औद्योगिक क्रान्ति से होता है। मशीनों के प्रयोग से जब पूँजीपति या मिल मालिक की प्रभुता बढ़ गई तथा श्रमिक की अवस्था असहाय हो गई तब मिल मालिकों अथवा पूँजीपतियों ने श्रमिकों का शोषण प्रारम्भ कर दिया। उन्हें कम मजदूरी दी जाने लगी तथा काम के घंटे बढ़ा दिये गये। मिल मालिकों का विचार था कि यदि अधिक मजदूरी दी जायगी तो उनका

लाभ कम हो जायगा। इसलिये मजदूरों को कम से कम मजदूरी देने की चेष्टा की गई। पूँजीपति तथा श्रमिकों के हित परस्पर विरोधी हो गये।

इस अर्थ में श्रम और पूँजी का संघर्ष पूँजीवादी अर्थ व्यवस्था (capitalistic economy) की विशेषता है। मशीनों का प्रयोग समाजवादी (socialistic economy) अर्थ व्यवस्था में भी होता है परन्तु वहाँ यह संघर्ष नहीं होता। इसका कारण यह है कि पूँजीवाद में पूर्ण प्रतिस्पर्धा तथा सरकार की निर्हस्तक्षेप की नीति के कारण पूँजीपति श्रम का शोषण सरलता से कर सकते हैं जबकि समाजवाद में यह संभव नहीं है।

अपने हितों की रक्षा के लिये श्रमिकों ने श्रम-संघ बनाये। कम मजदूरी के विरुद्ध आवाज उठाई गई। अन्य सुविधाओं की माँग की गई। श्रम और पूँजी के संघर्ष का रूप हड़तालों (Strikes) आदि ने ले लिया। व्यवसायिक झगड़े (Industrial disputes) प्रचलित हो गये। श्रम और पूँजी के इस संघर्ष को समाप्त करने के लिये समझौता कराने वाली संस्थायें बनाई गई हैं परन्तु संघर्ष का वास्तविक कारण वर्तमान आर्थिक व्यवस्था में है और जब तक उसमें आमूल परिवर्तन नहीं किया जायेगा तब तक संघर्ष समाप्त नहीं होगा।

मशीन का रोजगार, मजदूरी, कार्य-अवधि, उत्पादक के लाभ आदि पर प्रभाव (Effects of Machinery on the Employment, Wages, Working Hours & Producer's Profit)

मशीनों के प्रयोग के कारण प्रारम्भ में बेकारी फैलने का भय रहता है क्योंकि जो काम अनेक व्यक्ति मिल कर, कर सकते हैं वह मशीन केवल एक ही व्यक्ति की सहायता से कर सकती है और इस प्रकार शेष व्यक्ति बेकार हो जाते हैं। बेकारी की यह स्थिति अस्थाई होती है क्योंकि मशीनों के प्रयोग से मशीनें बनाने के व्यवसाय में बेकार मजदूरों की खपत भी हो जाती है। इसके अतिरिक्त मशीनों के प्रयोग से पहले की अपेक्षा वस्तुओं के मूल्य कम होने कि सम्भावना रहती है जिससे माँग बढ़ सकती है और उत्पादन बढ़ाने के लिये अधिक श्रमिकों की आवश्यकता हो सकती है। इसलिये मशीनों से बेकारी फैलना अवश्यक नहीं हैं। हाँ, एक दूसरे अर्थ में मशीनें बेकारी से सम्बन्धित हैं। मशीनों के प्रयोग के कारण ही पूँजीवादी प्रथा प्रारम्भ हुई थी। इनके प्रयोग के कारण समाज में कभी अत्यधिक उत्पादन (over production) तथा कभी कम उत्पादन (under production) होता रहता है। इसलिये देश में समय समय पर बेकारी फैलती रहती है। जब अत्यधिक उत्पादन हो जाता है, तो वस्तुओं के मूल्य गिरने लगते हैं तथा लाभ न होने के कारण उनका उत्पादन कुछ समय के लिये बन्द अथवा बहुत कम कर दिया जाता

है। इस कारण से मजदूर निकाल दिये जाते हैं और बेकारी फैलने लगती है। इस प्रकार की बेकारी पूँजीवादी प्रथा की विशेषता है। *

मशीनों के प्रयोग का प्रभाव मजदूरी पर भी पड़ता है। मशीनों की सहायता से श्रमिकों की कार्य-क्षमता बढ़ जाती है और इसलिये उनकी मजदूरी भी बढ़नी चाहिये। यह सच है कि शोषण के कारण उचित मजदूरी नहीं दी जाती परन्तु यदि हम वर्तमान मजदूरी की तुलना मशीनों के प्रयोग के पहले के समय से करें तो ज्ञात होगा कि वर्तमान मजदूरी अधिक ही है। इसके अतिरिक्त श्रम संघ मजदूरों के इन हितों के लिये सदैव जागरुक रहते हैं तथा मजदूरी बढ़ाने के प्रयत्न करते रहते हैं।

मशीनों के प्रयोग से कार्य-अवधि कम होना चाहिये क्योंकि जिस कार्य को मनुष्य अकेले देर में कर सकता है वह मशीन के प्रयोग से शीघ्र ही हो जाता है। दुर्भाग्यवश प्रारम्भ में मशीन का प्रयोग होते हुए भी अपने लाभ के लिये पूँजीपतियों द्वारा मजदूरों से १५ घन्टे प्रतिदिन काम करवाया जाता था; परन्तु धीरे-धीरे कार्य अवधि कम होती गई। अब तो विभिन्न राज्य अपने देश के मजदूरों के लिये प्रति सप्ताह कार्य के अधिकतम घन्टे नियुक्त कर देते हैं। उनकी मनोरंजन आदि की सुविधाओं पर भी ध्यान दिया जाता है। इसलिये कहा जा सकता है कि मजदूरी की कार्य-अवधि मशीनों के प्रयोग के कारण पहले से कम हो गई है।

उत्पादक (employer) के लाभ मशीन के प्रयोग के कारण बढ़ गये हैं। उत्पादक पहले केवल थोड़ी-सी वस्तुयें बना सकता था। मशीनें बड़ी मात्रा में उत्पत्ति सम्भव कर उनका लाभ बढ़ाने में मदद करती हैं। इसके अतिरिक्त बड़ी मात्रा की उत्पति के कारण सम्भव मितव्ययताओं के कारण वस्तुओं की लागत भी कम हो जाती है तथा लाभ बढ़ जाता है।

श्रम-विभाजन तथा बड़े पैमाने का उत्पादन (Division of Labour and Large Scale Production)

मशीनों की विशेषताओं की चर्चा करते समय हम श्रम-विभाजन तथा बड़े पैमाने के उत्पादन का उल्लेख कर चुके हैं। मशीनों के प्रयोग से ही ये दोनों सम्भव हो सके हैं। श्रम-विभाजन से तात्पर्य किसी वस्तु के उत्पादन की श्रम सम्बन्धी क्रियाओं को अनेक भागों में विभाजित कर प्रत्येक भाग को व्यक्ति या व्यक्तिसमूह के सुपुर्द कर देना है। इस प्रकार का श्रम-विभाजन मशीनों के प्रयोग के कारण ही प्रचलित हो सका है। मशीनों के आने से पहले साधारणतया एक वस्तु के उत्पादन की सम्पूर्ण क्रिया एक ही व्यक्ति द्वारा की जाती थी। उत्पादन छोटे पैमाने पर होता था और

***'युक्तीकरण' अध्याय में यन्त्रीकरण के अन्तर्गत दी गई विवेचना भी पढ़िये।**

साधारण औजारों की सहायता से सम्पन्न किया जाता था। इसलिये उपर्युक्त प्रकार के श्रम-विभाजन की कोई आवश्यकता ही न थी। मशीनों की सहायता से बड़े पैमाने पर उत्पादन होने लगा तथा उत्पादन की क्रिया अनेक भागों में विभाजित हो गई। पहले अकेला मोची एक जूते को स्वयं बनाता था परन्तु फैक्ट्री में जूते बनाने का काम अनेक व्यक्तियों के बीच में विभाजित कर दिया गया। एक व्यक्ति जूते के तल्ले बनाने लगा, दूसरे ने ऊपर का भाग बनाया तथा तीसरे ने इन दोनों भागों को सिल दिया। जूते बनाने की क्रिया तीन भागों में विभाजित हो गई तथा प्रत्येक व्यक्ति या व्यक्ति-समूह को एक काम सौंप दिया गया। यह श्रम-विभाजन का एक साधारण उदाहरण है।

श्रम-विभाजन से श्रमिक की निपुणता में वृद्धि होती है क्योंकि श्रमिक का काम उत्पादन की सम्पूर्ण क्रिया का एक भाग ही होता है जिसे वह सरलता से हृदयंगम कर सकता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने काम को अच्छी तरह समझने लगता है और इसलिये उच्चकोटि का उत्पादन होने लगता है। उत्पादन क्रिया के छोटे-छोटे भागों में बँट जाने के कारण श्रमिकों को अपनी रुझान का काम मिल जाता है। परन्तु इससे यह न समझ लेना चाहिये कि सदैव ऐसा सम्भव है। यदि एक व्यक्ति पालिश करने की तुलना में बेंत की बुनाई अधिक अच्छी जानता हो तो वह बुनाई का काम अधिक पसन्द करेगा। यदि बेंत की बुनाई करने वालों की अपेक्षा पालिश करने वालों की अधिक आवश्यकता हो तो उस व्यक्ति को पालिश करने का ही काम दिया जायगा।

श्रम-विभाजन बाजार द्वारा सीमित होता है। किसी वस्तु के उत्पादन में श्रम-विभाजन तभी सफल हो सकता है जब उस वस्तु की माँग बहुत हो अर्थात् उस वस्तु का बाजार बहुत बड़ा हो। यदि ऐसा न हो अर्थात् बाजार छोटा हो तो एक बार के उत्पादन के बाद मशीन काफी समय तक खाली पड़ी रहेगी। श्रम-विभाजन बेकार हो जायगा।

मशीनों के प्रयोग के कारण ही बड़े पैमाने का उत्पादन सम्भव हो सका है। बड़े पैमाने पर उत्पादन करने में दो विशेष सुविधायें मिल जाती हैं। प्रथम, कच्चे माल को काफी मात्रा में खरीदने से वह सस्ता मिल सकता है। यातायात की दरों में भी छूट मिल जाती है आदि। दूसरे, उत्पादन का संगठन अधिक किफायत से हो जाता है। उत्पादन की मात्रा बढ़ने के साथ उत्पादन के संगठन पर विशेष व्यय नहीं करना पड़ता। उदाहरण के लिये, उत्पादन दूना करने के लिये हमें दफ्तर में दूने व्यक्ति नौकर नहीं रखने होंगे। अनेक पदार्थ जो साधारणतया बेकार समझे जाते हैं, उनका प्रयोग भी हो जाता है। जूते के कारखाने में चमड़े की कतरन को फेंकने के बजाय, उससे

तरमे बना लिये जाते हैं। इन दोनों सुविधाओं को बाह्य मितव्ययता (external economics) तथा आन्तरिक मितव्ययता (internal economic s) कहते हैं।

Large Scale versus Small Scale Production

श्रम-विभाजन एवम् बड़े पैमाने के हानि और लाभ[1], मशीनों के हानि और लाभ के समान ही है। यहाँ हम उन पर विचार न करके, उन दशाओं पर विचार करेंगे जिनमें बड़े पैमाने का उत्पादन वाञ्छनीय है। बहुधा इस प्रश्न पर विवाद किया जाता है कि उत्पादन का संगठन बड़े पैमाने पर किया जाय अथवा छोटे पैमाने पर। यों तो किसी भी देश में सभी व्यवसाय बड़े पैमाने पर नहीं किये जा सकते। व्यवहार में बड़े पैमाने के उत्पादन से अनेक छोटे पैमाने के उत्पादन के कारखाने भी स्थापित हो जाते हैं। जूते के व्यवसाय के साथ ही पट्टे के डिब्बे का व्यवसाय भी प्रारम्भ हो जाता है जो छोटे पैमाने पर ही संगठित किया जाता है। अतः छोटे पैमाने और बड़े पैमाने के उत्पादन एक दूसरे के पूरक भी हैं, सदैव प्रतिद्वन्दी नहीं।

यदि सिद्धान्त के रूप में यह प्रश्न उठाया जाय कि किसी देश के उत्पादन का संगठन बड़े पैमाने पर किया जाय या छोटे पैमाने पर, तो इसका उत्तर उस देश की परिस्थितियाँ देंगी। यदि देश में पूंजी की प्रचुरता और श्रम की कमी है तो उत्पादन का संगठन बड़े पैमाने पर होना चाहिये। इसके विपरीत श्रम की प्रचुरता और पूंजी के अभाव में उत्पादन का संगठन छोटे पैमाने पर होना चाहिये। हमारे देश में श्रम की प्रचुरता है। यहाँ मशीनों से संचालित बड़े पैमाने के उत्पादन से बेकारी फैल सकती है। इसीलिये गान्धी जी छोटे पैमाने के उत्पादन के पक्ष में थे।

यही बात देश की कृषि पर भी लागू होती है। देश की अधिकांश जनता कृषि पर निर्भर है। यदि हम कृषि का संगठन बड़े पैमाने पर करें—बड़े-बड़े फार्म बनाकर उन्हें मशीनों द्वारा जोतें और बोयें—तो श्रम की प्रचुरता के कारण अधिकांश व्यक्ति बेकार हो जायेंगे। इसी कारण गान्धीवादी अर्थशास्त्री कृषि में मशीनों के प्रयोग का विरोध करते हैं।

EXERCISES

1. Explain the conditions which promote or retard the accumulation of Capital. Agra U. B. Com. 1951

2. Distinguish clearly between Land and Capital and explain the economic significance of the distinction. Agra U. B. Com. 1948

---

१. श्रम-विभाजन, बड़े पैमाने के उत्पादन आदि से हानि और लाभ की चर्चा इसलिये नहीं की गई है क्योंकि ये इन्टरमीजियट में विस्तृत अध्ययन के विषय हैं।

3. Consider briefly the effects of the introduction of machinery on Employment, Wages, Hours of Work and Profits of Employers.

Agra U. B. Com. 1951

4. Explain very briefly the important characteristics of machinery and indicate shortly their effects on the welfare of the working classes.

Agra U. B. Com. 1948

5. What are the points on which the interests of Capital & Labour are (a) in harmony and (b) conflict. What problems have arisen out of (b).

6. Indicate the factors that favour Small-Scale Industries in their competition with their large scale rivals.

Agra U. B. Com. 1951

7. Explain briefly the economic reasons for the prevalence of the relatively Small-Scale of Production in (a) Agriculture (b) Tailoring.

Agra U. B. Com. 1949

8. Indicate the economics of large scale production. Why can we not obtain them if the scale of production is increased beyond a certain limit ?

(for the latter part, read 'Laws of Returns' in this book.)

Allad. U. B. Com. I 1949

अध्याय १६

संगठन और जोखिम अथवा साहसोद्यम

(ORGANISATION AND ENTERPRISE)

मानसिक परिश्रम द्वारा किये हुए त्याग को संगठन कहते हैं। जिस प्रकार श्रमिक को उसके त्याग के बदले में मजदूरी मिलती है उसी प्रकार संगठनकर्ता को वेतन मिलता है। श्रम और संगठन के अन्तर को हम 'श्रम' के अध्याय में स्पष्ट कर चुके हैं।

संगठनकर्ता के कार्य (Functions of an Organiser)

संगठनकर्ता के ऊपर उत्पादन को उचित रूप से संगठित करने का भार होता है। उत्पादन के विभिन्न साधनों का इस अनुपात में नियोजन करना कि लागत न्यूनतम रहे, संगठनकर्ता का ही कार्य होता है। उत्पादन संवन्धी अन्य अनेक बातों का निर्णय, जैसे उत्पादन छोटी मात्रा में किया जाय अथवा बड़ी मात्रा में, वस्तु को कहाँ और किस प्रकार बेचा जाय आदि, संगठनकर्ता ही करता है। कुछ व्यक्ति उपर्युक्त कार्यों को साहसोद्यमी के कार्य समझने की भूल कर बैठते हैं जो सर्वथा असंगत है। साहसोद्यमी के कार्य की प्रकृति एवम् कार्यक्षेत्र संगठनकर्ता के कार्यों से एकदम भिन्न है जैसा कि कुछ क्षणों के अनन्तर स्पष्ट हो जायगा।

साहसोद्यम (Enterprise)

अनिश्चयता वहन करने को (uncertainty-bearing) साहसोद्यम कहते हैं। उत्पादन में समय लगता है। जिस वस्तु का उत्पादन हम आज प्रारंभ करते हैं वह कुछ समय बाद भविष्य में पूरा होता है। भविष्य अनिश्चित होता है। सम्भव है कि जिस मूल्य की आशा से उत्पादन प्रारम्भ किया गया हो वह भविष्य में न रहे और इस प्रकार हानि हो जावे। हमें इस प्रकार की अनिश्चयताओं के लिए तैयार रहना पड़ेगा। अतः उत्पादन में जोखिम (risk) है और वह इसलिये क्योंकि वर्तमान और भविष्य एक-सा ही नहीं रहता[1]। बिना जोखिम उठाए उत्पादन सम्भव नहीं हो सकता

---

१. यदि भविष्य और वर्तमान एक-सा ही रहे तो जोखिम अनावश्यक है। व्यवहारिक जीवन में यह असम्भव है अतः जोखिम उत्पादन का एक आवश्यक साधन है। यदि हम ऐसी स्थिति की कल्पना करें जहाँ भूत, भविष्य और वर्तमान एक से ही हों तो स्पष्ट है कि जोखिम की आवश्यकता ही नहीं होगी क्योंकि इस स्थिति में भविष्य में कोई अनिश्चयता ही नहीं होगी। ऐसी कल्पित स्थिति को (static state) स्थैतिक स्थिति कहते हैं।

क्योंकि भविष्य की अनिश्चयता उत्पादन का एक आवश्यक अंग है। यहाँ जोखिम के दो रूपों को समझ लेना उचित होगा।

कुछ जोखिम ऐसे होते हैं जिनका बीमा कराया जा सकता है। उदाहरण के लिए, बीमा कम्पनियाँ मनुष्यों की जिन्दगी का बीमा करने में जो जोखिम उठाती है वह इसी प्रकार का है। उनके जोखिम में भविष्य की अनिश्चयता बहुत कम या 'न' के बराबर है। सांख्यकीय सामग्री की सहायता से प्राप्त मनुष्यों की जीवन-सारणियों (Life tables) के आधार पर विभिन्न आयु पर मनुष्यों के भावी जीवन की अवधि का उन्हें बहुत सही ज्ञान होता है। इसलिए वे अपनी आय के बारे में निश्चयात्मक रहती हैं। उनकी जोखिम में भविष्य की अनिश्चयता नहीं होती। इस प्रकार के जोखिम अनिश्चयता-वहन के अन्तर्गत नहीं आते। दूसरे प्रकार के जोखिम ऐसे होते हैं जिनका बीमा नहीं कराया जा सकता। इनमें अनिश्चयता-वहन होता है। बहुधा पहले प्रकार के जोखिम जाने हुए जोखिम (Known Risks) तथा दूसरे प्रकार के जोखिम अनजाने जोखिम (Unknown Risks) कहलाते हैं। दूसरे प्रकार के जोखिम ही हमारे अध्ययन का विषय है क्योंकि भविष्य की अनिश्चयता इन्हीं से सम्बन्धित है।

अनिश्चयता-वहन के लिये **यह आवश्यक है कि भविष्य वर्तमान से भिन्न हो।** केवल कुछ काल्पनिक परिस्थितियों को छोड़कर जिनमें भूत, वर्तमान और भविष्य एक से रहते हों, (ऐसी स्थिति को स्थैतिक स्थिति (Static State) कहते हैं) अनिश्चयता-वहन अत्यन्त आवश्यक है। व्यवहारिक जीवन में वर्तमान और भविष्य साधारणतया एक दूसरे से भिन्न होते हैं। इस कारण भविष्य की अनिश्चयता सदैव विद्यमान रहती है।

भविष्य के वर्तमान से भिन्न होने पर भी यदि मनुष्य की दूरदर्शिता पूर्ण हो तो अनिश्चयता का प्रश्न ही नहीं उठेगा। पूर्ण दूरदर्शिता होने के कारण मनुष्य भविष्य को पहले से ही जान लेगा। जोखिम जाने हुए हो जायेंगे और इसलिए साहसोद्यम नहीं होगा। अतः जोखिम उठाने के लिए **दूसरी आवश्यक** शर्त यह है कि मनुष्य की दूरदर्शिता (foresight) अपूर्ण होनी चाहिए।

दूरदर्शिता के अपूर्ण होने पर भी यदि मनुष्य को यह भान रहे कि उसकी दूरदर्शिता अपूर्ण नहीं है तो उसे त्याग नहीं मालूम होगा। यदि वह यह नहीं जानता कि उसकी दूरदर्शिता अपूर्ण है तो भविष्य के बारे में वह जो कुछ सोचेगा उसके बारे में उसे कोई अनिश्चयता नहीं होगी। वह यही सोचेगा कि उसके अनुमान जरूर सही निकलेंगे। यदि भविष्य उसकी आशाओं के विपरीत निकलता है तो यह उसके लिए एक आकस्मिक घटना होगी जिससे उसे आकस्मिक लाभ अथवा क्षति (accidental gain or loss) होगी। साहसोद्यम अथवा अनिश्चयता-वहन में त्याग होता है और

यह तभी सम्भव है, इसलिए **तीसरी आवश्यक शर्त यह है,** जब मनुष्य यह जानता हो कि उसकी दूरदर्शिता अपूर्ण है।

साहसोद्यम एक स्वतन्त्र उत्पादन का साधन है (Enterprise is an Independent Factor of Production)

अनेक अर्थशास्त्रियों ने साहसोद्यम को संगठन अथवा पूँजी से मिला दिया है। उदाहरण के लिए प्रो० मार्शल ने साहसोद्यमी के कार्यों को संगठनकर्ता के कार्यों से मिला दिया है। बैनहम ने उस व्यक्ति को साहसोद्यमी (enterpreneur) कहा है जो फर्म की नीति का निर्धारण करता हो। यह स्पष्ट है कि ऐसा व्यक्ति संगठनकर्ता है न कि साहसोद्यमी।

साहसोद्यम अथवा अनिश्चयता-वहन को एक स्वतन्त्र उत्पादन के साधन के रूप में मान्यता देने का श्रेय मुख्यतया प्रो० नाइट (Prof. F. H. Knight) को है। श्रम शारीरिक परिश्रम द्वारा उत्पादन में योग देता है, संगठन मानसिक परिश्रम के द्वारा सहायता करता है। उत्पादन का कोई साधन (साहसोद्यम को छोड़कर) जोखिम उठाने का काम नहीं करता। यह कार्य साहसोद्यम का है। वह स्वयं एक उत्पादन का साधन है।

साहसोद्यम तथा शेष उत्पादन के साधनों में एक आधारभूत अन्तर यह है कि साहसोद्यम नियोक्ता (hiring factor) होता है जब कि शेष साधन नियुक्त (hired factor) होते हैं। साहसोद्यम, शेष साधनों को निश्चित प्रतिफल के बदले में नियुक्त कर उत्पादन कार्य चालू करता है जब कि कोई भी साधन साहसोद्यम को नियुक्त नहीं करता।

यह संभव है कि साहसोद्यम, और संगठन का दायित्व एक ही व्यक्ति पर हो। यह भी संभव है कि एक व्यक्ति जो उत्पादन में पूँजी लगा रहा है वह जोखिम भी उठा रहा हो। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि साहसोद्यम और पूँजी या साहसोद्यम और संगठन में कोई अन्तर नहीं है। जिन अर्थशास्त्रियों ने साहसोद्यम को संगठन आदि से मिला दिया है, वे सम्भवतया इसी बात से भ्रमित हो गये हैं कि व्यवहार में संगठन और साहसोद्यम का दायित्व एक ही व्यक्ति पर होता है।

साहसोद्यम का प्रतिफल लाभ (Profit) है। जिन अर्थशास्त्रियों ने साहसोद्यम को संगठन और पूँजी आदि से मिला दिया है वे साहसोद्यमी उस व्यक्ति को कहते हैं जो संगठन और पूँजी प्रस्तुत करने का काम भी करता है। इसलिए साहसोद्यमी के कुल प्रतिफल के अन्तर्गत वे ब्याज, वेतन आदि भी शामिल कर लेते हैं। प्रो० मार्शल ने ऐसा ही किया है। आधुनिक अर्थशास्त्री साहसोद्यम को एक अलग उत्पादन का साधन मानते हैं। ब्याज और वेतन क्रमशः पूँजी और संगठन के प्रतिफल हैं। उन्हें

साहसोद्यमी के प्रतिफल का भाग नहीं मानना चाहिए। आधुनिक मत साहसोद्यम का प्रतिफल लाभ मानता है और उसमें ब्याज, वेतन आदि सम्मिलित नहीं किए जाते।

यहाँ एक बात और कह देना उचित होगा। लाभ साहसोद्यम के द्वारा किए हुए त्याग का प्रतिफल है। इसलिए वह लागत का भाग है। वह अतिरिक्त (surplus) नहीं है। इस बात को 'लाभ' के अध्याय में अधिक विस्तार से समझाया जायगा।

EXERCISES

1. What is Enterprise ? Will there be any Enterprise in a static state ?

2. Distinguish between Organisation and Enterprise ?

अध्याय १७

उत्पादन के नियम

(LAWS OF PRODUCTION)

उत्पादन के साधन की उत्पादकता (Productivity of a Factor of Production)

किसी उत्पादन के साधन की उत्पादकता उसके उत्पादन की क्षमता (capacity to produce) को कहते हैं। इस उत्पादन की क्षमता का स्थूल माप (Physical measure) उत्पादित वस्तुओं का वह भाग है जो उस साधन (अन्य साधनों के योग में) के कारण हुआ है। मान लीजिये, हम श्रम की एक इकाई की उत्पादकता जानना चाहते हैं तो यह इस प्रकार मालूम की जा सकती है। यदि १० श्रमिक अन्य साधनों के सहयोग से २५ इकाई का उत्पादन करते हों और एक श्रमिक के बढ़ा देने से उत्पादन बढ़कर २८ इकाई हो जाय तो ११ वें श्रमिक की उत्पादकता तीन इकाई है।

सीमान्त उत्पादकता (Marginal Productivity)

किसी उत्पादन के साधन की सीमान्त उत्पादकता उस उत्पादन के साधन की मात्रा में जरा-सी वृद्धि के फलस्वरूप उत्पादन में हुई वृद्धि है। साधारणतया हम उत्पादन की मात्रा एक इकाई बढ़ाते हैं और इसलिये सीमान्त उत्पादकता उत्पादन के साधन की मात्रा को एक इकाई बढ़ाने से उत्पादन में हुई वृद्धि को कहते हैं। ऊपर वाले उदाहरण में १० श्रमिकों की सीमान्त उत्पादकता ३ इकाई है क्योंकि एक श्रमिक के और रखने से उत्पादन में केवल इतनी ही वृद्धि होती है। जिस प्रकार सीमान्त उपयोगिता वस्तु के मात्रा की वृद्धि के साथ घटती जाती है उसी प्रकार एक साधन की सीमान्त उत्पादकता साधारणतया घटती जाती है। प्रारम्भ में यह सम्भव है कि सीमान्त उत्पादकता कुछ समय तक बढ़ती जाय परन्तु अन्ततोगत्वा वह अवश्य ही घटेगी। (प्रत्युपलब्धि नियमों के अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जायेगी।)

श्रम की इकाइयाँ	कुल उत्पादकता (इकाइयाँ)	सीमान्त उत्पादकता (इकाइयाँ)	औसत उत्पादकता (इकाइयाँ)
१	५	—	५
२	९	४	४½
३	१२	३	४
४	१४	२	३½
५	१५	१	३

ऊपर के उदाहरण में हमने श्रम की घटती हुई सीमान्त उत्पादकता दिखाई है यह स्पष्ट है कि सीमान्त उत्पादकता के घटने पर भी कुल उत्पादकता बढ़ती जाती है। कुल उत्पादकता तभी घट सकती है जब कि सीमान्त उत्पादकता ऋणात्मक (Negative) हो। कोई भी व्यक्ति उत्पादन उस सीमा तक नहीं ले जायगा जहाँ उसकी सीमान्त उत्पादकता ऋणात्मक हो। जिस प्रकार हम एक वस्तु की उतनी ही इकाइयाँ खरीदतें हैं जिससे सीमान्त उपयोगिता और वस्तु का मूल्य बराबर हो जाय उसी प्रकार एक उत्पादक भी एक साधन की इतनी इकाइयाँ प्रयोग में लाता है ताकि साधन का मूल्य और उसकी सीमान्त उत्पादकता बराबर हो जाय।

कुल उत्पादकता (Total Productivity) सीमान्त उत्पादकता को जोड़ने से प्राप्त होती है।

औसत उत्पादकता (Average Productivity) कुल उत्पादकता को साधन की इकाइयों से भाग देने पर प्राप्त होती है।

सीमान्त और औसत उत्पादकता का पारस्परिक सम्बन्ध (Relationship between Average and Marginal Productivity)

जिस समय सीमान्त उत्पादकता वृद्धिमान होती है उस समय औसत उत्पादकता भी वृद्धिमान होती है। जब औसत उत्पादकता अधिकतम होने के बाद ह्रासमान हो जाती है तो सीमान्त उत्पादकता कुछ पहले से ही ह्रासमान होकर औसत उत्पादकता की तुलना में अधिक ह्रासमान होती है। इसी प्रकार वृद्धिमान सीमान्त उत्पादकता वृद्धिमान औसत उत्पादकता से अधिक होती है।
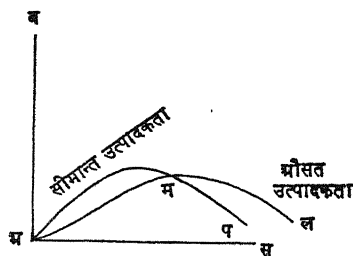
अ ल औसत उत्पादकता का वक्र है, और अ प सीमान्त उत्पादकता का वक्र है।

ऊपर के चित्र में सीमान्त और औसत उत्पादकता के वक्र दिखाये गये हैं। जब सीमान्त उत्पादकता वृद्धिमान है उस समय औसत उत्पादकता भी वृद्धिमान है परन्तु वह सीमान्त उत्पादकता से कम है। इसलिये औसत उत्पादकता का वक्र सीमान्त उत्पादकता के नीचे है। म' बिन्दु पर औसत उत्पादकता अधिकतम है, सीमान्त उत्पादकता उससे कुछ पूर्व स बिन्दु से ही ह्रासमान हो जाती है और ह्रासमान औसत उत्पादकता के साथ ही ह्रासमान रहती है। इस दशा में सीमान्त उत्पादकता औसत

उत्पादकता से कम है। इसीलिए सीमान्त उत्पादकता का वक्र औसत उत्पादकता के वक्र के नीचे है।

कुल उपयोगिता के वक्र का रूप निम्न प्रकार का होगा:—

हम ऊपर कह चुके हैं कि कुल उत्पादकता बराबर बढ़ती जाती है तथा सीमान्त उत्पादकता के शून्य होने पर ही वह अधिकतम होगी। उसके ऋणात्मक होने पर ही वह ह्रासमान हो सकती है। व्यवहार में ऐसा असंभव है इसलिए कुल-उत्पादकता वक्र अ म, म बिन्दु के बाद अव्यवहारिक है। अ म प्रारंभ से लेकर म बिन्दु तक बराबर उठती हुई है तथा म बिन्दु उसका अधिकतम बिन्दु है जिसपर सीमान्त उत्पादकता शून्य होगी। इसके बाद वक्र की प्रवृत्ति गिरने की है।
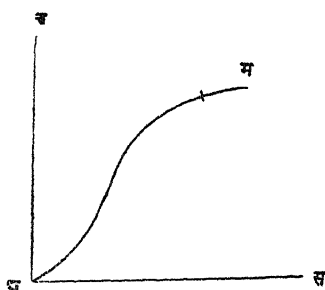
सीमान्त, औसत तथा कुल उत्पादकता के वक्रों को हम एक ही चित्र में दिखा सकते हैं!
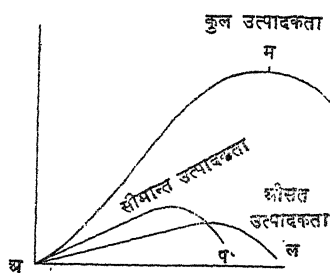
सीमान्त उत्पादकता का महत्व

सीमान्त उत्पादकता हमारे लिये विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है। वह सीमान्त विश्लेषण (Marginal Analysis) का एक आवश्यक भाग है। उत्पादन के साधनों को कितनी मात्रा का प्रयोग किया जाय इसका निर्णय सीमान्त उत्पादकता पर ही निर्भर रहता है। दूसरे शब्दों में, सीमान्त उत्पादकता साधनों के माँग पक्ष (demand for factors of production) का आधार है। ब्याज, मजदूरी, लाभ आदि निश्चित करने में सीमान्त उत्पादकता का बहुत बड़ा हाथ होता है।

अब हम उत्पादन के नियमों पर विचार करेंगे।

प्रत्युपलब्धि-नियम (The Laws of Returns)

उत्पादन की क्रियायें साधारणतया उत्पादन के प्रत्युपलब्धि-नियमों के अनुसार होती हैं। इन नियमों पर विचार करने से पूर्व हम पहले इनकी ऐतिहासिकता पर एक संक्षिप्त दृष्टि डालेंगे। जैसा कि प्रो० कैनन (Prof. Cannan) ने भी कहा है, प्रत्युपलब्धि नियमों का सबसे पहला स्पष्ट कथन फ्रांसीसी अर्थशास्त्री टुरगोट (Turgot) ने किया है। प्रसिद्ध क्लासिकल अ`शास्त्री रिकार्डो ने इन नियमों का खूब उपयोग किया—विशेषतया लगान के सिद्धान्त (Theory of Rent) के सम्बन्ध में। मार्शल ने इन नियमों का वह परिमार्जित रूप हमारे सामने रखा जो मुख्यतया क्लासिकल अर्थशास्त्रियों को मान्य था। इन नियमों में आधुनिक समय में बहुत कुछ परिशोधन हुआ है। इनके आधुनिक रूप की विस्तृत चर्चा श्रीमती जोन राबिन्सन ने की है।[1] हम पहले मार्शल द्वारा प्रस्तुत इन नियमों के क्लासिकल रूप पर विचार करेंगे।

ह्रासमान प्रत्युपलब्धि-नियम (The Law of Diminishing Returns)

मार्शल के अनुसार यदि कृषि-कला में सुधार न हो तो सामान्यतः कृषि में प्रयुक्त श्रम और पूँजी की वृद्धि से उपज अथवा प्रत्युपलब्धि की वृद्धि अनुपात से कम होती है।[2]

मार्शल के कथन से यह स्पष्ट है कि वे ह्रासमान प्रत्युपलब्धि नियम को मुख्यतया कृषि से सम्बन्धित मानते हैं। उनका नियम गहन एवम् विस्तृत दोनों प्रकार की खेती पर लागू होता है। जमीन का कोई टुकड़ा ले लीजिए। ज्यों-ज्यों उस पर श्रम और पूँजी की अधिकाधिक इकाइयों का प्रयोग किया जायगा त्यों-त्यों श्रम और पूँजी की प्रत्येक इकाई से प्राप्त प्रत्युपलब्धि कम होती जायगी। यदि हम यह मान लें कि (i) श्रम और पूँजी की एक इकाई का मूल्य वही रहेगा और (ii) यदि हम उसके मूल्य को उपज में मापें, तो हम इस तथ्य को इस प्रकार समझा सकते हैं:—

मान लीजिये श्रम और पूँजी की एक इकाई का मूल्य दो मन गेहूँ है।

---

1 Economics of Imperfect Competition.—Mrs. Joan Robinson.

2 An increase in the capital and labour applied in the cultivation of land causes in general a less than proportionate increase in the amount of produce raised, unless it happens to coincide with an improvement in the arts of agriculture.—Marshall, Principles pp. 150.

श्रम और पूँजी की इकाइयाँ	सीमान्त प्रत्युपलब्धि	कुल प्रत्युपलब्धि	औसत प्रत्युपलब्धि
पहली	४ मन	४ मन	४ मन
दूसरी	३ १/४ मन	७ १/४ मन	३ ५/८ मन
तीसरी	२ मन	९ १/४ मन	३ १/१२ मन

ऊपर हमने गहन खेती का उदाहरण लिया है और जमीन के एक ही टुकड़े पर श्रम और पूँजी की तीन इकाइयों का प्रयोग किया है। प्रत्येक इकाई से प्राप्त प्रत्युपलब्धि कम होती जाती है। पहली इकाई से प्राप्त प्रत्युपलब्धि ४ मन गेहूँ है। यदि प्रत्युपलब्धि में समान अनुपात से वृद्धि होती तो दूसरी इकाई के प्रयोग से प्राप्त प्रत्युपलब्धि भी चार मन गेहूँ होती; परन्तु दूसरी इकाई से प्राप्त उपज केवल सवा तीन मन है जो अनुपात से कम है। तीसरी इकाई से प्राप्त प्रत्युपलब्धि केवल दो मन है। श्रम और पूँजी की एक इकाई का मूल्य भी दो मन गेहूँ है। यह स्पष्ट है कि कृषक केवल श्रम और पूँजी की तीन ही इकाइयों का प्रयोग करेगा क्योंकि चौथी इकाई का प्रयोग करने से उसकी प्रत्युपलब्धि दो मन से कम होगी। मान लीजिये वह आधा मन गेहूँ है, परन्तु उस पर खर्च किया हुआ व्यय दो मन गेहूँ के बराबर ही होगा। ऐसी दशा में चौथी इकाई का प्रयोग उसके हित के सर्वथा विरुद्ध होगा। यद्यपि ह्रासमान प्रत्युपलब्धि का नियम चौथी-पाँचवीं आदि सभी इकाइयों पर लागू होगा परन्तु व्यवहारिक दृष्टिकोण से उन पर विचार करना व्यर्थ है क्योंकि उपर्युक्त दशा में कोई भी कृषक श्रम और पूँजी की तीन इकाइयों से अधिक का प्रयोग नहीं करेगा।

गहन खेती के उदाहरण में हमने एक ही जमीन के टुकड़े पर श्रम और पूँजी की विभिन्न इकाइयों का प्रयोग किया है। विस्तृत खेती में हम श्रम और पूँजी की इकाइयों को निश्चित रखकर जमीन के अनेक टुकड़ों का प्रयोग करते हैं। यहाँ भी प्रत्येक खेत से प्राप्त प्रत्युपलब्धि घटती जायगी। ऊपर दिये हुए उदाहरण में यदि श्रम और पूँजी की इकाइयों के स्थान पर हम खेतों की संख्या लिख दें, तो वही उदाहरण विस्तृत खेती में भी
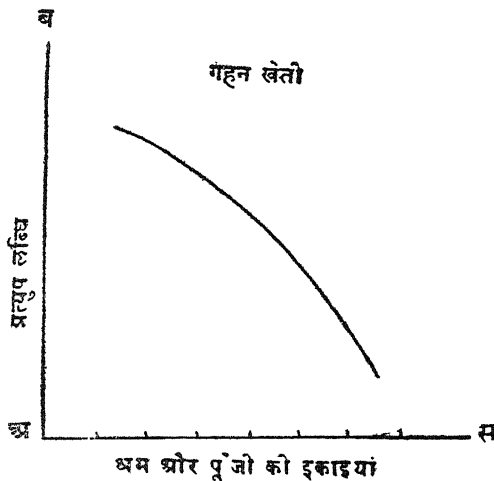
ह्रासमान प्रत्युपलब्धि नियम को स्पष्ट करेगा। दोनों ही दशा में चाहे हम गहन खेती का उदाहरण लें अथवा विस्तृत खेती का—प्रत्युपलब्धि घटती जायगी।

मार्शल ने स्पष्ट रूप से लिखा है कि प्रत्युपलब्धि-नियम का सम्बन्ध परिमाण अथवा उपज (return) से है न कि उसके मूल्य से। इसी कारण ऊपर के रेखा-चित्रों में हमने अ ब अक्ष पर प्रत्युपलब्धि को दर्शाया है तथा दाहिनी ओर गिरती हुई रेखा ह्रासमान प्रत्युपलब्धि दिखाती है।
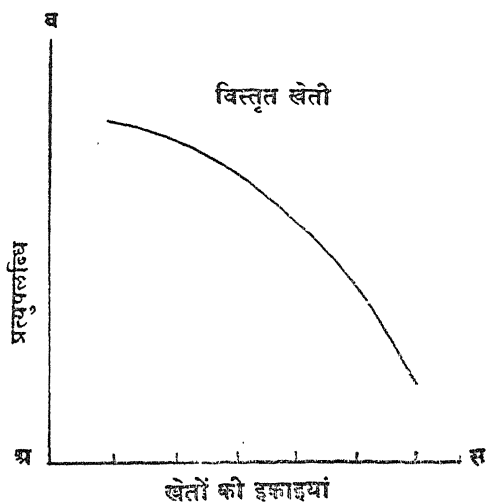
यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि मार्शल ने ह्रासमान सीमान्त प्रत्युपलब्धि की चर्चा की है अथवा ह्रासमान औसत प्रत्युपलब्धि की। मार्शल के कथन तथा उसके स्पष्टीकरण के लिये जो उदाहरण उन्होंने दिये हैं उससे यह प्रकट होता है कि उन्होंने सीमान्त प्रत्युपलब्धि के ह्रासमान होने की चर्चा की है। परन्तु इससे यह न समझना चाहिये कि औसत प्रत्युपलब्धि ह्रासमान नहीं होगी। वास्तव में सीमान्त और औसत प्रत्युपलब्धि इस प्रकार से सम्बन्धित हैं कि कुछ दशाओं को छोड़कर जो बहुत ही अल्पकालीन होती है, सीमान्त और औसत प्रत्युपलब्धि साथ ही साथ ह्रासमान होंगी। कुछ अर्थशास्त्री कुल प्रत्युपलब्धि के ह्रासमान होने की चर्चा करते हैं। ऐसा कथन केवल गणित के दृष्टिकोण से भले ही सम्भव हो अन्यथा कुल प्रत्युपलब्धि का ह्रासमान होना व्यवहार से कोसों दूर है। कुल प्रत्युपलब्धि तभी ह्रासमान हो सकती है जब कि सीमान्त प्रत्युपलब्धि ऋणात्मक हो। कोई भी व्यक्ति उत्पादन को इस सीमा तक नहीं ले जायगा। हमारा निष्कर्ष यह है कि इस नियम का सम्बन्ध औसत अथवा सीमान्त प्रत्युपलब्धि के ह्रासमान होने से है। अधिकांश में औसत तथा सीमान्त प्रत्युपलब्धि साथ ही साथ ह्रासमान होती हैं, यह हम अध्याय के प्रारम्भ में ही कह चुके हैं।

मार्शल के अनुसार यह नियम केवल दो परिस्थितियों को छोड़कर सदैव लागू होता है यदि कृषि-कला में कोई उन्नति अथवा सुधार हो जाय तो सम्भव है कि प्रत्युपलब्धि ह्रासमान होने के स्थान पर वृद्धिमान हो जाय। दूसरे यदि खेत का पूर्ण उपयोग न हुआ हो तो प्रारम्भ में श्रम और पूँजी की इकाइयों के प्रयोग से

प्रत्युपलब्धि वृद्धिमान हो सकती है। साधारणतया प्रत्येक कृषक अपने खेत का पूर्ण उपयोग कर लेता है। इसी कारण मार्शल ने 'सामान्यत:' शब्द का प्रयोग किया है। खेत का पूर्ण उपयोग होने के बाद श्रम और पूँजी की विभिन्न इकाइयों से सामान्यत: ह्रासमान प्रत्युपलब्धि ही होगी।

प्रारम्भ में खेत का पूर्ण उपयोग न होने के कारण वृद्धिमान प्रत्युपलब्धि ही प्राप्त होती है। बहुधा इसे वृद्धिमान प्रत्युपलब्धि नियम (The Law of Increasing Returns) कहा जाता है। इसके अनुसार श्रम और पूँजी की इकाइयों के प्रयोग से प्रत्युपलब्धि (return) अनुपात से अधिक प्राप्त होती है। जब प्रत्युपलब्धि अनुपात के बराबर ही होती है—न कम और न अधिक—तो उसे स्थिर प्रत्युपलब्धि (constant returns) का नियम कहते हैं। वास्तव में प्रत्युपलब्धि-नियम के ये तीन पहलू—ह्रासमान, वृद्धिमान तथा स्थिर प्रत्युपलब्धि—उत्पादन की प्रत्येक क्रिया में वर्तमान रहते हैं। हम इन तीनों का एक ही चित्र द्वारा निरूपण कर सकते हैं:—
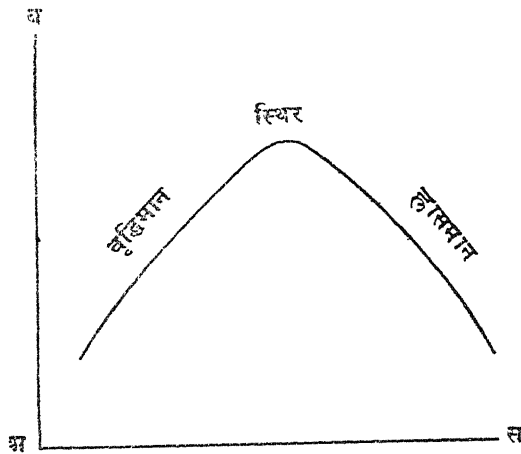
ज्यों-ज्यों श्रम और पूँजी की इकाइयों का प्रयोग बढ़ाया जाता है त्यों-त्यों प्रत्युपलब्धि प्रारम्भ में अनुपात से अधिक बढ़ती जाती है तत्पश्चात् एक बिन्दु पर स्थिर होने के पश्चात् वह ह्रासोन्मुख हो जाती है। लागत के दृष्टिकोण से वृद्धिमान प्रत्युपलब्धि ह्रासमान लागत (decreasing cost) तथा ह्रासमान प्रत्युपलब्धि वृद्धिमान लागत (increasing cost) कहलाती है। उदाहरण के लिये, यदि श्रम और पूँजी की प्रत्येक इकाई की लागत १०) हो।

श्रम और पूँजी की इकाइयाँ	सीमान्त प्रत्युपलब्धि की इकाइयाँ		कुल प्रत्युपलब्धि की इकाइयाँ	कुल लागत		औसत लागत रु०
१ ली	३	वृद्धिमान	३	१०)	ह्रासमान	३.३
२ री	४-	प्रत्युपलब्धि	७	२०)	लागत	२.९

३ री	५ स्थिर ,,	१२	३०) स्थिर ,,	२.५
४ थी	३ } ह्रासमान	१५	४०) वृद्धिमान	{ २.७
५ वीं	२ } प्रत्युपलब्धि	१७	५०) लागत	{ २.९

यहाँ हम देखते हैं कि औसत लागत प्रारम्भ में घटती है तथा कुछ समय बाद बढ़ने लगती है। अतः लागत के दृष्टिकोण से प्रत्युपलब्धि-नियम का रेखाचित्र इस प्रकार होगा।
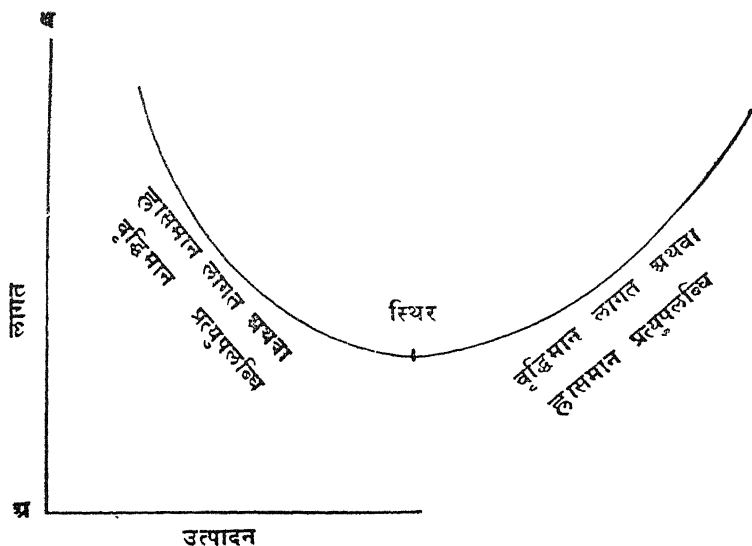
इस चित्र में प्रारम्भ में लागत घटती है तथा न्यूनतम होने के बाद फिर बढ़ने लगती है। न्यूनतम लागत के बिन्दु को स्थिर-प्रत्युपलब्धि-बिन्दु * (The point of constant returns) कहा जाता है। उत्पादन के नियमों को जब लागत की दृष्टि से प्रस्तुत किया जाता है तो औसत लागत ही की चर्चा की जाती है क्योंकि व्यवहार में औसत लागत के आधार पर ही हम लाभ और हानि का निर्णय करते हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि सीमान्त लागत की दृष्टि से यह नियम सत्य नहीं है। सीमान्त और औसत उत्पत्ति की भाँति यह नियम सीमान्त और औसत लागत की दृष्टि से भी उतना ही सच है।

मछलियों का व्यवसाय तथा खानें—मार्शल के अनुसार ह्रासमान प्रत्युपलब्धि का नियम मछलियों के व्यवसाय तथा खानों पर भी लागू होता है। जहाँ तक तालाबों और पोखरों की मछलियों का प्रश्न है, इस नियम का लागू होना बिल्कुल स्पष्ट है

*स्थिर प्रत्युपलब्धि के सम्बन्ध में अध्याय के अन्त में दी हुई टिप्पणी भी देखिये।

क्योंकि ज्यों-ज्यों मछलियों की संख्या कम होती जायगी, उन्हें पकड़ने के लिये अधिक प्रयत्न करना होगा। यदि पहले एक घंटे में ५० मछली पकड़ी जाती हैं, तो अधिक संभव यही है कि दूसरे घन्टे में ३० मछली, तीसरे में १२ मछली पकड़ी जायेंगी क्योंकि प्रत्येक घन्टे के बाद तालाब में मछलियों की संख्या पहले से कम हो जाती है अतएव उसी अनुपात में उनका पकड़ना संयोगवश ही हो सकता है अन्यथा वे कम अनुपात में ही पकड़ी जाँयगी अर्थात् प्रत्येक घन्टे में पकड़ी हुई मछलियों की संख्या क्रमशः घटती जायगी। समुद्र की मछलियों के बारे में कुछ लोगों का मत है कि उनकी वृद्धि की तीव्रता के कारण उन पर ह्रासमान-प्रत्युपलब्धि-नियम लागू नहीं होता। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो मछलियों के अधिकाधिक पकड़े जाने के कारण उनकी वृद्धि पर प्रभाव अवश्य पड़ेगा और अन्त में ह्रासमान-प्रत्युपलब्धि-नियम अवश्य ही लागू होगा।

खानों में से ज्यों-ज्यों खनिज पदार्थ निकलता जाता है त्यों-त्यों खनिज पदार्थ निकालने के लिये अधिकाधिक प्रयत्न करने पड़ते हैं अर्थात् खनिज पदार्थ निकालने की लागत बढ़ती जाती है और इस प्रकार ह्रासमान प्रत्युपलब्धि नियम लागू होने लगता है।

ह्रासमान-प्रत्युपलब्धि-नियम तथा अन्य व्यवसाय—अन्य व्यवसायों के बारे में मार्शल का मत है कि ह्रासमान प्रत्युपलब्धि नियम अन्त में लागू अवश्य होगा यद्यपि कुछ समय तक उसे रोका जा सकता है। मानवीय प्रयत्न सदैव ह्रासमान प्रत्युपलब्धि को रोकने के लिये ही होते हैं परन्तु प्राकृतिक शक्तियाँ उसे लागू किये बिना नहीं रहतीं। अन्य व्यवसायों में कतिपय विशेष कारण से ह्रासमान प्रत्युपलब्धि के स्थान पर वृद्धिमान प्रत्युपलब्धि प्राप्त होती है।

वृद्धिमान प्रत्युपलब्धि के कारण (Causes of Increasing Returns)

वृद्धिमान प्रत्युपलब्धि का मुख्य कारण (i) उत्पादन के साधनों की अविभाज्यता है। यदि किसी व्यवसाय में मशीन के प्रयोग की आवश्यकता होती है तो उसे पूरी तरह से उपयोग में लाने के लिये श्रम की उचित इकाइयों का प्रयोग करना पड़ेगा। ज्यों-ज्यों हम श्रम की इकाइयाँ बढ़ाते जायेंगे, लागत उस समय तक कम होती जायगी जब तक कि मशीन का पूर्ण उपयोग नहीं हो जाता। (ii) इसके अतिरिक्त बहुधा उत्पादन बड़ी मात्रा में किया जाता है और इसलिये आंतरिक एवम् वाह्य मितव्ययताओं के उपलब्ध होने के कारण भी लागत कम होती जाती है। व्यवसाय के विस्तार के साथ ही आंतरिक और वाह्य मितव्ययतायें उदाहरणार्थ यातायात की दरों में कमी, विक्रय की सुविधायें आदि, भी अधिकाधिक सुलभ होती जाती हैं और इसलिये लागत कम होती जाती है। (iii) वैज्ञानिक आविष्कार बहुधा ऐसी विधियाँ प्रस्तुत करते रहते

हैं जिनके कारण लागत कम हो जाती है। इन्हीं कारणों से वृद्धिमान प्रत्युपलब्धि अथवा ह्रासमान लागत प्राप्त होती है। यह स्पष्ट है कि ह्रासमान लागत मनुष्य के सतत प्रयत्नों का परिणाम है। यदि मनुष्य लागत के कम करने के प्रति सचेष्ट न रहे तो वृद्धिमान लागत अथवा ह्रासमान प्रत्युपलब्धि शीघ्र ही प्रारम्भ हो जायगी। इसी बात को ध्यान में रखते हुए मार्शल ने कहा है कि उत्पादन में मनुष्य के प्रयत्न वृद्धिमान प्रत्युपलब्धि के लिये होते हैं तथा प्राकृतिक शक्तियाँ ह्रासमान प्रत्युपलब्धि को लागू करने का प्रयत्न करती हैं।* इसका अर्थ यह नहीं है कि इन व्यवसायों में ह्रासमान प्रत्युपलब्धि नियम लागू ही नहीं होगा वरन् यह कि उसे अपेक्षाकृत अधिक समय के लिये रोका जा सकता है।

ऊपर जो कुछ कहा जा चुका है उससे स्पष्ट है कि कृषि एवम् अन्य सभी व्यवसायों में कालान्तर से ह्रासमान प्रत्युपलब्धि नियम अवश्य ही लागू होगा। अतः हम कह सकते हैं कि उत्पादन का नियम केवल एक है और वह है ह्रासमान-प्रत्युपलब्धि-नियम। शेष दो नियम उत्पादन के केवल अस्थाई रूप (temporary phases) हैं।

समीक्षा (Criticism)

मार्शल द्वारा प्रस्तुत प्रत्युपलब्धि-नियमों को हम देख चुके। मार्शल ने इन नियमों को मुख्यतया कृषि से सम्बन्धित करके देखा है। उनकी ह्रासमान प्रत्युपलब्धि-नियम की परिभाषा इसका स्पष्ट प्रमाण है। यदि हम मार्शल की ह्रासमान प्रत्युपलब्धि नियम की व्याख्या को ध्यानपूर्वक देखें तो विदित होगा कि ह्रासमान प्रत्युपलब्धि किसी एक साधन को स्थिर रखकर अन्य साधनों को बढ़ाने के कारण होती है। कृषि को ही लीजिये। हम भूमि (जमीन) को स्थिर रखकर श्रम और पूँजी की इकाइयों का अधिकाधिक प्रयोग करते जाते हैं तथा प्रति इकाई प्रत्युपलब्धि ह्रासमान होती जाती है। यद्यपि मार्शल की व्याख्या में यह तथ्य विद्यमान अवश्य है परन्तु उन्होंने अपनी परिभाषा में इसे स्पष्ट नहीं किया है। ह्रासमान प्रत्युपलब्धि नियम का आधुनिक रूप इसी तथ्य को लेकर चलता है।

ह्रासमान-प्रत्युपलब्धि नियम की आधुनिक परिभाषा (The Modern View)

इस नियम की सर्वश्रेष्ठ आधुनिक परिभाषा श्रीमती जोन रोबिन्सन की है। उनके अनुसार "किसी भी उत्पादन के साधन की निश्चित मात्रा के साथ अन्य साधनों की क्रमशः बढ़ती हुई मात्रा कुछ समय बाद ह्रासमान प्रत्युपलब्धि देगी। लागत के दृष्टि-

*"We say broadly that while the part which Nature plays in production conforms to the Law of diminishing returns, the part that man plays conforms to the Law of increasing returns"—Marshall.

कोण से यदि उत्पादन के एक साधन की निश्चित मात्रा के साथ अन्य साधनों की बढ़ती हुई मात्रा का इस प्रकार प्रयोग किया जाय कि बढ़ी हुई मात्रा के प्रयोग से उनकी कार्य-क्षमता अथवा मूल्यों में कोई परिवर्तन न हो, तो कुछ समय बाद प्रति इकाई लागत बढ़ने लगेगी।[१] वृद्धिमान प्रत्युपलब्धि के बारे में उनका कहना है; "जब किसी साधन का अधिक मात्रा में प्रयोग किया जाता है तो बहुधा संगठन में ऐसे सुधार सम्भव हो जाते हैं जिनसे साधन की कार्य-क्षमता बढ़ जाती है और इसलिये प्रत्युपलब्धि की वृद्धि के लिये उसी अनुपात में साधन की मात्रा नहीं बढ़ानी पड़ती।"[२]

श्रीमती रोबिन्सन की इन परिभाषाओं से यह बात फिर से स्पष्ट हो जाती है कि ह्रासमान प्रत्युपलब्धि का नियम ही मौलिक है तथा वृद्धिमान प्रत्युपलब्धि केवल अस्थाई है। प्रत्युपलब्धि-नियमों की आधुनिक परिभाषा कृषि एवम् अन्य व्यवसायों पर समान रूप से लागू होती है। आधुनिक परिभाषाओं के अनुसार हम तीनों नियमों को निम्न उदाहरण से समझा सकते हैं:—

उदाहरण	१ मशीन	+१० श्रमिक	४० इकाइयों की उत्पत्ति कर पाते हैं।
१.	,,	+११ ,,	४५ ,, ,, ,, ,, ,, ,,
२.	,,	+११ ,,	४३ ,, ,, ,, ,, ,, ,,
३.	,,	+११ ,,	४४ ,, ,, ,, ,, ,, ,,

मान लीजिये एक मशीन और दस श्रमिक ४० इकाइयों की उत्पत्ति करते हैं। यदि हम श्रम की मात्रा में दस प्रतिशत वृद्धि करें तो तीन सम्भावनायें हो सकती हैं।

---

[१] "The Law of Diminishing Returns,......, states that with a fixed amount of any one factor of production successive increases in the amount of other factors will, after a point, yield a diminishing increment of the product. Looking at the matter from the point of view of cost of production, if one factor is fixed in amount and increased amount of other factors are used with it, and if no improvement in the efficiency or reduction in the price of these other factors is introduced by the increase in the amount used, after a point the cost of production per unit of out put will rise."—Mrs. Joan Robinson.

[२] "When an increased amount of any factor of production is devoted to a certain use, it is often the case that improvements in organisation can be introduced which will make the natural units of the factor (men, acres, or money capital) more efficient, so that an increase in out put does not require a proportionate increase in the physical amount of a factor"—Mrs. Joan Robinson.

उत्पत्ति में दस प्रतिशत से अधिक वृद्धि हो, या दस प्रतिशत से कम वृद्धि हो या केवल दस प्रतिशत वृद्धि हो। ऊपर के उदाहरण में हमने श्रम की मात्रा दस प्रतिशत बढ़ाई है इसीलिये दस के स्थान पर ग्यारह श्रमिकों को रखा गया है। इसके फलस्वरूप जब उत्पत्ति ४० इकाइयाँ से बढ़कर ४५ इकाई हो जाती है अर्थात् उत्पत्ति की वृद्धि १२½ प्रतिशत है तो वृद्धिमान प्रत्युपलब्धि प्राप्त हो रही है। यदि उत्पत्ति बढ़कर केवल ४३ इकाई ही होती है अर्थात् उत्पत्ति की वृद्धि केवल ७½ प्रतिशत है (जो श्रम की वृद्धि से कम है) तो ह्रासमान प्रत्युपलब्धि प्राप्त होती है। यदि उत्पत्ति बढ़कर ४४ इकाई हो जाती है अर्थात् उत्पत्ति की वृद्धि भी (श्रम की वृद्धि के बराबर) दस प्रतिशत है तो स्थिर प्रत्युपलब्धि (constant returns) प्राप्त होती हैं। प्रत्युपलब्धि नियमों के इस रूप में हम उन्हें कृषि, खानें तथा अन्य किसी भी व्यवसाय में लागू करके देख सकते हैं। ह्रासमान प्रत्युपलब्धि नियम में साधनों के सहयोग का अनुपात बदलता रहता है इसलिये कुछ अर्थशास्त्री इसे परिवर्ती अनुपात नियम (The Law of Variable Proportions) भी कहते हैं।[1]

ह्रासमान प्रत्युपलब्धि नियम की सीमायें (Limitations or the Assumptions of the Law of Diminishing Returns)

ह्रासमान प्रत्युपलब्धि नियम अथवा परिवर्ती अनुपात नियम लागू होने के लिये निम्नलिखित बातें आवश्यक हैं:—

१. यह नियम तभी लागू हो सकता है जब कि उत्पादन के एक साधन की मात्रा निश्चित अथवा स्थिर रखी जाय तथा अन्य साधनों की मात्रा बढ़ाई जाय।

२. यह नियम तभी लागू हो सकता है जब कि उत्पादन के साधन के सहयोग का अनुपात परिवर्ती हो। यदि ऐसा नहीं है तो यह नियम लागू नहीं हो सकता। एक टाइपिस्ट और टाइपराइटर का उदाहरण लीजिये। इनका अनुपात बदला नहीं जा सकता। मान लीजिये एक टाइपिस्ट एक दिन में तीस पृष्ठ टाइप करता है। यदि हम एक टाइपराइटर की संख्या बढ़ायें तो उसके साथ टाइपिस्ट भी रखना होगा और इस नये टाइपराइटर और टाइपिस्ट के सहयोग से फिर तीस पृष्ठ टाइप किये जा सकेंगे। अत: यहाँ ह्रासमान प्रत्युपलब्धि नहीं होगी वरन् जिस पैमाने पर (यहाँ एक टाइपराइटर और टाइपिस्ट का पैमाना है) उत्पादन हो रहा है, उसी पैमाने को दुगना तिगुना आदि किया जा सकता है और उत्पत्ति भी दुगनी, तिगुनी होती जायगी अर्थात् प्रति टाइपराइटर और टाइपिस्ट के लिये स्थिर रहेगी। इसे पैमाने के प्रति स्थिर प्रत्युपलब्धि (constant returns to scale) कहा जाता है।

---

[1] The Theory of Price—Stigler.

३. इस नियम के लागू होने के लिये तीसरी आवश्यक शर्त यह है कि वैज्ञानिक आविष्कार आदि इसकी प्रवृत्तियों को न रोक सकें।

ह्रासमान प्रत्युपलब्धि के कारण (Causes of Diminishing Returns)

मार्शल के विचारों का स्पष्टीकरण करते समय हम वृद्धिमान प्रत्युपलब्धि के कारणों की चर्चा कर चुके हैं। ह्रासमान प्रत्युपलब्धि भी साधनों की अविभाज्यता के कारण ही होती है। जब किसी साधन का पूर्ण उपयोग हो चुकता है तो उस साधन के सहयोग में अन्य साधनों की अधिक मात्रा का प्रयोग उस पर आवश्यकता से अधिक काम डाल देता है और इसलिये प्रत्युपलब्धि घटती जाती है अथवा लागत बढ़ती जाती है।

कभी कभी किसी साधन का मूल्य बढ़ जाने के कारण भी लागत बढ़ जाती है अथवा ह्रासमान प्रत्युपलब्धि प्राप्त होने लगती है; परन्तु इस प्रकार से प्राप्त ह्रासमान प्रत्युपलब्धि उस ह्रासमान प्रत्युपलब्धि से बिल्कुल भिन्न है जिसकी विस्तृत व्याख्या ऊपर की जा चुकी है। ह्रासमान प्रत्युपलब्धि के नियम की व्याख्या करते समय हम यह मान लेते हैं कि उत्पादन के साधनों के मूल्यों में कोई परिवर्तन नहीं होगा (ऊपर दी हुई परिभाषा तथा मार्शल की व्याख्या देखिये)। श्रम और पूँजी की इकाइयों का मूल्य समान रहते हुये ज्यों-ज्यों हम उनका अधिकाधिक प्रयोग करते हैं, प्रति इकाई प्रत्युपलब्धि (returns) कम होती जाती है और इसलिये लागत बढ़ती जाती है। अतः ह्रासमान प्रत्युपलब्धि उत्पादन के साधनों के प्रति है। जब साधनों का मूल्य बढ़ने के कारण लागत बढ़ती जाती है तो ह्रासमान प्रत्युपलब्धि व्यय के प्रति है साधनों के प्रति नहीं क्योंकि लागत साधनों पर किये हुए व्यय के बढ़ जाने के कारण बढ़ी है। पहली दशा में लागतबढ़ने का कारण साधनों पर किये हुए व्यय की वृद्धि नहीं थी (क्योंकि उनका मूल्य समान था) वरन् प्रत्युपलब्धि का कम होना था। साधनों का मूल्य बढ़ने के कारण जो ह्रासमान प्रत्युपलब्धि होती है, वह व्यय के प्रति होती है साधनों के प्रति नहीं, इस बात को सदैव ध्यान में रखना चाहिये।

ह्रासमान प्रत्युपलब्धि नियम का महत्व तथा अन्य सिद्धान्तों से सम्बन्ध (The Importance of the Law of Diminishing Returns and its Relation with other Laws)

ह्रासमान प्रत्युपलब्धि नियम अर्थशास्त्र का एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के प्रति कोई अपवाद नहीं हैं। कालान्तर में यह नियम उत्पादन के हर क्षेत्र में लागू होगा। अर्थशास्त्र के इस नियम की तुलना प्राकृतिक विज्ञान के किसी भी नियम से की जा सकती है। केवल यही नहीं, यह नियम अर्थशास्त्र के अनेक सिद्धान्तों का आधार है। उदाहरण के लिये, **रिकार्डो के लगान के सिद्धांत का सम्पूर्ण तर्क इसी**

नियम पर आधारित हैं। **माल्थस के जनसंख्या के सिद्धांत का आधार भी यही नियम है।** खाद्य-सामग्री ह्रासमान प्रत्युपलब्धि नियम के कारण ही जनसंख्या के बराबर नहीं बढ़ पाती और इसीलिये जन-संख्या की समस्या उत्पन्न हो जाती है। **उत्पादन के साधनों की घटती हुई उत्पादन का कारण भी यही नियम है।** साधनों की उत्पादकता का उनके मूल्य निर्धारण में बहुत महत्वपूर्ण हाथ होता है और इस प्रकार यह नियम वितरण के पूरे क्षेत्र में व्याप्त है। इस नियम के लागू होने के कारण ही लागत बढ़ती जाती है अतः लागत बढ़ने को रोकने के लिये किये हुए उपायों का जन्म वास्तव में इस नियम से ही हैं। इस अर्थ में अनेक आविष्कार और उनसे हुई आर्थिक प्रगति इसी नियम से सम्बन्धित है।

स्थिर प्रत्युपलब्धि पर एक टिप्पणी (A note on the Constant Return)

जब उत्पादन के साधनों की वृद्धि के अनुपात में ही उत्पत्ति में वृद्धि होती है तो कहा जाता है कि स्थिर प्रत्युपलब्धि नियम लागू हो रहा है।

हम कह चुके हैं कि रेखाचित्र में न्यूनतम लागत का बिंदु ही स्थिर प्रत्युपलब्धि या स्थिर लागत (Constant return or constant cost) दिखाता है। पिछले पृष्ठ में प्रत्युपलब्धि नियमों को दिखाने वाले रेखाचित्र को देखिये। प्रारम्भ में श्रम और पूँजी की इकाइयों की वृद्धि के साथ प्रत्युपलब्धि अनुपात से अधिक बढ़ती है और बाद में अधिकतम होने के बाद अनुपात से कम बढ़ती है अर्थात् घटने लगती है। अधिकतम प्रत्युपलब्धि का बिन्दु ही स्थिर प्रत्युपलब्धि का बिन्दु है। इसका कारण यह है कि अधिकतम प्रत्युपलब्धि से जरा पहिले अगर हम श्रम और पूँजी की इकाइयों में अतिअल्प (Infinitesmal) वृद्धि करें तो इस वृद्धि का अनुपात उत्पत्ति की वृद्धि के अनुपात के समान होगा। श्रम और पूँजी की अतिअल्प वृद्धि से उत्पत्ति में अनुपात के बराबर——न कम न अधिक—— ही वृद्धि होती है। इसलिये अधिकतम प्रत्युपलब्धि का बिन्दु स्थिर प्रत्युपलब्धि का बिन्दु है। इसी प्रकार न्यूनतम लागत का बिन्दु भी स्थिर लागत (Constant Cost) का बिन्दु होता है।

हम ऐसी स्थिति की भी कल्पना कर सकते हैं जहाँ उत्पत्ति स्थिर-प्रत्युपलब्धि बिन्दु के बाद भी स्थिर रहे अर्थात् उसी अनुपात में बढ़ती रहे। इस दशा में स्थिर प्रत्युपलब्धि बिन्दु का स्थान एक स्थिर प्रत्युपलब्धि रेखा ले लेगी। ऐसी स्थिति में स्थिर प्रत्युपलब्धि को एक अलग चित्र द्वारा भी दिखा सकते हैं। यदि श्रम और पूँजी की दस इकाइयों के प्रयोग से प्रत्युपलब्धि अधिकतम या लागत न्यूनतम हो चुकी है (अर्थात् श्रम और पूँजी की इकाइयों की वृद्धि से उत्पत्ति में समान अनुपात में वृद्धि होती है) तथा इसके बाद श्रम और पूँजी की प्रत्येक इकाई से उत्पत्ति में उसी (श्रम और पूँजी की वृद्धि का अनुपात) अनुपात में वृद्धि हो तो श्रम और पूँजी की प्रत्येक

इकाई से उपलब्ध उत्पत्ति समान होगी और एक अनुभूमिक रेखा (horizontal) इसे दिखायेगी ।

मान लीजिये श्रम और पूंजी की दस इकाइयों की प्रत्युपलब्धि(जो अधिकतम है) सौ इकाई है । यदि श्रम और पूंजी की एक इकाई का और प्रयोग किया जाय तो यह दस प्रतिशत वृद्धि के बराबर है क्योंकि श्रम और पूँजी की ११वीं इकाई पहले की दस इकाइयों का दसवाँ भाग है । यदि ११वीं इकाई से उत्पत्ति भी दस इकाई बढ़े तो उत्पत्ति की वृद्धि भी दस प्रतिशत है क्योंकि यह भी पहले की उत्पत्ति (१०० इकाई) का दसवाँ भाग है । इसी प्रकार जब श्रम और पूँजी को अन्य इकाइयों का प्रयोग किया जाता है और उनसे समान उपलब्धि उदाहरण के लिये उत्पत्ति की दस इकाइयाँ ही प्राप्त होती रहें तो श्रम और पूंजी की अनुपातिक वृद्धि उत्पत्ति की अनुपातिक वृद्धि के बराबर ही रहेगी । श्रम और पूंजी की बारहवीं इकाई का प्रयोग उस से पहले प्रयुक्त साधनों के $\frac{१}{११}$वें भाग के बराबर है । बारहवीं इकाई की उत्पत्ति भी दस इकाई होने पर यह वृद्धि भी पहले की उत्पत्ति का $\frac{१}{११}$वाँ भाग है क्योंकि श्रम और पूँजी की ग्यारह इकाइयों से उत्पत्ति की ११० इकाइयाँ प्राप्त हो रही थीं । इसलिये उत्पत्ति की वृद्धि का अनुपात $= \frac{१०}{११०} = \frac{१}{११}$, जो १२वीं इकाई के प्रयोग से साधनों की वृद्धि के अनुपात के बराबर है । इत्यादि ।
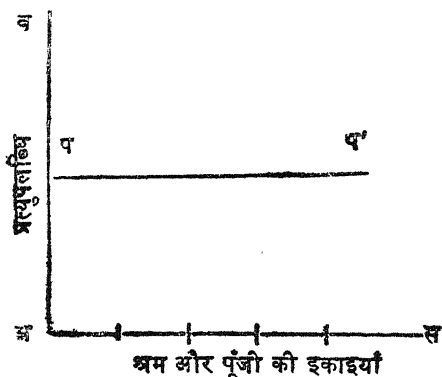
अ स अक्ष पर श्रम और पूँजी की ग्यारहवीं, बारहवीं आदि इकाइयाँ दिखाई गई हैं तथा अ ब अक्ष पर प्रत्युपलब्धि । ऊपर के उदाहरण के अनुसार श्रम और पूंजी की प्रत्येक इकाई से उत्पत्ति की दस इकाइयाँ मिलती हैं । यहाँ साधनों और उत्पत्ति की अनुपातिक वृद्धि समान होगी जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं । प्रत्येक इकाई से समान उत्पत्ति अ प (१० इकाई) प्राप्त होने के कारण स्थिर-प्रत्युपलब्धि अक्ष अ स के समाना-

न्तर अनुभूमिक रेखा प ब द्वारा दिखाई गई है। उत्पादन में इस प्रकार की वृद्धि होने पर स्थिर प्रत्युपलब्धि नियम (The Law of Constant Return) कहा लागू जाता है।

यह याद रखना चाहिये कि स्थिर-प्रत्युपलब्धि अधिकतम प्रत्युपलब्धि प्राप्त होने के बाद ही मिलती है। इसी कारण हमारे उदाहरण में श्रम और पूँजी की १०वीं, ११वीं, १२वीं इत्यादि इकाइयों से स्थिर प्रत्युपलब्धि प्राप्त हो रही है, (क्योंकि १० इकाइयों के प्रयोग से प्रत्युपलब्धि अधिकतम हो चुकी थी) प्ररम्भ की इकाइयों से नहीं।

प्रारम्भ में वृद्धिमान प्रत्युपलब्धि प्राप्त होती है। प्रत्युपलब्धि के अधिकतम होने के बाद ही स्थिर प्रत्युपलब्धि प्राप्त होती है। बहुधा स्थिर प्रत्युपलब्धि चित्र में केवल एक बिन्दु द्वारा प्रदर्शित की जाती है क्योंकि उत्पादन के साधनों की वृद्धि के समान अनुपात में वृद्धि अधिक समय तक नहीं हो सकती। यदि हम यह कल्पना करें कि स्थिर प्रत्युपलब्धि अधिक समय तक प्राप्त होगी तथा प्रारम्भ की वृद्धिमान प्रत्युपलब्धि और स्थिर प्रत्युपलब्धि के बाद ह्रासमान प्रत्युपलब्धि को भी चित्र में प्रदर्शित करें तो त्रित्र इस प्रकार का होगा।

लागत के दृष्टिकोण से चित्र इस प्रकार का होगा।

EXERCISES

1. State and explain fully with the help of a diagram the Law of Diminishing Returns. How far is it correct to say that it does not apply to industries?

Agra U. 1953

2. State and explain fully the Law of Diminishing Returns in its operation in Agricultural and Manufacturing Industries. Use diagrams or a table of figures to illustrate your answer. How far is the Law applicable to (a) Fisheries (b) Mines (c) Manufacturers ?

Agra U. 1951

3. Explain the Law of Diminishing Returns with its limitations.

Agra U. B. Com. 1953

4. State & explain the Law of Diminishing Returns and indicate its significance in the theories and problems of Economics.

Agra U. B. Com. 1950

5. Discuss the Laws of Returns. "We say broadly," remarks Prof. Marshall "that while the Part which Nature plays in production conforms to the Law of diminishing return, the part which Man plays conforms to the law of increasing returns." Explain.

Rajputana U. 1952

6. State the Law of Diminishing Returns, and show why both in industry and agriculture diminishing returns must inevitably set in if a sufficiently long period is taken into consideration.

Allad. U. B. Com. I 1950

7. State the law of returns. What are the factors that are responsible for their operation ?

Allad. U. 1951

8. Is it possible to increase production indefinitely under conditions of increasing returns, or is it inevitable that diminishing returns must inevitably set in ? Give diagrams to illustrate your answer.

Allad. U. B. Com I 1952

9. State the law of diminishing returns. What factors cause a decline in returns ? How can the operation of this law be postponed.

Allad. U. B. A. 1953

10. 'The law of diminishing returns states that with a fixed amount of any one factor of production successive increases in the amount of the other factors will, after a point, yield diminishing increment of product.' Explain this law.

Allad. U. B. Com. I 1953

न्तर अनुभूमिक रेखा प ब द्वारा दिखाई गई है। उत्पादन में इस प्रकार की वृद्धि होने पर स्थिर प्रत्युपलब्धि नियम (The Law of Constant Return) कहा लागू जाता है।

यह याद रखना चाहिये कि स्थिर-प्रत्युपलब्धि अधिकतम प्रत्युपलब्धि प्राप्त होने के बाद ही मिलती है। इसी कारण हमारे उदाहरण में श्रम और पूँजी की १०वीं, ११वीं, १२वीं इत्यादि इकाइयों से स्थिर प्रत्युपलब्धि प्राप्त हो रही है, (क्योंकि १० इकाइयों के प्रयोग से प्रत्युपलब्धि अधिकतम हो चुकी थी) प्ररम्भ की इकाइयों से नहीं।

प्रारम्भ में वृद्धिमान प्रत्युपलब्धि प्राप्त होती है। प्रत्युपलब्धि के अधिकतम होने के बाद ही स्थिर प्रत्युपलब्धि प्राप्त होती है। बहुधा स्थिर प्रत्युपलब्धि चित्र में केवल एक बिन्दु द्वारा प्रदर्शित की जाती है क्योंकि उत्पादन के साधनों की वृद्धि के समान अनुपात में वृद्धि अधिक समय तक नहीं हो सकती। यदि हम यह कल्पना करें कि स्थिर प्रत्युपलब्धि अधिक समय तक प्राप्त होगी तथा प्रारम्भ की वृद्धिमान प्रत्युपलब्धि और स्थिर प्रत्युपलब्धि के बाद ह्रासमान प्रत्युपलब्धि को भी चित्र में प्रदर्शित करें तो त्रित्र इस प्रकार का होगा।

लागत के दृष्टिकोण से चित्र इस प्रकार का होगा।

EXERCISES

1. State and explain fully with the help of a diagram the Law of Diminishing Returns. How far is it correct to say that it does not apply to industries?

Agra U. 1953

2. State and explain fully the Law of Diminishing Returns in its operation in Agricultural and Manufacturing Industries. Use diagrams or a table of figures to illustrate your answer. How far is the Law applicable to (a) Fisheries (b) Mines (c) Manufacturers ?

Agra U. 1951

3. Explain the Law of Diminishing Returns with its limitations.

Agra U. B. Com. 1953

4. State & explain the Law of Diminishing Returns and indicate its significance in the theories and problems of Economics.

Agra U. B. Com. 1950

5. Discuss the Laws of Returns. "We say broadly," remarks Prof. Marshall "that while the Part which Nature plays in production conforms to the Law of diminishing return, the part which Man plays conforms to the law of increasing returns." Explain.

Rajputana U. 1952

6. State the Law of Diminishing Returns, and show why both in industry and agriculture diminishing returns must inevitably set in if a sufficiently long period is taken into consideration.

Allad. U. B. Com. I 1950

7. State the law of returns. What are the factors that are responsible for their operation ?

Allad. U. 1951

8. Is it possible to increase production indefinitely under conditions of increasing returns, or is it inevitable that diminishing returns must inevitably set in ? Give diagrams to illustrate your answer.

Allad. U. B. Com I 1952

9. State the law of diminishing returns. What factors cause a decline in returns ? How can the operation of this law be postponed.

Allad. U. B. A. 1953

10. 'The law of diminishing returns states that with a fixed amount of any one factor of production successive increases in the amount of the other factors will, after a point, yield diminishing increment of product.' Explain this law.

Allad. U. B. Com. I 1953

11. Discuss the causes of increasing and decreasing returns.

Allad. U. B. A. 1950

12. As the size of production increases beyond the optimum or let us say more is produced with the help of fixed factors of production, the cost per unit rises again. This is due to the diseconomics of large scale production or the phenomenon of diminishing returns Explain the statement.

Allad. U. B. A. 1956

अध्याय १८

उत्पादन के नियम (क्रमशः)

(THE LAWS OF PRODUCTION) (Contd.)

अनुकूलतम उत्पादन तथा प्रतिस्थापन का सिद्धान्त (Optimum Production and the Principle of Substitution)

प्रत्येक उत्पादक अपने अतिरिक्त (surplus) को अधिकतम करने के लिये यही चाहता है कि वह कम से कम लागत पर उत्पादन कर सके। इसलिये किसी वस्तु का उत्पादन करते समय साधारणतया उसे दो बातों पर विचार करना पड़ता है:

१. उत्पादन कितनी मात्रा में किया जाय तथा

२. एक नियत मात्रा के उत्पादन के लिये उत्पादन के साधनों को किस अनुपात में संयोजित किया जाय ताकि लागत न्यूनतम हो।

इन दो विचारों के साथ अनुकूलतम उत्पादन तथा प्रतिस्थापन नियम सम्बन्धित हैं।

अनुकूलतम उत्पादन (Optimum Production)

प्रत्युपलब्धि-नियमों (Laws of Returns) की चर्चा करते समय हम कह चुके हैं कि उत्पादन की औसत लागत प्रारम्भ में कम होती जाती है तथा न्यूनतम होने के बाद वह फिर बढ़ने लगती है। यदि हम जूते के उत्पादन का ही उदाहरण लें तो औसत लागत उस समय तक घटती जायगी जब तक कि मशीन का पूरा उपयोग नहीं हो जाता। मशीन का पूरा उपयोग होने पर लागत न्यूनतम हो जायगी और इसके बाद बढ़ने लगेगी।
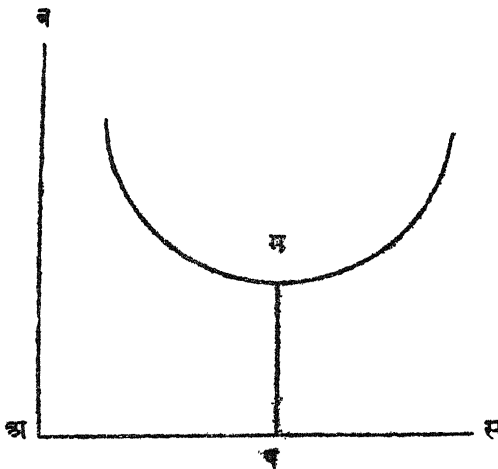
इसका कारण यह है कि न्यूनतम-लागत पर मशीन का पूरा उपयोग हो चुकता है, और अधिक उत्पादन के लिए नियुक्त किए हुए श्रमिक पहले से काम करने वाले

श्रमिकों की अपेक्षा कम उत्पादन कर पाते हैं। **अनुकूलतम उत्पादन** उसे कहते हैं **जहाँ लागत न्यूनतम हो**। उपर्युक्त चित्र में म प अनुकूलतम उत्पादन है क्योंकि यही औसत लागत न्यूनतम है। अ ब अक्ष पर औसत लागत दिखाई गई है तथा अ स अक्ष पर उत्पादन की इकाइयाँ।

प्रारम्भ में औसत लागत के घटने का कारण उत्पादन के साधनों की अविभाज्यता है। यदि एक व्यक्ति आइसक्रीम (Ice-cream) की फैक्ट्री चलाना चाहता है तो इसके लिये उसे आइसक्रीम बनाने की मशीन ख़रीदनी पड़ेगी। यदि १५००) मशीन का मूल्य हो तो स्पष्ट है कि उसे यह लागत लगानी ही होगी।

ज्यों-ज्यों उत्पादन बढ़ता जायगा यह लागत उत्पादन की अधिकाधिक इकाइयों पर विभाजित होती जायगी और इस प्रकार औसत लागत कम होने लगेगी। उदाहरण के लिये।

५० सेर आइसक्रीम १५००) + ५२५) *कुल लागत ४०॥) प्रति सेर
१००) ,, ,, ,, १५००) + ५४५) ,, ,, २०।≡) २ पा० ,, ,,

जबतक आइसक्रीम बनाने की मशीन का पूर्ण उपयोग नहीं हो जायगा औसत लागत घटती जायगी। ज्यों-ज्यों उत्पादन बढ़ता जायगा, मशीन का समुचित उपयोग होता जायगा और लागत कम होती जायगी।

प्रतिस्थापन का सिद्धान्त (The Principle of Substitution)

किसी वस्तु के उत्पादन की लागत के मुख्य मद उसमें प्रयुक्त कच्चा माल (जो पूँजी का ही परिवर्तित रूप है) तथा उत्पादन के साधनों पर किया हुआ व्यय है। जब उत्पादक लागत को न्यूनतम करना चाहता है तो वह उत्पादन का संगठन इस प्रकार करने का प्रयत्न करता है कि वह वस्तु को कम से कम लागत पर बना सके। इसके लिए उत्पादक एक प्रकार के कच्चे माल के स्थान पर दूसरे प्रकार के कच्चे माल का प्रयोग करेगा यदि उसके प्रयोग से वस्तु के गुणों पर कोई प्रभाव पड़े बिना ही लागत कम हो जाती है। वह एक प्रकार की मशीन के स्थान पर दूसरे प्रकार की मशीन अथवा एक उत्पादन के साधन के स्थान पर दूसरे उत्पादन के साधन का प्रयोग करना चाहेगा, यदि उससे लागत कम होती है। इस प्रकार की क्रियायें प्रतिस्थापन हैं। इनमें लागत कम करने के उद्देश्य से एक वस्तु अथवा साधन के स्थान पर दूसरी वस्तु अथवा साधन का उपयोग किया जाता है।

उपर्युक्त प्रतिस्थापन की क्रियाओं में उत्पादन के साधनों का पारस्परिक प्रतिस्थापन सब से महत्त्वपूर्ण है। इसका कारण यह है कि अन्य प्रकार के प्रतिस्थापन साधा-

***कच्चे माल तथा मशीन चलाने के लिये नियुक्त कर्मचारियों आदि पर खर्च की हुई लागत।**

रण और सरल हैं जबकि उत्पादन के साधनों का प्रतिस्थापन उतना सरल नहीं है। उत्पादन के साधनों के प्रतिस्थापन में उत्पादन के साधनों की सीमान्त उत्पादकता तथा उनके मूल्य को ध्यान में रखना पड़ता है। **प्रतिस्थापन सिद्धान्त के अनुसार उत्पादन के साधनों का प्रतिस्थापन एक उत्पादन के साधन की सीमान्त उत्पादकता तथा मूल्य के अनुपात के दूसरे साधन की सीमान्त उत्पादकता तथा मूल्य के अनुपात के बराबर होने तक किया जायगा।**

प्रतिस्थापन सिद्धान्त तभी लागू हो सकता है जबकि उत्पादन की दशा ऐसी हो कि प्रतिस्थापन सम्भव हो सके। कभी कभी उत्पादन के साधनों का प्रतिस्थापन सम्भव नहीं होता क्योंकि साधन एक निश्चित अनुपात में प्रयुक्त होते हैं। उदाहरण के लिये टाइपराइटर तथा एक टाइपिस्ट का अनुपात बदला नहीं जा सकता। हम एक टाइप-राइटर के स्थान पर टाइपिस्ट का प्रतिस्थापन नहीं कर सकते और न टाइपिस्ट के स्थान पर टाइपराइटर का प्रतिस्थापन कर सकते हैं। ऐसी दशा में प्रतिस्थापन का प्रश्न ही नहीं उठेगा। यहाँ उत्पादन के प्राविधिक गुणक (Technical Coefficient of Production) अपरिवर्ती हैं। प्राविधिक गुणक से हमारा तात्पर्य प्रविधि (techni que)की एक इकाई के सहयोग में प्रयुक्त अन्य साधन की इकाइयों की संख्या से है। ऊपर के उदाहरण में एक टाइपराइटर के साथ (जो कि एक प्रविधि है) केवल एक टाइपिस्ट (जो कि उत्पादन का दूसरा साधन है) का ही सहयोग हो सककर है। अतः यहाँ प्राविधिक गुणक एक है और यह गुणक बदला नहीं जा सकता।

प्रतिस्थापन तभी संभव हो सकता है जब कि प्राविधिक गुणक परिर्वीत हो अर्थात् प्रविधि (technique) के सहयोग में प्रयुक्त अन्य साधन की इकाइयाँ बदली जा सकें। इस दशा में प्रतिस्थापन सम्भव है। अतः हम कह सकते हैं कि प्रतिस्था-पन नियम के लागू होने के लिये यह आवश्यक है कि उत्पादन के प्राविधिक गुणक परिवर्ती हों।

प्रतिस्थापन के लिये दूसरी आवश्यक बात यह है कि उसे सम्भव करने के लिये दीर्घकाल मिलना चाहिये। अल्पकाल में उत्पादन के विभिन्न साधनों की पूर्ति आदि स्थिर होती है और इसलिये एक के स्थान पर दूसरे का प्रयोग सरलता से नहीं किया जा सकता। दीर्घकाल में उत्पादन के एक साधन के स्थान पर उत्पादन के दूसरे साधन की इकाइयों का हम अपनी इच्छानुसार प्रतिस्थापन कर सकते हैं क्योंकि दीर्घकाल में उत्पादन के साधनों की पूर्ति बदली जा सकती है और इसलिये एक के स्थान पर दूसरे का प्रतिस्थापन बड़ी सरलता से किया जा सकता है।

अब हम कह सकते हैं कि प्रतिस्थापन सिद्धान्त के लागू होने के लिये यह आव-श्यक है :

(१) कि उत्पादन के प्राविधिक गुणक परिवर्ती हों तथा

(२) प्रतिस्थापन के लिये दीर्घकाल उपलब्ध हो।

उत्पादन में साधारणतया श्रम और पूँजी के बीच प्रतिस्थापन किया जाता है। हम भी इस सिद्धान्त को समझाने के लिये श्रम और पूँजी को लेकर चलेंगे यद्यपि प्रतिस्थापन उत्पादन के सभी साधनों के बीच संभव है।

उत्पादन की एक नियत मात्रा श्रम और पूँजी के विभिन्न अनुपातों में सहयोग देने से सम्भव हो सकती है। (यह इसलिये सम्भव है क्योंकि प्राविधिक गुणक परिवर्ती है।) उदाहरण के लिये उत्पादन की नियत मात्रा, मान लीजिये वह १०० इकाई है, श्रम और पूँजी के निम्न अनुपातों से सम्भव है।

श्रम की इकाइयाँ		पूँजी की इकाइयाँ	उत्पादन की इकाइयाँ
१४	+	७	१००
१५	+	५	१००
१८	+	३	१००

उत्पादन की मात्रा समान (१०० इकाई) रहने के कारण जब हम श्रम की मात्रा बढ़ाते हैं तो पूँजी की मात्रा कम करनी पड़ती है तथा जब श्रम की मात्रा कम की जाती है तो पूँजी की मात्रा बढ़ानी पड़ती है। मान लीजिये श्रम और पूँजी की क्रमागत सीमान्त उपयोगिता इस प्रकार है :—

श्रम की इकाइयाँ	श्रम की सीमान्त उत्पादकता (रुपयों में)	पूँजी की इकाइयाँ	पूँजी की सीमान्त उत्पादकता (रुपयों में)
१३	३७	२	२९
१४	३४	३	२७
१५	३०	४	२४
१६	२४	५	२०
१७	१५	६	१५
१८	५	७	९

यहाँ उत्पादक को यह निर्णय करना पड़ेगा कि वह श्रम और पूँजी का किस अनुपात में प्रयोग करे ताकि उसकी लागत न्यूनतम हो। यदि बाजार में श्रम और पूँजी का प्रति इकाई मूल्य क्रमशः ३०) और २०) हो तो उत्पादक को श्रम और पूँजी की उतनी इकाइयाँ रखनी चाहिए ताकि दोनों साधनों की सीमान्त उत्पादकता क्रमशः ३०) और २०) हो। यदि किसी कारण वश उत्पादक दोनों साधनों का प्रयोग उपर्युक्त रीति से नहीं कर रहा है तो उसे प्रतिस्थापन करके उपर्युक्त अनुपात को प्राप्त करना होगा। यदि उत्पादक ने श्रम की इतनी अधिक इकाइयों को ले लिया हो कि श्रम की सीमान्त उत्पादकता उसकी मजदूरी से कम हो, और पूँजी की इतनी कम इकाइयों का प्रयोग कर रहा हो कि पूँजी की सीमान्त उत्पादकता उसके मूल्य से अधिक हो तो उसे पूँजी का श्रम के स्थान पर प्रतिस्थापन करना होगा अर्थात् वह श्रम की इकाइयों को इस क्रम से कम करेगा ताकि उनकी सीमान्त उत्पादकता और

मजदूरी बराबर हो जाय तथा इन निकाले हुए श्रमिकों के स्थान पर पूँजी की इतनी इकाइयाँ और लेगा ताकि पूँजी की सीमान्त उत्पादकता उसके मूल्य के बराबर हो जाय। जब श्रम और पूँजी का प्रयोग इस प्रकार से किया जायेगा तो श्रम की सीमान्त उत्पादकता और उसके मूल्य का अनुपात पूँजी की सीमान्त उत्पादकता तथा उसके मूल्य के अनुपात के बराबर हो जायेगा। उदाहरण के लिये, यदि उत्पादक १०० इकाइयों के उत्पादन के लिये श्रम और पूँजी की क्रमशः १८ और ३ इकाइयों का प्रयोग करता है तो श्रम की सीमान्त उत्पादकता ५ रुपया है तथा उसका मूल्य ३० रुपया और पूंजी की सीमान्त उत्पादकता .२७ रुपया है तथा उसका मूल्य २० रुपया है। श्रम और पूँजी की सीमान्त उत्पादकताओं की ऊपर दी हुई सारणियों के अनुसार पन्द्रहवें मजदूर तथा पूँजी की पाँचवीं इकाई की सीमान्त उत्पादकता क्रमशः उनके मूल्यों के बराबर है। उत्पादक श्रम की तीन इकाइयाँ (सोलहवीं, सत्रहवीं, अठारहवीं) निकाल देगा क्योंकि उनसे प्राप्त सीमान्त उत्पादकता श्रम की मजदूरी से कम है। इसके बदले में वह पूँजी की दो इकाइयों का (चौथी और पाँचवीं) प्रतिस्थापन करेगा क्योंकि पाँचवीं इकाई की सीमान्त उत्पादकता उसके मूल्य के बराबर है। अतः १०० इकाइयों के उत्पादन के लिये जब श्रम और पूँजी की क्रमशः १५ और ५ इकाइयों का उपयोग किया जाता है तब,

$$\frac{३०}{३०} = \frac{\text{श्रम की सीमान्त उत्पादकता}}{\text{श्रम का मूल्य}} = \frac{२०}{२०} = \frac{\text{पूँजी की सीमान्त उत्पादकता}}{\text{पूँजी का मूल्य}}$$

इन अनुपातों को हम इस तरह से भी लिख सकते हैं :—

$$\frac{\text{श्रम की सीमान्त उत्पादकता}}{\text{पूँजी की सीमान्त उत्पादकता}} = \frac{\text{श्रम का मूल्य}}{\text{पूँजी का मूल्य}}$$

{दोनों ओर श्रम के मूल्य से गुणा करने तथा पूँजी की सीमान्त उत्पादकता से भाग देने पर

दूसरे शब्दों में, यह कहा जा सकता है कि श्रम और पूँजी का प्रतिस्थापन उस समय तक होगा जब तक कि श्रम और पूँजी की सीमान्त उत्पादकताओं का अनुपात उनके मूल्यों के अनुपात के बराबर नहीं हो जाता। ऐसा करने पर ही उसकी लागत न्यूनतम होगी। संख्यात्मक उदाहरण में दिये गये तीनों अनुपातों पर उत्पादन की लागत देखिये।

	श्रम की इकाइयाँ + पूँजी की इकाइयाँ	लागत
१०० इकाई उत्पादन के लिये	(i) १४ + ७	= (१४ × ३०)रु० + (७ × २०)रु० = ४२०रु० + १४०रु० = ५६० रु०
	(ii) १५ + ५	= (१५ × ३०)रु० + (५ × २०)रु० = ४५० + १००रु० = ५५०रु०
	(iii) १८ + ३	= (१८ × ३०)रु० + (३ × २०) रु० = ५४०रु० + ६०रु० = ६००रु०

इस प्रकार हम देखते हैं कि (ii) अनुपात पर ही उत्पादन लागत न्यूनतम है।

जिस समय उत्पादन उपर्युक्त रीति से किया जाता है उस समय उत्पादक संस्थिति (Equilibrium) में होता है क्योंकि साधनों की सीमान्त उत्पादकताओं तथा मूल्यों के अनुपात की समानता के बाद साधनों की प्रयुक्त मात्रा में कोई परिवर्तन नहीं किया जाता। यहाँ एक बात बता देना उपयुक्त होगा। सीमान्त उत्पादकता के परिवर्तन द्वारा ही उत्पादक संस्थिति को पहुँचता है क्योंकि साधनों का मूल्य परिवर्तन उत्पादक के हाथ की बात नहीं है। साधनों की मात्रा में ही हेर-फेर करके उत्पादक सीमान्त उत्पादकताओं के अनुपात को मूल्यों के अनुपात के बराबर कर लेता है। स्पर्धामय बाजार में साधनों के मूल्य को एक उत्पादक के प्रयत्न प्रभावित नहीं कर सकते। जो उदाहरण ऊपर दिये गये हैं उनसे भी यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उत्पादक को संस्थिति सीमान्त उत्पादकताओं के परिवर्तन द्वारा ही मिलती है।

इस सिद्धांत का हम रेखाचित्र द्वारा भी निरूपण कर सकते हैं।
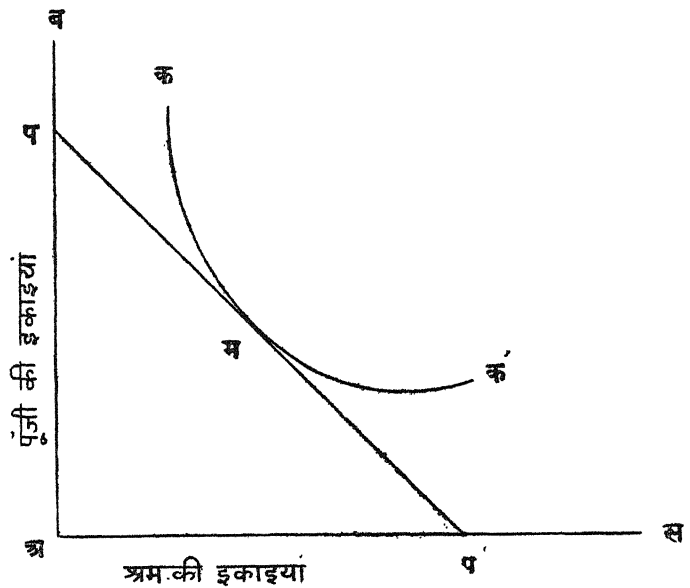
उपर्युक्त चित्र में क क' एक ऐसी वक्र रेखा है जो श्रम और पूँजी के विभिन्न अनुपातों पर एक ही मात्रा का उत्पादन दिखातो है। प प' मूल्य रेखा है जो साधनों के मूल्यों का अनुपात दिखाती है। जहाँ यह रेखा क क' वक्र रेखा को स्पर्श करती है वही

संस्थिति बिन्दु है । म बिन्दु पर दोनों साधनों की सीमान्त उत्पादकताओं तथा मूल्यों का अनुपात बराबर है[1] अर्थात्

$$\frac{\text{श्रम की सीमान्त उत्पादकता}}{\text{पूँजी की उत्पादकता}} = \frac{\text{श्रम का मूल्य}}{\text{पूँजी का मूल्य}}$$

EXERCISES

1. Define "Optimum production". Under what conditions can we have optimum productien in any given factory ?

Allad. U. 1952

2. Explain and illustrate the operation of the law of substitution in production. Allad. U. 1949

3. Define 'optimum production'. Under what conditions can we have optimum out put in a unit of production ?

Allad. U. B. A Part I 1957

---

१. रेखाचित्र में संस्थिति बिन्दु को सिद्ध करने के लिये उच्च गणित का आश्रय लेना पड़ता है । साधारणतया विद्यार्थियों के लिये वह क्लिष्ट होता है इसलिये उसका समावेश यहाँ नहीं किया गया है ।

अध्याय १९

युक्तीकरण

(RATIONALISATION)

पिछले अध्याय में लागत कम करने के लिये साधनों के पारस्परिक प्रतिस्थापन का अध्ययन हम कर चुके हैं। व्यवहार में लागत कम करने के लिये कुछ अन्य उपाय भी अपनाये जाते हैं। व्यवहारिक दृष्टिकोण से प्रत्येक उत्पादक यही चाहता है कि वह दी हुई वस्तु को कम लागत पर बना सके अथवा उसी वस्तु को पहले की अपेक्षा कम समय में बना सके या उतने ही समय में उतनी ही लागत पर उससे अच्छी वस्तु बना सके। संक्षेप में, प्रत्येक उत्पादक लागत में कमी तथा कार्य-क्षमता (efficiency) में वृद्धि चाहता है। वे सभी उपाय जो इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये अपनाये जाते हैं युक्तीकरण के अन्तर्गत है। कुछ लोग युक्तीकरण को 'उद्योग में तर्क का समावेश' (putting reason into industry) कह कर परिभाषित करते हैं। एक संक्षिप्त परिभाषा के रूप में यह उत्तम है किन्तु विचार करने पर इससे ऐसी ध्वनि आती प्रतीत होती है मानों उद्योग का संगठन पहले तर्कहीन था और युक्तीकरण द्वारा ही उसमें तर्क का समावेश हो रहा हो। इस प्रकार एक अवाञ्छनीय अर्थ ध्वनित होता है क्योंकि युक्तीकरण के पूर्व हम किसी भी उद्योग के संगठन को तर्कहीन नहीं कह सकते। प्रत्येक उद्योगपति परिस्थितियों के अनुसार उद्योग का संगठन तर्कपूर्ण ढंग से ही करता है। इसी कारण हमने युक्तीकरण की इस परिभाषा को नहीं अपनाया है।

पूँजीवादी व्यवस्था में बहुधा उत्पादन की अधिकता (excess of production) तथा अन्य अपव्यय होते रहते हैं जो उत्पादकों के हित के विरुद्ध होते हैं। पूँजीवादी व्यवस्था के इन दोषों के निराकरण के लिये भी युक्तीकरण अपनाया जाता है। **यह याद रखना चाहिये कि उत्पादक अपने हित के लिये ही युक्तीकरण की योजना अपनाते हैं।** यदि श्रमिकों को उससे कोई लाभ होता है तो यह आकस्मिक बात है।

साधारणतया युक्तीकरण के लिये जो उपाय अपनाये जाते हैं, उन्हें हम निम्न भागों में विभाजित कर सकते हैं।

१. यंत्रीकरण (Mechanisation)

इस प्रकार के युक्तीकरण में श्रमिकों के स्थान पर यंत्रों का अधिकाधिक प्रयोग किया जाता है। उदाहरणार्थ, यदि पहले चालीस श्रमिक तथा दो मशीनों के सहयोग

से उत्पादन होता था तो यंत्रीकरण के पश्चात् केवल पाँच श्रमिक तथा सात मशीनों के सहयोग से उत्पादन होगा। जहाँ श्रमिकों का अभाव हो वहाँ इस प्रकार के उपाय बहुत ही लाभप्रद होते हैं क्योंकि यंत्रों की सहायता से उत्पादन में वृद्धि भी होगी तथा श्रमिकों का अभाव होने के कारण बेकारी फैलने का भय भी नहीं रहेगा। इसके अतिरिक्त यंत्रों की सहायता से अनेक कठिन काम बड़ी सरलता से हो जाते हैं जिनके लिए मनुष्य को अथक परिश्रम करना पड़ता। वस्तुयें भी एक रूप और बड़ी मात्रा में बनाई जा सकती हैं। जहाँ यंत्रीकरण लागत कम करने के अतिरिक्त उपर्युक्त लाभों से युक्त है वहाँ उसमें कुछ दोष भी हैं।

यदि किसी देश में श्रमिक पर्याप्त संख्या में उपलब्ध हों तो यंत्रीकरण से बेकारी फैलने का भय रहता है। यद्यपि यंत्रीकरण से अस्थाई बेकारी तो उस देश में भी होगी जहाँ श्रमिकों का अभाव है क्योंकि जिन श्रमिकों के स्थान पर मशीन का प्रयोग होगा वे कुछ समय के लिए अवश्य बेकार हो जायेंगे। परन्तु अन्य देशों में यह बेकारी एक स्थायी रूप भी धारण कर सकती है। इसी कारण से मजदूर-संघ के नेता यंत्रीकरण का विरोध करते हैं। यंत्रीकरण के समर्थकों का कहना है कि बेकारी अधिक समय के लिए नहीं रह सकती क्योंकि जो श्रमिक निकाले जायेंगे उन्हें यंत्रों के व्यवसाय में जगह मिल जायगी। यंत्रों के अधिकाधिक प्रयोग के कारण यंत्रों के व्यवसाय में श्रमिकों की माँग बढ़ जायगी और यंत्रीकरण द्वारा निकाले श्रमिकों को वहाँ जगह मिल जायगी। यह सम्भव तो हो सकता है परन्तु आवश्यक नहीं है। यंत्रों के व्यवसाय का काम ऐसा हो सकता है जिसे करने के लिए निकाले हुए श्रमिक उपयुक्त न हों। ऐसी हालत में श्रमिक उस समय तक बेकार रहेंगे जब तक कि वे यंत्रों के व्यवसाय में काम करने योग्य न हो जायँ। इसके अतिरिक्त निकाले हुए श्रमिक यंत्रों के व्यवसाय में तभी खपाये जा सकते हैं जब कि यंत्रों के व्यवसाय भी उसी देश में हों। यदि एक देश में यंत्र विदेश से मँगाकर यंत्रीकरण किया जाय, तब श्रमिकों के यंत्रों के व्यवसाय में खपने की सम्भावना ही नहीं रहेगी। युक्तीकरण के समर्थकों का कहना है कि इससे लागत कम हो जायगी। लागत कम होने से वस्तुओं का मूल्य गिर जायगा और मूल्य गिरने से माँग बढ़ जायगी। बढ़ी हुई माँग की पूर्ति के लिये अधिक श्रमिकों की आवश्यकता होगी और इस प्रकार कालान्तर में वे पुनः काम से लग जायेंगे। इस तर्क को इसी रूप में सरलता से स्वीकार नहीं किया जा सकता। प्रथम युक्तीकरण से लागत कम होने से मूल्य में स्वभावतः कमी नहीं आ जायगी। यह उत्पादकों की मूल्य-नीति पर निर्भर होगा। वे कम लागत का फायदा स्वयं उठाने के लिये मूल्यों को ज्यों का त्यों भी रहने दे सकते हैं। ऐसी स्थिति में मूल्य की कमी के फलस्वरूप माँग की वृद्धि का प्रश्न ही नहीं उठेगा और इस प्रकार श्रमिकों के पुनः काम पर लाने की बात निरर्थक हो जायगी। द्वितीय,

यदि मूल्य में कमी की भी जाय, तो इससे माँग में इतनी वृद्धि का होना आवश्यक नहीं है कि युक्तीकरण के फलस्वरूप निकाले हुये सभी श्रमिकों को पुनः स्थान मिल जाय। यह माँग की लोच तथा मूल्य की कमी के अनुपात पर निर्भर करेगा। यदि उद्योग की वस्तु की माँग अधिक लोचदार है, तो माँग की वृद्धि अधिक होगी। ऐसी स्थिति में यदि मूल्य में पर्याप्त कमी की जाती है (यथा २५%-३०%) तो माँग काफी बढ़ सकती है और सभी श्रमिकों को काम फिर से मिल सकता है। परन्तु माँग के लोचदार होने पर भी यदि मूल्य में थोड़ी ही कमी की जाती है तो निकाले हुये सभी श्रमिकों को पुनः काम मिलना आवश्यक नहीं है। अतएव युक्तीकरण के समर्थकों के उपर्युक्त कथन को इन बातों को ध्यान में रखकर समझना चाहिये। ऐसा करने पर सैद्धान्तिक दृष्टि से तो युक्तीकरण के फलस्वरूप बेकारी बढ़ने की सम्भावना की पुष्टि ही होती है।

कभी कभी कहा जाता है कि यंत्रीकरण से श्रमिकों की सीमान्त उत्पादकता बढ़ जायगी और इसलिये उनकी मजदूरी भी बढ़ जायगी। (यहाँ यह मान लिया गया है कि श्रमिक की मजदूरी उसकी सीमान्त उत्पादकता के बराबर होती है) उदाहरण के लिए, यदि यंत्रों के अभाव में दस मजदूर काम करते हों और उनकी सीमान्त उत्पादकता ३०) हो तो प्रत्येक मजदूर को ३०) मिलेंगे। मान लीलिये, यंत्रीकरण के पश्चात् केवल तीन ही श्रमिक काम करते हैं और उनकी सीमान्त उत्पादकता ६०) है। इस दशा में मजदूरी ६०) हो जायगी जो पहले की अपेक्षा दूनी है। यह ठीक है कि मजदूरी बढ़ गई है परन्तु यदि श्रमिक वर्ग को ध्यान में रखा जाय तो मालूम होगा कि उन्हें इससे हानि ही हुई है। पहले दस मजदूर काम करते थे इसलिए कुल मिलाकर उन्हें ३००) मिलते थे। अब केवल तीन ही मजदूर काम करते हैं और उनकी कुल मजदूरी १८०) है। अतः मजदूरी बढ़ने से श्रमिक-वर्ग को कोई लाभ नहीं होता।

२. प्रतिस्पर्धा के दोषों से बचने के उपाय (Measures to Avoid the Evils of Competition)

हम प्रारम्भ में कह चुके हैं कि पूँजीवादी व्यवस्था में उत्पादकों में परस्पर प्रतिस्पर्धा रहती है। प्रत्येक उत्पादक अपनी वस्तु की माँग का आन्दाज स्वयं लगाता है और यही सोचता है कि वह उसे बेच लेगा। इस प्रकार के अनुमानों का परिणाम यह होता है कि आवश्यकता से अधिक उत्पादन हो जाता है। अत्यधिक उत्पादन होने से वस्तुओं के मूल्य गिरने लगते हैं तथा उत्पादकों को हानि होने लगती है। अतः प्रतिस्पर्धा के इस दोष—अत्यधिक उत्पादन—से बचने के लिये उत्पादक बहुधा उत्पादन की मात्रा पर नियंत्रण करने का प्रयत्न करते हैं। साधारणतया इसके लिये तीन उपाय अपनाये जाते हैं।

(१) अत्यधिक उत्पादन का एक कारण यह भी होता है कि किसी भी उन्नतिशील व्यवसाय में आवश्यकता से अधिक उत्पादक प्रविष्ट हो जाते हैं जिससे उत्पादन में अत्यधिक वृद्धि हो जाती है क्योंकि प्रत्येक उत्पादक अपने अनुमानों के अनुसार ही उत्पादन करता है और उसके उत्पादन की मात्रा पर कोई रोक-टोक नहीं होती। अतः अत्यधिक उत्पादन की हानियों से बचने के लिए बहुधा किसी व्यवसाय में नयें उत्पादकों के आने पर रोक लगा दी जाती है। ऐसा करने के लिए एक केन्द्रीय संस्था की स्थापना की जाती है जिसे व्यवसाय में आनेवालों पर रोक लगाने का अधिकार प्राप्त होता है। इस संस्था का कार्य बहुत ही महत्वपूर्ण होता है। यदि वह अपने कर्तव्य का पालन ईमानदारी और बुद्धिमानी से न करे तो लाभ के स्थान पर हानि की अधिक सम्भावना हो सकती है।

(२) उत्पादन की मात्रा पर नियंत्रण करने के लिये दूसरा उपाय यह है कि

(अ) कुछ फैक्ट्रियों को बन्द कर दिया जाय, या.

(ब) फैक्ट्रियों के कुछ भागों को बन्द कर दिया जाय या

(स) सब फैक्ट्रियों को कम घन्टों के लिये चलाया जाय।

इन तीनों उपायों में से किसे अपनाया जाय यह बात व्यवसाय की प्रकृति पर निर्भर होती है। उदाहरण के लिये, कपड़े के कारखानों में फैक्ट्रियों के कुछ भागों को बन्द करना सम्भव है क्योंकि वहाँ करघों पर काम होता है और कुछ करघों पर काम बन्द करके भी कारखाना चलता रह सकता है। इसके विपरीत लोहे और इस्पात के व्यवसाय में फैक्ट्री के कुछ भाग को बन्द करना सम्भव नहीं है। इन उपायों को अपनाते समय श्रमिकों का भी ध्यान रखना पड़ता है। यदि कुछ फैक्ट्रियों को एकदम बन्द कर दिया जाय, तो सम्भव है कि सारे मजदूर उन फैक्ट्रियों से निकाले हुए मजदूरों की सहानुभूति में हड़ताल कर दें और इस प्रकार सारे व्यवसाय को क्षति पहुँचे। अतः इनमें से किसी उपाय को चुनने में बहुत सावधानी बरतनी पड़ती है।

(३) अत्यधिक उत्पादन से बचने के लिये तीसरा उपाय यह है कि व्यवसाय की विभिन्न फर्में एक में मिल जायँ (combine or amalgamation)। एकीकरण होने के बाद उत्पादन पर नियंत्रण अधिक सरल हो जाता है। जर्मनी की प्रसिद्ध लोहे और इस्पात की फर्म क्रप और डिमाग (Krup & Demag) ऐसे ही एकीकरण का परिणाम है। भारत में सीमेन्ट के व्यवसाय में भी ऐसा ही एकीकरण हुआ जब सन् १९३७ में सीमेन्ट की कई कम्पनियों को मिलाकर एसोसियेटेड सीमेन्ट कम्पनी आफ इण्डिया लि० (Associated Cement Company of India Ltd.) बनाई गई।

३. वैज्ञानिक प्रबन्ध (Scientific Management)

लागत कम करने तथा कार्य-क्षमता की वृद्धि के लिये उत्पादन के आन्तरिक प्रबन्ध को वैज्ञानिक ढंग से संगठित करना पड़ता है। वैज्ञानिक प्रबन्ध से हमारा तात्पर्य उचित व्यक्ति को उचित कार्य पर लगाने से है। ऐसा करने से श्रमिकों की कार्य-क्षमता बढ़ जायगी और लागत कम हो जायगी। परन्तु ऐसा करना सरल कार्य नहीं है। इसके लिये श्रमिकों को नयी मशीनों पर काम करने की शिक्षा देनी होगी और उनकी ट्रेनिंग पर खर्च करना पड़ेगा। यदि दीर्घ-कालीन दृष्टिकोण से देखा जाय तो ऐसा करने से अन्त में लाभ ही होगा।

एच. एस. पर्सन के अनुसार वैज्ञानिक प्रबंध से अभिप्राय उद्देश्यपूर्ण सामूहिक प्रयास तथा संगठन के उस रूप से है जो परिपाटी से चली आई नीति के बजाय वैज्ञानिक खोज एवम् विश्लेषण से प्राप्त नियमों पर आधारित होता है। वैज्ञानिक प्रबंध युक्तीकरण का एक रूप मात्र है। यदि युक्तीकरण से हमारा अभिप्राय केवल यंत्रीकरण तथा प्रतिस्पर्धा से बचने के उपायों से ही हो तो वैज्ञानिक प्रबंध और युक्तीकरण में अंतर किया जा सकता हैं। वैज्ञानिक प्रबंध आंतरिक संगठन के संबंध में सामूहिक प्रयास से सम्बंधित होता है जब कि युक्तीकरण यंत्रीकरण या किसी ऐसे उपाय के भार से संबंधित होता है। अगले परिच्छेद से वैज्ञानिक प्रबंध की व्यापकता का पता चल जायगा।

संक्षेप में वैज्ञानिक प्रबन्ध के अन्तर्गत (i) प्रयोग; (ii) श्रमिकों का वैज्ञानिक चुनाव और प्रशिक्षण; (iii) कार्यों को वैज्ञानिक ढंग से सौंपना; (iv) सामग्री का वैज्ञानिक चुनाव और प्रयोग; (v) मानसिक क्रान्ति आदि आते हैं। उत्पादक वैज्ञानिक प्रबन्ध के अन्तर्गत कारखाने की दशा, श्रमिकों की कुशलता, साज-सम्भार आदि के सम्बन्ध में बराबर प्रयोग करते रहते हैं। उदाहरण के लिये, किसी कार्य को करने में कितना समय लगता है, कार्य करने की गति क्या है, थकान कितनी होती है आदि बातों का अध्ययन करना पड़ता है। इन्हें अंग्रेजी में क्रमशः Time Study, Motion Study और Fatigue Study कहते हैं। इन अध्ययनों के आधार पर श्रमिकों की कार्य-प्रणालियों में सुधार किया जाता है, उन्हें बीच में विश्राम करने के अवसर दिये जाते हैं ताकि वे खोई हुई शक्ति को पुनः प्राप्त करके, अधिक उत्साह से काम प्रारम्भ कर सकें।

यदि श्रमिक अशक्त और दुर्बल हैं तो हम कितने ही प्रयोग क्यों न करें, परिणाम में सफलता नहीं होगी क्योंकि वे सामर्थ्यहीन हैं। इसी प्रकार यदि कार्यों को वैज्ञानिक ढंग से न सौंपा जाय तो भी कुशलता में वृद्धि न होगी। यदि हम एक योग्य निरीक्षक को लिपिक का काम सौंप दें, तो यह उसकी क्षमता का दुरुपयोग होगा जिससे लागत बढ़ जायगी क्योंकि हम उसे दिये जाने वाले वेतन के अनुरूप सेवायें प्राप्त नहीं कर रहे हैं। इसी प्रकार कच्चे माल का चुनाव भी महत्वपूर्ण है। अच्छी

सामग्री से उत्पत्ति अच्छी होगी। सबसे अधिक आवश्यकता तो उस बात की है कि श्रमिक अपने उत्तरदायित्व को समझें और तदनुसार काम करें। यह बिना मानसिक क्रान्ति के सम्भव नहीं हो सकता।

मजदूर-संघ इस प्रकार के वैज्ञानिक प्रबन्ध का भी विरोध करते हैं। उनको भय होता है कि वैज्ञानिक प्रबन्ध के नाम पर मजदूरों से आवश्यकता से अधिक काम कराया जाता है। एक बार ट्रेनिंग के लिये जब मजदूर काम प्रारम्भ कर देते हैं तो उत्पादक अतिरिक्त (surplus) के लालच में उनसे अधिक से अधिक काम लेने की चेष्टा करते हैं। इस तर्क में सचाई हो सकती है परन्तु यह वैज्ञानिक प्रबन्ध का दोष नहीं है वरन् इसका उचित प्रयोग न करनेका दोष है। श्रमिकोंके विरोध का दूसरा कारण यह है कि वे एक कार्य विशेष के लिये ही उपयुक्त रह जाते हैं जिससे अन्यत्र काम मिलने की सम्भावना बहुत कम हो जाती है। इस प्रकार वैज्ञानिक प्रबन्ध की आड़ में वे नियोक्ता की दया पर आश्रित हो जाते हैं।

आश्चर्य तो इस बात का है कि नियोक्ता भी वैज्ञानिक प्रबन्ध का विरोध करते हैं। उनके विरोध का प्रमुख कारण वैज्ञानिक प्रबन्ध के लिये अपेक्षित व्यय है। किन्तु इस आधार पर विरोध करना अदूरदर्शिता का परिचायक है क्योंकि व्ययशील होते हुये भी एक योजना लाभदायक सिद्ध हो सकती है, यदि उससे उत्पादन लागत में पर्याप्त कमी होती है। नियोक्ताओं के विरोध का दूसरा कारण यह है कि मन्दी के समय में वैज्ञानिक प्रबन्ध के भारी-भरकम साज-सम्भार को बनाये रखना बड़ा कठिन हो जाता है। किन्तु हमें यह याद रखना चाहिये कि वैज्ञानिक प्रबन्ध से इतनी बचत हो सकती है कि मन्दी के समय में भी वैज्ञानिक प्रबन्ध वाली फर्म अन्य फर्मों की तुलना में श्रेष्ठ रहे।

युक्तीकरण की आवश्यकता तथा उसके लाभ और हानि

अबतक हम युक्तीकरण के विभिन्न रूपों की चर्चा करते आये हैं। हम यह भी देख चुके हैं कि युक्तीकरण का विरोध मुख्यत: इसीलिये किया जाता है क्योंकि इससे बेकारी फैलने का भय रहता है। क्या इस भय के फलस्वरूप युक्तीकरण को रोक दिया जाय? ऐसा करना भूल होगी।

वर्तमान समय में कोई भी देश एकाकी नहीं रह सकता। सभी देश अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भाग लेते हैं। उन्हें विदेशों से अपनी आवश्यकता की चीजें खरीदने के लिये विदेशों में अपनी चीजें बेचनी भी पड़ती हैं। यह भी निश्चित है कि किसी एक वस्तु के विक्रेता के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में अनेक देश भाग लेते हैं। अतएव वहाँ प्रतिस्पर्धा होती है। अधिक अच्छी और कम मूल्य वाली वस्तुओं का देश अधिक सफल होता है। अतएव ऐसी परिस्थितियों में यदि एक देश बेकारी के भय से पुराने यंत्रों की सहायता से उत्पादन में लगा रहे, तो अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में उसका स्थान लुप्त

हो जायगा। ऐसा होने पर अनेक समस्यायें उत्पन्न हो सकती हैं। यदि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भाग लेने वाले सभी उद्योग अन्तर्राष्ट्रीय बाजार से हट जायेंगे तो देश के आयात के भुगतान का क्या प्रबन्ध होगा ? देश का व्यापारिक सन्तुलन प्रतिकूल हो जायगा। एक समय ऐसा भी आ सकता है जब हम आयात करने में असमर्थ हो जायँ क्योंकि उन्हें चुकाने के लिये अपेक्षित विदेशी विनिमय का आर्जन करने में हम असमर्थ हैं। अतएव अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के दृष्टिकोण से यह आवश्यक है कि उद्योगों का युक्तीकरण किया जाय।

देश-विशेष के दृष्टिकोण से भी युक्तीकरण आवश्यक है। यदि उत्पादन कम लागत पर सम्भव है तो क्यों न उससे सम्पूर्ण समाज को लाभान्वित किया जाय ? लागत कम होने पर मूल्यों के कम होने से अधिक उपभोग सम्भव हो सकता है। इसके अतिरिक्त मूल्य कम न भी हो परन्तु वस्तु के गुण में सुधार हो, तो भी यह हितकर है। दोनों ही प्रकार से देश के उपभोग का स्तर ऊँचा उठता है। अतएव युक्तीकरण न केवल अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के दृष्टिकोण से वरन् देश के दृष्टिकोण से भी आवश्यक है।

हम श्रमिकों की बेकारी के प्रति उदासीन नहीं हैं। उपर्युक्त कथन का अर्थ केवल इतना है कि युक्तीकरण इस ढंग से होना चाहिये कि एकदम बेकारी न फैल जाय अर्थात् हमें क्रमशः बढ़ना चाहिये। दूसरे यथासम्भव श्रमिकों को रोजी दिलाने तथा जिसकी पुनः खपत की सम्भावना हो उन्हें यंत्रों के परिचालन आदि के सम्बन्ध में सवेतन प्रशिक्षण(ट्रेनिंग) देने की व्यवस्था करनी चाहिये। सैद्धान्तिक दृष्टि से हम इसी प्रकार बेकारी के भूत को दूर रख कर युक्तीकरण से लाभ उठा सकते हैं। इस रीति को अपनाना उद्योगपतियों की व्यवहार कुशलता तथा सरकार की नीति पर निर्भर होगा। कुछ अंशों में सरकार उन्हें ऐसी नीति अपनाने के लिये बाध्य कर सकती है।

युक्तीकरण की विधियों की चर्चा करते समय हमने यथास्थान उनके हानि और लाभ की भी चर्चा की है। यहाँ हम संक्षेप में उसे फिर से क्रमबद्ध रूप में रखते हैं:—

लाभ

(१) युक्तीकरण से कार्य-क्षमता में वृद्धि तथा लागत में कमी होती है। इससे अच्छी प्रकार की वस्तुयें प्राप्त हो सकती हैं, और वस्तुओं के मूल्य कम होने की संभावना रहती है। इस दृष्टिकोण से युक्तीकरण उपभोक्ताओं के प्रति भी लाभप्रद है।

(२) यंत्रीकरण के द्वारा मशीनों से संबंधित सभी लाभ जैसे बड़ी मात्रा में एक रूप उत्पादन, मितव्ययतायें आदि उपलब्ध हो जाती है।

(३) कार्य-क्षमता की वृद्धि एवम् लागत के कम होने के कारण देश के व्यवसाय विदेशी व्यवसायों का अधिक दृढ़ता से सामना कर सकते हैं।

(४) युक्तीकरण के लिये जब विभिन्न कम्पनियों का एकीकरण किया जाता है तो उत्पादकों का मूल्य के ऊपर अधिक अधिकार हो जाता है क्योंकि प्रतिस्पर्धा समाप्त सी हो जाती है। इसलिये उत्पादक अधिक मूल्य लेकर अधिक लाभ उठाने में समर्थ हो जाते हैं। उत्पादकों के प्रति यह लाभदायक है परन्तु उपभोक्ताओं के हितों के विरुद्ध है।

हानियाँ

(१) यंत्रीकरण से बहुधा बेकारी फैलती है।

(२) एकीकरण द्वारा उत्पादक अधिक मूल्य लेने में समर्थ हो जाते हैं। इससे उपभोक्ताओं को हानि होती है।

(३) बहुधा युक्तीकरण के नाम पर श्रमिकों का शोषण किया जाता है। इसी कारण से मजदूर-संघ युक्तीकरण का विरोध करते हैं।

उपर्युक्त हानि-लाभ की चर्चा से यह बात स्पष्ट हो गई होगी कि युक्तीकरण के दोष मुख्यतया उसके दुरुपयोग के कारण हैं। यदि युक्तीकरण का प्रयोग सही उद्देश्य—कार्य-क्षमता की वृद्धि और लागत की कमी—के लिये किया जाय तो उसकी वाञ्छनीयता (desirability) पर संदेह नहीं किया जा सकता।

EXERCISES

1. Write a short note on "Rationalisation of Industries".
Agra U. B. A. 1951

2. Write a short note on 'Scientific Management.'
Rajputana 1951

3. Write brief explanatory notes on any three of the following :—(a) Rationalisation. etc. Allad. U. 1952

4. What do you understand by 'Scientific management'? How does it differ from rationalisation?
Allad. U. B. A. Part 1 1957.

अध्याय २०

उद्योग का स्थान-निर्धारण तथा स्थानीयकरण

(THE LOCATION & LOCALISATION OF INDUSTRY)

किसी उद्योग का स्थान-निर्धारण मुख्यतया दो बातों पर निर्भर होता है।[1]

(१) वे सब कारण जो निश्चय करते हैं कि परिवहन लागत (transport cost) कहाँ न्यूनतम होगी तथा

(२) वे कारण जो उत्पादन-लागत को एक स्थान की अपेक्षा दूसरे स्थान पर न्यूनतर करते हैं। इन कारणों में उत्पादन के साधनों की सुलभता आदि शामिल हैं।

विषय को सरल रखने के लिये हम यह मानकर चलेंगे कि उत्पादन-लागत हर जगह समान है। बाद में हम इस अनुमान को हटा देंगे।

प्रत्येक वस्तु का कम से कम दो स्थानों से सम्बन्ध होता है। एक तो उपभोग का स्थान जहाँ वस्तु अपने अन्तिम रूप में प्रस्तुत होती है तथा दूसरा उस वस्तु के कच्चे-माल के उद्गम का स्थान। यदि कच्चेमाल को उपभोग के स्थान पर ले जाने में अधिक खर्च होता है और वहाँ से वस्तु को उसके अन्तिम रूप में उपभोग के स्थान पर ले जाने में कम खर्च होता है तो उत्पादन कच्चेमाल के स्थान पर किया जायगा क्योंकि परिवहन लागत तभी न्यूनतम होती है। यदि उपभोग के स्थान तक कच्चा माल ले जाने में कम खर्च होता है तो उत्पादन उपभोग के स्थान पर होगा। परिवहन लागत के दृष्टिकोण से उत्पादन उपर्युक्त दो स्थानों—उपभोग तथा कच्चेमाल के उद्गम का स्थान—में से वहीं किया जायगा जहाँ परिवहन लागत न्यूनतम हो।

उपभोग का स्थान अथवा वह स्थान जहाँ वस्तु खरीदी जाती है ——— अ ——— स ——— ब कच्चे माल के उद्गम का स्थान

उत्पादन अ पर किया जाय अथवा ब पर, यह कच्चेमाल की प्रकृति पर निर्भर रहता है। यदि कच्चामाल वस्तु के अंतिम रूप में पूरे वजन सहित प्रयुक्त होता है तो उत्पादन उपभोग के स्थान पर प्रारम्भ किया जायगा। इसका कारण स्पष्ट है।

---

[1] वेबर (Weber) द्वारा प्रस्तुत उद्योग के स्थान-निर्धारण के सिद्धांत के आधार पर। यहाँ एक देश के अन्दर उद्योग के स्थान-निर्धारण का एक सरल विवरण दिया गया है।

कच्चेमाल को उपभोग के स्थान तक ले जाने में जो खर्च करना पड़ता उससे अधिक खर्च तैयार वस्तु को उपभोग के स्थान पर ले जाने में होगा क्योंकि तैयार वस्तु में कच्चेमाल का भी पूरा वजन शामिल है । इस प्रकार के कच्चेमाल को 'शुद्ध पदार्थ' (Pure Materials) कहते हैं । इसके विपरीत यदि कच्चामाल ऐसा है कि तैयार वस्तु में उसका बहुत कम वजन लगता है तो उत्पादन कच्चेमाल के स्थान पर प्रारंभ होगा । इस दशा में तैयार वस्तु को उपभोग के स्थान तक ले जाने में कम खर्च होगा क्योंकि उसमें कच्चेमाल का बहुत कम वजन शामिल है। उदाहरण के लिये, कागज बनाने में प्रयुक्त बाँसों को लीजिये । कागज में बाँसों के वजन का कितना थोड़ा अंश होता है । कच्चेमाल के स्थान से कागज बनाकर उपभोग के स्थान पर भेजने में कहीं कम खर्च होगा । बाँसों को उपभोग के स्थान पर भेजने में कहीं अधिक खर्च होगा । इस प्रकार के कच्चेमाल को वजन घटने वाला पदार्थ (weight losing meterial) कहते हैं। निष्कर्ष यह है कि यदि कच्चामाल वजन घटने वाला है तो परिवहन लागत के दृष्टिकोण से उत्पादन ब अर्थात् कच्चेमाल के स्थान पर होगा, यदि कच्चामाल 'शुद्ध पदार्थ' है तो उत्पादन अ अर्थात् उपभोग के स्थान पर होगा । अभी तक हम उत्पादन-लागत को समान माने हुए हैं। अब हम इस अनुमान को हटा देंगे ।

परिवहन लागत के अतिरिक्त वस्तु में उत्पादन-लागत (cost of production) भी होती है। श्रम, पूँजी आदि उत्पादन के साधन जहाँ अधिक सस्ते मिलते हैं, बहुधा उत्पादक उद्योग के लिये वही स्थान चुनते हैं क्योंकि उत्पादक वस्तु की प्रत्येक इकाई की लागत (इसमें परिवहन लागत भी शामिल हैं) न्यूनतम करना चाहते हैं। यदि उत्पादन-लागत अर्थात् श्रम, पूँजी आदि पर लगाई हुई लागत हर जगह समान नहीं है तो उत्पादक उद्योग के लिये सम्भवतया 'स' स्थान चुनेंगे क्योंकि इस स्थान पर श्रम, पूँजी आदि अधिक सस्ते हैं और इसलिये उसकी प्रति इकाई औसत लागत यहीं न्यूनतम होगी ।

संक्षेप में, स्थान-निर्धारण पर प्रभाव डालने वाली इन दोनों बातों को ध्यान में रखकर उत्पादक उद्योग ऐसे स्थान पर प्रारम्भ करेगा जहाँ उसकी प्रति इकाई लागत न्यूनतम हो। इस सिद्धान्त से यह न समझ लेना चाहिये कि व्यवहार में उद्योग के स्थान सदैव इसी के आधार पर निर्धारित होते हैं। व्यवहार में श्रम और पूँजी कहाँ अधिक सस्ती मिलेंगी आदि बातों का सही-सही ज्ञान उत्पादकों को नहीं होता । इसके अतिरिक्त मनोवैज्ञानिक कारण भी प्रभाव डालते हैं। कभी कभी उत्पादक किसी स्थान विशेष के प्रति विशेष रूप से आकृष्ट हो जाता है, भले ही वह सिद्धान्त के दृष्टिकोण से उचित न हो, और वहीं उत्पादन प्रारम्भ कर देता है । सरकार की कर-नीति भी स्थान-निर्धारण को प्रभावित करती है। यदि एक स्थान पर अपेक्षाकृत कम कर देने पड़ें तो उद्योग उसी स्थान की ओर आकर्षित होगा। विदेशी आक्र-

मणों की आशंका भी स्थान-निर्धारण पर प्रभाव डालती है। यदि एक स्थान पर विदेशी आक्रमण से उद्योग के नष्ट हो जाने का भय हो तो उद्योग उस स्थान पर प्रारम्भ नहीं किया जायगा, भले ही वह स्थान उपयुक्त क्यों न हो। इन सब बातों के बावजूद भी इस बात पर संदेह नहीं किया जा सकता कि प्रति इकाई उत्पादन लागत न्यूनतम करने के दृष्टिकोण से स्थान-निर्धारण को प्रभावित करने वाली उपयुक्त दोनों बातों को ध्यान में रख कर ही उत्पादक स्थान चुनेंगे।

स्थानीयकरण (Localisation)

जब किसी उद्योग के सभी संगठन-कर्ता एक ही स्थान पर उत्पादन करने का निर्णय करते हैं तो उस स्थान पर अनेक कारखानें और फैक्ट्रियाँ स्थापित हो जाती हैं। एक ही स्थान पर अनेक कारखानों और फैक्ट्रियों का केन्द्रीकरण स्थानीयकरण कहलाता है। **यह याद रखना चाहिये कि स्थान-निर्धारण और स्थानीयकरण एक ही बात नहीं है। स्थान-निर्धारण में हम किसी स्थान की उपयुक्तता का निर्णय करते हैं परन्तु स्थानीयकरण में किसी स्थान पर हुए कारखानों के केन्द्रीकरण पर विचार किया जाता है।** स्थानीयकरण कई कारणों से हो सकता है जिनमें से निम्न मुख्य हैं :—

१. स्थान-निर्धारण करने की अनुकूल परिस्थितियाँ (Favourable Locational Factors)

केन्द्रीकरण सभी संगठनकर्त्ताओं के एक ही स्थान पर उत्पादन करने के निर्णय के कारण होता है। इससे स्पष्ट है कि उस स्थान पर स्थान-निर्धारण की अनुकूल परिस्थितियाँ विद्यमान होंगी। उदाहरण के लिये,

(१) कच्चेमाल मिलने की वहाँ विशेष सुविधा हो सकती है वा कच्चामाल वहीं मिलता हो। बंगाल में जूट के कारखानों का केन्द्रीकरण इसी का प्रमाण है।

(२) उस स्थान से बाजार समीप हो, जिससे कि वस्तु के बेचने में कोई कठिनाई न हो।

(३) कारखाने चलाने के लिये शक्ति के साधन (Source of Motive Power) सरलता से उपलब्ध हों ताकि संचालन-शक्ति के ऊपर बहुत खर्च न करना पड़े।

(४) वस्तु के बनाने के लिये उपयुक्त जलवायु प्राप्त हो। बम्बई में सूती कपड़े की मिलों के केन्द्रीकरण का कारण वहाँ की नम जलवायु भी है।

(५) श्रम और पूंजी उचित मात्रा में उपलब्ध हो। यदि किसी वस्तु के उत्पादन में विशेष प्रकार के श्रम की आवश्यकता हो, तो वहाँ वैसे कुशल श्रमिक प्राप्त होने चाहिये।

(६) उस स्थान का देश के शेष भागों से यातायात साधनों द्वारा सम्बन्ध होना चाहिये ताकि उद्योग की वृद्धि के साथ वस्तुओं के बाजार का विस्तार हो सके और

कच्चामाल मँगाने में सुविधा हो (यदि कच्चामाल उस स्थान पर अपर्याप्त हो) इत्यादि।

२. पूर्वारम्भ (Early Start)

कभी कभी कोई उद्योग एक स्थान पर सबसे पहले प्रारम्भ हो जाता है। धीरे-धीरे वहाँ उसे उद्योग-सम्बन्धी सभी सुविधायें प्राप्त हो जाती हैं। इसलिये सभी संगठनकर्ता वहीं उद्योग प्रारम्भ करना पसन्द करते हैं और इस प्रकार उस स्थान पर स्थानीयकरण हो जाता है।

३. राजनीतिक कारण (Political Factor)

यदि किसी देश की सरकार किसी स्थान-विशेष पर एक उद्योग की स्थापना को प्रोत्साहित करती है तो इस प्रोत्साहन के फलस्वरूप सभी उत्पादक उसी स्थान पर उत्पादन करेंगे और वहाँ उद्योग का स्थानीयकरण हो जायगा।

हमारे देश में भी उद्योगों का स्थानीयकरण हुआ है। बम्बई में सूती कपड़े का उद्योग तथा हुगली नदी के आसपास जूट का उद्योग ऐसे ही स्थानीयकरण के उदाहरण हैं।

बम्बई में सूती कपड़े के उद्योग के स्थानीयकरण के कारण

बम्बई में सूती कपड़े के उद्योग के लिए बहुत ही अनुकूल परिस्थितियाँ विद्यमान थीं। नर्मदा और ताप्ती की घाटियों में बहुत पहले से कपास की खेती होती आयी थी तथा इन नदियों के मुहाने पर स्थित सूरत और भरोंच के कपास का निर्यात हुआ करता था। पारसी व्यापारियों ने भी इस उद्योग में काफी दिलचस्पी दिखायी। उन्नीसवें शताब्दी में इन व्यापारियों ने चीन से सूत का व्यापार किया। धीरे-धीरे बम्बई के मुख्य पारसी और भाटिया व्यापारियों के पास विदेशी व्यापार से काफी पूँजी इकट्ठा हो गई थी। कपास और सूत के व्यापार से सम्बन्धित रहने के कारण वे कपड़े के व्यापार की बातों को भी अच्छी तरह समझते थे। इस प्रकार बम्बई में सूती कपड़े के उद्योग के लिये पूँजी और साहसोद्यम की कमी नहीं थी।

कच्चेमाल के दृष्टिकोण से भी बम्बई की स्थिति अच्छी थी। उसके पृष्ठदेश में कपास उपलब्ध थी तथा यातायात के साधनों से वह भली प्रकार सम्बन्धित था। कपड़े के व्यवसाय की मशीन आदि मँगाने की सुविधा भी बम्बई को प्राप्त थी क्योंकि बन्दरगाह होने के नाते वह समुद्री मार्गों द्वारा विदेशों से भली प्रकार सम्बन्धित था। वहाँ की नम जलवायु भी सूती कपड़े के उद्योग के उपयुक्त थी। इन सब कारणों की वजह से बम्बई में कपड़े की मिलों का स्थानीयकरण हो गया।

जूट का उद्योग

हुगली नदी के आसपास जूट के उद्योग के स्थानीयकरण के कारण भी बहुत कुछ इसी प्रकार के हैं। पूर्वी बंगाल जूट की पैदावार के लिये प्रसिद्ध है। संसार

भर में सबसे अधिक जूट यहीं पैदा होता है। जूट के कातने और बुनने का काम बंगाल के निवासी प्रारम्भ से ही करते आये हैं। इसलिये जूट उद्योग सम्बन्धी श्रमिकों का वहाँ कोई अभाव न था। हाँ, यह लोग जूट का काम हाथों से ही बाँसों या लकड़ी के करघों पर करते थे। सन् १८५५ में जब मशीन से बना हुआ सामान कलकत्ते में आया तब धीरे-धीरे मशीनों का प्रयोग प्रारम्भ हुआ। जूट के उद्योग में मशीनों के प्रयोग का श्रेय मुख्यतया अंग्रेजों को है। अधिकतर कम्पनियों का संचालन अंग्रेजों के हाथों में ही था। जूट के सामान की माँग भी निरन्तर बढ़ती जा रही थी। चिली, ब्राजील, अर्जेन्टाइना आदि देशों को अपने सामान को बाँधने के लिए जूट के बोरों या टाट की आवश्यकता थी। इस बढ़ती हुई माँग ने जूट के उद्योग को और भी प्रोत्साहित किया। कारखाने चलाने के लिए कोयला भी पास ही पश्चिमी बंगाल में उपलब्ध था। बस फिर क्या था। कच्चे माल की सुविधा, संचालन शक्ति (motive power) का होना, कुशल श्रमिक, बढ़ते हुए बाजार आदि ने जूट के उद्योग को हुगली नदी के आसपास स्थापित कर दिया। जूट का उद्योग बंगाल में मुख्यतया हुगली नदी के दोनों ओर कलकत्ते के पास साठ मील लम्बी और दो मील चौड़ी पट्टी में केन्द्रित है।

स्थानीयकरण से लाभ

यद्यपि स्थानीयकरण सदैव स्थान-निर्धारण के उचित निर्णय का परिणाम नहीं होता फिर भी उससे कुछ लाभ अवश्य है।

(१) स्थानीयकरण के परिणामस्वरूप एक ही स्थान पर एक वस्तु के उत्पन्न करने वाले अनेक कारखाने स्थापित हो जाते हैं। पारस्परिक प्रतिस्पर्धा के फलस्वरूप इनकी कार्यक्षमता में वृद्धि होती है जिससे अच्छी वस्तुओं के बनने और मूल्यों के कम होने की संभावना रहती है। केवल यही नहीं, प्रतिस्पर्धा के कारण उत्पादक सदैव अच्छी से अच्छी मशीन का प्रयोग करते हैं।

(२) उद्योग के एक स्थान पर केन्द्रित होने के कारण उस उद्योग सम्बन्धी कुशल श्रमिक भी प्राप्त हो जाते हैं। अन्य व्यापारिक सुविधाओं, जैसे बैंकों की स्थापना, यातायात के सम्बन्ध आदि, का भी विकास हो जाता है।

(३) स्थानीयकरण से वस्तु की ख्याति बढ़ जाती है और बहुधा वस्तुयें स्थान के नाम से ही प्रसिद्ध हो जाती हैं।

(४) अनेक छोटे-छोटे धन्धों की स्थापना हो जाती है जिससे अनेक लोगों को रोजगार मिलता है। जहाँ स्थानीयकरण से उपर्युक्त लाभ हैं वहाँ उससे कुछ हानियाँ भी हैं।

हानियाँ

(१) स्थानीयकरण के कारण उस स्थान के निवासियों को आर्थिक संकट का भय रहता है। यदि किसी कारणवश वस्तु की माँग कम हो जाय और उसके मूल्य गिरने लगें तो अनेक कारखाने बन्द हो जायेंगे और श्रमिकों में बेकारी फैलने लगेगी। समस्त क्षेत्र आर्थिक संकट से ग्रस्त हो जायगा।

(२) स्थानीयकरण से देश के अन्य स्थानों का समुचित औद्योगिक विकास नहीं हो पाता। एक ही स्थान पर श्रम, पूँजी तथा सभी व्यापारिक-सुविधायें केन्द्रित हो जाती हैं।

(३) स्थानीयकरण के कारण एक ही स्थान पर अनेक कारखानों की स्थापना हो जाती है जिसके फलस्वरूप अस्वास्थ्यप्रद वातावरण उत्पन्न हो जाता है। मकानों की कमी के कारण गन्दी बस्तियाँ बस जाती हैं। इन सबका प्रभाव श्रमिकों की कार्य-क्षमता पर पड़ता है और उससे व्यवसाय को हानि की सम्भावना रहती है।

(४) श्रमिकों की कुशलता का केवल एकांगी विकास होता है और इसलिए उनकी गतिशीलता बहुत कम हो जाती है। श्रमिक वातावरण के अनुकूल न रहने पर भी दूसरी जगह काम नहीं कर सकते क्योंकि दूसरे काम में वे निपुण ही नहीं हैं। उदाहरण के लिए, बम्बई की सूती कपड़ों की मिलों में काम करनेवाला मजदूर कम मजदूरी या विरोधी परिस्थितियों के होते हुए भी लोहे और इस्पात के कारखाने में काम नहीं कर सकेगा।

हम ऊपर कह चुके हैं कि व्यवहार में उद्योगों का स्थान निर्धारण अनुकूलतम स्थान पर नहीं होता। स्थानीयकरण के कारण देश में कुछ भागों का समुचित औद्योगिक विकास होता है तो अनेक भाग पिछड़े रहते हैं। इन्हीं दोषों के कारण कुछ अर्थशास्त्री उद्योगों के विकीरण (decentralisation) की सिफारिश करते हैं। यों तो स्थानीयकरण की भी एक सीमा होती है और कुछ समय बाद ऐसे व्यवसाय का भी विकीरण होने लगता है। उदाहरण के लिए, बम्बई में केन्द्रित कपड़े का व्यव-साय कपास पैदा करनेवाले पृष्ठ देश (Cotton Belt) की ओर हटता जा रहा है। ऐसे विकीरण में यातायात के साधन, संचालन-शक्ति की सुलभता बहुत सहायता करते हैं। स्थानीयकरण के स्थान पर बहुधा जमीन का मूल्य, किराया, कर आदि की दरें इतनी अधिक हो जाती हैं कि वहाँ उद्योग चलाने में कोई किफायत नहीं होती। यह बात भी विकीरण में बहुत सहायता करती है।

उपर्युक्त प्रकार का विकीरण समस्या का निदान नहीं है। देश के संतुलित औद्योगिक विकास के लिए यह आवश्यक है कि सरकार उद्योगों के स्थान-निर्धारण पर नियन्त्रण रखे क्योंकि साहसोद्यमी अपने संकीर्ण हितों के सामने देश के हितों को

बहुधा भुला देता है । यह नियन्त्रण दो प्रकार से हो सकता है। सरकार साहसोद्यमी को स्थान-विशेष पर उद्योग स्थापित करने के लिए प्रोत्साहन दे । यह प्रोत्साहन कई प्रकार से हो सकता है । सरकार उस स्थान-विशेष पर विशेष सुविधायें प्रदान कर, उदाहरण के लिए कम ब्याज पर रुपया देना, करों से छूट आदि, उद्योगों को वहाँ आकर्षित कर सकती है । देश के औद्योगिक विकास के नाम पर, उद्योगपतियों से वहाँ उद्योग प्रारम्भ करने के लिए कहा जा सकता है । सामाजिक परिस्थितियों के सुधार द्वारा—आमोद-प्रमोद के साधन, यातायात की सुविधाओं द्वारा उस स्थान को आकर्षक बनाया जा सकता है । सरकार दूसरा उपाय यह कर सकती है कि नये उद्योगों की स्थापना लाइसेन्स द्वारा प्रारम्भ कर दे । यदि लाइसेन्स उचित रीति से दिये जायँ तो इससे उद्देश्य की प्राप्ति हो सकती है परन्तु इस प्रथा से भय यह है कि साहसोद्यमी तथा पूँजी निरुत्साहित होकर दूसरे उद्योगों की ओर न चले जायँ या उद्योग प्रारम्भ ही न करें ।

पंच-वर्षीय योजना में देश के संतुलित औद्योगिक विकास पर ध्यान दिया गया है तथा पिछड़े हुए भागों के औद्योगीकरण का प्रयत्न किया जा रहा है ।

EXERCISES

1. Discuss the causes of Localisation of Industries and point out its chief advantages and disadvantages. Agra U. 1952

2. Indicate briefly the forces which favour or go against Localisation of industries at the present time.
Agra U. B. Com. 1952

3. What do you understand by Localisation of Industries? Discuss its causes, advantages & disadvantages. Give examples.
Rajputana U. 1952

4. Discuss the factors responsible for the Localisation of the following Industries in India—Cotton in Bombay, Jute in Calcutta.

5. What do you understand by localisation of industry ? Give its advantages. Allad. U. B. A. 1953

अध्याय २१

औद्योगिक संगठन के रूप

(FORMS OF INDUSTRIAL ORGANISATION)

आर्थिक प्रगति के साथ-साथ औद्योगिक संगठन के रूप भी बदलते गये हैं। प्रारम्भ में उत्पादन छोटे पैमाने पर और साधारणतया घरों या कुटीरों में ही होता था। एक ही व्यक्ति उत्पादन का संगठन करता था। वह स्वयं ही व्यवसाय का मालिक होता था, निजी पूँजी (या अपने नाम पर उधार ली हुई) लगाता था, तथा श्रम का प्रबन्ध भी स्वयं ही करता था। उत्पादन का सारा जोखिम उसी के ऊपर रहता था। औद्योगिक-संगठन का यह प्राथमिक रूप अब भी विद्यमान है यद्यपि उसकी प्रधानता विलुप्त हो गई है।

इस औद्योगिक व्यवस्था की अपनी विशेषतायें हैं। (i) अपने हितों के प्रति एक व्यक्ति सदैव जागरुक रहता है और इसलिये इस प्रकार की व्यवस्था में उत्पादन का संगठन यथासंभव कुशल और मितव्ययी ढंग से किया जाता है। कहावत है कि व्यक्तिगत स्वमित्व रेत को स्वर्ण में परिवर्तित कर सकता है (Private ownership can turn sand into gold)। (ii) उपभोक्ताओं से निकट सम्पर्क रहने के कारण उनकी रुचि का पूरा ध्यान रखा जा सकता है तथा अपने शिष्ट और विनम्र व्यवहार से उन्हें सदैव के लिए अपना ग्राहक बनाना सम्भव हो जाता है। उपभोक्ताओं की रुचि और फैशन के परिर्वतन का अनुमान सरलता से होने के कारण उत्पादन तदनुसार किया जा सकता है और इस प्रकार बाजार हाथ में बना रहता है। (iii) इस प्रकार के उद्योग में थोड़ी पूँजी की आवश्यकता होती है और एक व्यक्ति से ही सम्बन्धित होने के कारण उसे बड़ी सरलता से प्रारम्भ किया जा सकता है। यहाँ उत्पादन का प्रारम्भ इसीलिये नहीं रुक सकता कि अन्य साझेदार सहमत नहीं हैं या रजिस्ट्रार की स्वीकृति प्राप्त नहीं हुई है। एकाकी उत्पादन इन सब झमेलों से मुक्त है।

जहाँ इस प्रकार के उद्योग में कुछ विशेषतायें हैं वहाँ इसकी सीमायें भी हैं; (i) इस प्रकार के उद्योग का पर्याप्त विस्तार सम्भव नहीं है क्योंकि विस्तार एक व्यक्ति की पूँजी तथा व्यवसाय-संगठन की शक्तियों से सीमित होता है। व्यवसाय के विस्तार के लिए एकाकी उत्पादक की शक्तियाँ यथेष्ट सिद्ध नहीं होती। ज्यों-ज्यों व्यवसाय बढ़ता जाता है त्यों-त्यों अधिकाधिक पूँजी और देखभाल की आवश्यकता होती जाती है। यह एक ही व्यक्ति के वश की बात नहीं है।

(ii) एकाकी उत्पादन में सम्पूर्ण जोखिम एक ही व्यक्ति पर होता है अतएव फर्म के फेल हो जाने या अत्यधिक हानि हो जाने पर उसकी सारी सम्पत्ति दायित्व के भुगतान में जा सकती है।

(iii) एकाकी उत्पादन की निरन्तरता (continuity) निश्चित नहीं होती। यह सम्भव है कि एक व्यक्ति द्वारा प्रारम्भ किये गये उत्पादन को उसका पुत्र या अन्य उत्तराधिकारी संभालने में असमर्थ हों। ऐसी दशा में उद्योग की समाप्ति शीघ्र ही हो जायगी।

(iv) कुछ उद्योग इतनी अधिक पूँजी और कुशलता की अपेक्षा रखते हैं कि एकाकी उत्पादन उनके लिये सर्वथा अनुपयुक्त है। उदाहरण के लिये, बिजली कम्पनी का चलाना किसी एक उत्पादक की सामर्थ्य से परे है।

(v) सामाजिक दृष्टि से आवश्यक किन्तु लाभ कमाने का अधिक क्षेत्र प्रस्तुत न करने वाले उद्योग भी एकाकी उत्पादन प्रणाली में प्रारम्भ नहीं किये जायेंगे।

एकाकी उत्पादन के विस्तार की सीमाओं को विस्तृत करने की दृष्टि से ही औद्योगिक संगठन के दूसरे रूप—साझेदारी का जन्म हुआ।

साझेदारी (Partnership)

साझेदारी में एक से अधिक व्यक्ति (सन् ३२ के भारतीय साझेदारी कानून के अनुसार अधिक से अधिक बीस व्यक्ति साझेदारी में शामिल हो सकते हैं) मिलकर पूँजी लगाते और व्यवसाय की देख-भाल करते हैं। व्यवसाय में हुये हानि और लाभ को एक निश्चित अनुपात के अनुसार ये लोग आपस में बाँट लेते हैं। बहुधा यह अनुपात प्रत्येक द्वारा व्यवसाय में लगाई हुई पूँजी के अनुपात के बराबर होता है। साझेदारों का दायित्व भी अपरिमित होता है (जैसा कि उपर्युक्त रूप में एक व्यक्ति का होता है) अर्थात् हानि होने पर प्रत्येक साझेदार को अपनी सम्पत्ति, चाहे वह व्यवसाय में लगी हो या न लगी हो, व्यवसाय की देनदारी चुकाने के लिये देनी पड़ती है।

(i) साझेदारी से व्यवसाय के लिये साधन अधिक मात्रा में जुटाये जा सकते हैं और इसलिये व्यवसाय अपेक्षाकृत बड़े पैमाने पर चलाया जा सकता है। (ii) व्यवसाय के हानि और लाभ में सबका भाग तथा अपरिमित दायित्व होने के कारण सभी बड़ी दिलचस्पी से उसे उन्नत करने की चेष्टा करते हैं। साझेदारों के पारस्परिक सहयोग से व्यवसाय अवश्य ही उन्नतिशील होगा, ऐसी आशा की जाती है। (iii) साझेदारी में एक लाभ यह भी होता है कि साझेदार अपनी रुचि का कार्य संभाल सकते हैं और इस प्रकार कुशलता बढ़ जाती है। उदाहरण के लिए, क्रय-विक्रय में कुशल साझेदार व्यवसाय के इस पहलू पर ध्यान देगा तथा संचलन कार्य में निपुण साझेदार संचालन

का कार्य करेगा। इसके विपरीत यदि (i) साझेदारों में व्यक्तिगत स्वार्थ की भावना प्रबल हो तो व्यवसाय में हानि होने की अधिक सम्भावना होती है। एक दूसरे को दोष देने लगता है तथा आपस में मतभेद हो जाता है। (ii) इसके अतिरिक्त किसी साझेदार की मृत्यु, दिवालियापन अथवा पागलपन पर साझेदारी का अन्त हो जाता है। (iii) व्यवसाय की उन्नति के लिये साझेदारी में सभी उत्तरदायी होते हैं। कभी कभी ऐसा होता है कि सबके उत्तरदायित्व के कारण लोग व्यक्तिगत उत्तरदायित्व को भुला बैठते हैं। (everybody's responsibility is no body's responsibility) ऐसा होने पर साझेदारी चल नहीं सकती। (iv) कुछ बड़े-बड़े उद्योगों के लिये अपेक्षित पूंजी जुटाना साधारणतः साझेदारी के वश की बात नहीं है। वर्तमान युग में बड़े पैमाने के उत्पादन को दृष्टि में रखकर उद्योगों के लिये अपेक्षित पूंजी की वृहत मात्रा के फलस्वरूप साझेदारी का क्षेत्र अब सीमित हो गया है। (v) असीमित उत्तरदायित्व साझेदारी का प्रमुख दोष है। हानि होने पर किसी भी साझेदार से ऋण वसूल किया जा सकता है। असीमित उत्तरदायित्व के कारण जब साझेदारी व्यवसाय काफी बढ़ जाता है और भारी हानि सम्भव हो जाती है तो साझेदार अपने उत्तरदायित्व को एक निजी सीमित कम्पनी की रजिस्ट्री कराकर परिमित कर सकते हैं। उस समय साझेदारी सीमित दायित्ववाली एक निजी संयुक्त-पूंजी कम्पनी (private joint stock company) का रूप धारण कर लेती है।

औद्योगिक संगठन का प्राथमिक रूप अर्थात् एकाकी उत्पादन तथा साझेदारी अब भी विद्यमान है; परन्तु पूंजीवादी व्यवस्था में जहाँ उत्पादन मशीनों की सहायता से बहुत बड़े पैमाने पर किया जाता है वहाँ इनका क्षेत्र बहुत सीमित हो गया है। औद्योगिक क्रांति के बाद उत्पादन बड़े पैमाने पर होने लगा और इसके लिये आवश्यक जी जुटाना एक या एक से अधिक साझेदारों के वश की बात नहीं रही। यदि किसी तरह आवश्यक पूंजी जुटा ली जाय तो व्यवसाय की जोखिम की अधिकता के कारण उसका उठाना कुछ व्यक्तियों के हाथ की बात नहीं रही। इन परिस्थितियों के मध्य में संयुक्त-पूंजी कम्पनी (Joint Stock Company) का जन्म हुआ। इस प्रकार के औद्योगिक संगठन से अधिक पूंजी जुटाना भी सम्भव हो गया तथा व्यवसाय का जोखिम अनेक व्यक्तियों के बीच में विभाजित हो गया।* प्रतिस्पर्धा के कारण कभी मूल्य गिरने लगते हैं और उत्पादकों को हानि होती है। इनसे बचने के लिये

*ये संयुक्त पूंजी कम्पनियाँ निजी संयुक्त पूंजी कम्पनियों से भिन्न हैं। निजी संयुक्त पूंजी कम्पनियों की पूंजी उन साझेदारों द्वारा ही जुटाई जा सकती है जो उसमें शामिल हैं। आम जनता उसमें भाग नहीं ले सकती। इसके अतिरिक्त निजी संयुक्त पूंजी कम्पनियाँ अनेक कानूनी कार्यवाहियों से मुक्त होती हैं जैसे संयुक्त पूंजी कम्पनी के रजिस्ट्रार के यहाँ आय-व्यय का विवरण भेजना आदि।

हिस्सों पर पूर्व वर्षों के लिए भी निश्चित दर से लाभांश देना होगा। इसके बाद ही अन्य हिस्सों में लाभांश वितरित होगा। असंचयी हिस्सों के लाभांश का अधिकार प्रत्येक वर्ष के साथ समाप्त हो जाता है। आगामी वर्ष में उन्हें पिछले वर्ष का लाभांश नहीं दिया जायगा। संचयी हिस्से बहुधा सावधान प्रकृति के लोग खरीदते हैं।

विलम्बित हिस्से (Deferred Shares)

जिन कम्पनियों में साधारण हिस्सों के लाभांश की दर भी निश्चित होती है। वहाँ ऐसे हिस्से रखे जाते हैं। सब हिस्सों के लाभांश देने के बाद शेष विलम्बित हिस्सों में बाँट दिया जाता है। ये हिस्से साधारणतया कम्पनी के संस्थापकों (founders) को दिये जाते हैं। इस वजह से इन्हें Founders or Management Shares भी कहते हैं।

ऋणपत्र (Debentures)

इन पर एक निश्चित दर से ब्याज दिया जाता है। ऋणपत्रों के स्वामी कम्पनी के ऋणदाता (creditors) होते हैं। ऋणपत्र अत्यन्त सावधान प्रकृति के लोग लेते हैं। भारत में ऋणपत्र अधिक प्रचलित नहीं हो सके हैं।

अपने अपने स्वभाव के अनुसार लोग इन हिस्सों को खरीदते हैं। निर्गमित पूँजी का जितना भाग जनता खरीद लेती है उसे प्रार्थित्व पूँजी (Subscribed Capital) कहते हैं। खरीदे हुए हिस्सों की पूरी कीमत एक साथ ही नहीं दी जाती है। प्रारम्भ में खरीदे हुए हिस्से का कुछ भाग ही दिया जाता है। इस प्रकार प्रार्थित्व पूँजी का कुछ भाग ही प्रारम्भ में कम्पनी को मिलता है। इस भाग को परिदत्त पूँजी (Paid up Capital) कहते हैं। हिस्सेदारों का दायित्व हिस्से के मूल्य तक ही सीमित होता है।

संयुक्त पूँजी कम्पनी इस प्रकार आवश्यक पूँजी एकत्रित करती है। उसका प्रबन्ध हिस्सेदारों (shareholders) द्वारा निर्वाचित संचालक-समिति (Board of Directors) के हाथ में होता है। संक्षेप में संयुक्त पूँजी कम्पनी का यही संगठन है।

इस प्रकार के औद्योगिक संगठन से अनेक लाभ हैं।

(१) पूँजी बहुत बड़ी मात्रा में एकत्रित की जा सकती है और इसलिये बड़े पैमाने का उत्पादन सम्भव हो जाता है। बड़े पैमाने से सम्बन्धित आन्तरिक और बाह्य मितव्ययतायें भी प्राप्त हो जाती हैं।

(२) हिस्सों को इस प्रकार रखा जाता है ताकि कम आयवाले व्यक्ति भी उन्हें खरीद सकें। इस प्रकार देश की पूँजी की छोटी मात्रा भी उत्पादक कार्यों में प्रयुक्त हो जाती है जो अन्यथा नहीं होती।

(३) हिस्सों के परिमित दायित्व के कारण जोखिम उठाना आसान हो जाता है। इसके अतिरिक्त यह हिस्से बाजार में बेचे जा सकते हैं। कोई भी हिस्सेदार अपने हिस्से को जब चाहे बेच सकता है।

(४) किसी हिस्सेदार की मृत्यु से कम्पनी समाप्त नहीं हो जाती। उसका जीवन निरन्तर रहता है। साझेदारी में किसी भी साझेदार की मृत्यु के बाद साझेदारी खत्म हो जाती है।

(५) संचालक-समिति निर्वाचित होने के कारण प्रबन्ध अच्छे हाथों में रहता है। यदि संचालक अपना कार्य ठीक से न करें तो उनके दुबारा निर्वाचित होने की सम्भावना नहीं रहती। इसलिए कम्पनी का प्रबन्ध सदैव ठीक रहना चाहिये।

यदि हम उपर्युक्त बातों की तुलना साझेदारी से करें तो विदित होगा कि साझेदारी में यह लाभ विद्यमान नहीं है। व्यवहार में संयुक्त पूँजीवादी कम्पनी में भी अनेक दोष उपस्थित हो जाते हैं। उदाहरण के लिए (i) हिस्सेदार संचालक समिति के निर्वाचन आदि में कोई दिलचस्पी नहीं लेते। कतिपय व्यवहारकुशल व्यक्ति अपने स्वार्थों की सिद्धि के लिए उक्त पदों पर पहुँच जाते हैं और वे अपनी स्वार्थसिद्धि का ही प्रयत्न करते हैं। (ii) अक्सर अदूरदर्शिता के फलस्वरूप ऐसे उद्योग चालू कर दिये जाते हैं जिनमें जनता का रुपया व्यर्थ ही फँस जाता है और कुछ समय बाद ऐसे उद्योग बन्द हो जाते हैं। (iii) संयुक्त पूँजी कम्पनियों में श्रमिक और स्वामिवर्ग के बीच निकट संपर्क नहीं होता। इन दोनों के बीच की खाई बढ़कर हड़ताल और तालाबंदी का रूप भी ले लेती है जिससे सभी को हानि होती है। (iv) यदि किसी महत्त्वपूर्ण मामले का निर्णय करना हो तो हिस्सेदारों की सभा बुलानी पड़ती है। इसमें काफी समय लगता है और इस प्रकार देर होती है। (v) चूँकि स्वामित्व और प्रबन्ध का पृथक्करण हो जाता है, अतएव प्रबन्धक भरसक प्रयत्न नहीं करते। वेतन निश्चित होने के कारण और लाभ में कोई भाग न होने से वे आवश्यक कार्य भर करते रहते हैं। इत्यादि।

उपर्युक्त दोषों के बाबजूद भी इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता कि पूँजीवादी व्यवस्था के लिये, जहाँ उत्पादन के लिए बहुत पूँजी की आवश्यकता होती है, संयुक्त पूँजीवाली कम्पनियाँ ही औद्योगिक संगठन का उचित रूप है। **प्रतिस्पर्धा के दोषों से बचने के लिये** इन कम्पनियों का संयोजन (Combination) होता है। पूँजीवादी व्यवस्था के औद्योगिक संगठन का यह दूसरा रूप है।

संयोजन निम्न मुख्य करणों से होता है:—

१. अत्यधिक उत्पादन से बचने के लिये पूँजीवादी व्यवस्था में उत्पादकों के बीच स्वतंत्र प्रतिस्पर्धा होती हैं। प्रत्येक उत्पादक अपनी वस्तु के विक्रय के सम्बन्ध

में आशावादी अनुमान लगाता है। फलतः कभी कभी उत्पादन माँग की तुलना में अधिक हो जाता है जिससे मूल्य गिरने लगते हैं और उत्पादकों को आशा के अनुकूल लाभ नहीं प्राप्त होते या हानि होने लगती है। इस दोष के निराकरण के लिये तथा पूर्ति को माँग से अपने अनुकूल व्यवस्थित करने के लिये उत्पादक संयोजन करते हैं।

२. मूल्यों को गिरने से रोकने के लिये तथा अधिक मूल्य माँगने की क्षमता बढ़ाने के लिये कभी कभी किसी उद्योग में अत्यधिक उत्पादन के बजाय अन्तर्राष्ट्रीय कारणों से भी मूल्य गिर सकते हैं। उदाहरण के लिये, यदि अन्य देशों में मूल्य गिर रहे हों तो इसका प्रभाव तत्सम्बन्धी उद्योग पर यहाँ भी पड़ेगा। इन प्रभावों को संयोजित होकर अधिक सफलता से रोका जा सकता है। सामान्य परिस्थितियों में संयोजित होकर अधिक मूल्य भी माँगा जा सकता है क्योंकि प्रतिस्पर्धी इसका विरोध करने के बजाय स्वयं इसमें सम्मिलित हो जायेंगे।

३. व्यवसायों की पारस्परिक निर्भरता तथा प्राविधिक कारणों से भी संयोजन होता है। शीर्ष और अनुभूमिक संयोजन इसीलिये होते हैं। इनके सम्बन्ध में नीचे पढ़िये।

४. व्यवसायों में एकरूपता लाने के लिये भी संयोजन होता है। संयोजित होने पर उद्योग के विभिन्न फर्मों की उत्पादन नीति तथा मूल्य नीति में एकरूपता आ जाती है। विभिन्न फर्मों की कुशलता भी एक-सी हो जाती है क्योंकि विभिन्न फर्म एक दूसरे की विरोधी नहीं रहतीं।

५. औद्योगिक संगठन को दृढ़ करने के उद्देश्य से भी संयोजन होता है। संयोजित होकर एक उद्योग अनेक उत्पादन इकाइयों से निर्मित न होकर, स्वयं एक इकाई सा हो जाता है। इस प्रकार उसकी शक्ति बढ़ जाती है। इत्यादि।

संयोजन के मुख्य प्रकार निम्न हैं:—

(१) शीर्ष संयोजन (Vertical Combination)

(२) अनुभूमिक संयोजन (Horizontal Combination)

शीर्ष संयोजन एक ही प्रकार की विभिन्न वस्तुयें बनानेवाले उत्पादकों के बीच में होता है। उदाहरण के लिए कच्चा लोहा, कोयला तथा इस्पात के उत्पादकों का संयोजन शीर्ष संयोजन होगा। शीर्ष संयोजन का मुख्य कारण इन व्यवसायों की पारस्परिक निर्भरता है। कोयले के अभाव में लोहे और इस्पात का उत्पादन बन्द ही हो जायगा। अतः कोयले की पूर्ति को निश्चय रूप से प्राप्य बनाने के लिए शीर्ष संयोजन एक उचित रीति है। कभी कभी प्राविधिक कारण (technical reasons) भी शीर्ष संयोजन आवश्यक बना देते हैं। शीर्ष संयोजन से ऐसी प्राविधिक सुविधाएँ

मिल जाती हैं जिससे वस्तु की लागत कम हो जाती है। यदि ऐसे संयोजन से वस्तु के गुण में वृद्धि होती हो, तो भी शीर्ष संयोजन किया जा सकता है।

अनुभूमिक संयोजन एक ही वस्तु के भिन्न उत्पादकों के मध्य होता है। उदाहरण के लिए, यदि जूट के उत्पादक आपस में संयोजन बना लें तो यह अनुभूमिक संयोजन होगा। अनुभूमिक संयोजन अधिकतर पारस्परिक स्पर्धा से बचने के लिए किया जाता है। अत्यधिक उत्पादन के होने तथा उसके फलस्वरूप मूल्य गिरने के भय के कारण भी ऐसे संयोजन होते हैं। संयोजन के पश्चात् उत्पादन सम्बन्धी खोज कार्य अधिक सरलता से सम्भव हो जाता है। यह भी अनुभूमिक संयोजन का एक मुख्य कारण है।

उपर्युक्त दोनों प्रकार के संयोजनों के निम्नलिखित मुख्य रूप हैं।

संयोजन का सबसे सरल रूप भद्रजनीय सहमति (Gentlemen's Agreement) होती है। इसके अन्तर्गत उत्पादक वस्तु की कीमतों और बाजारों के बारे में आपस में वचनबद्ध होते हैं। यह केवल एक पारस्परिक समझौता है जो प्रत्येक उत्पादक के भद्रजन होने पर ही निर्भर है। पारस्परिक हितों की सुरक्षा के लिये ही ऐसा समझौता किया जाता है परन्तु यदि कोई उत्पादक समझौते को तोड़ दे तो उसके विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं की जा सकती।

मूल्य-नियमन तथा उत्पादन के नियंत्रण के लिये भी उत्पादकों में संयोजन होता है। इन संयोजनों का उद्देश्य क्रमशः मूल्य की निम्नतम सीमा निर्धारित करके पारस्परिक प्रतिस्पर्धा को कम करना तथा उत्पादन का नियंत्रणकर मूल्यों को गिरने से बचाना है।

संचयी संयोजन (Pooling Association)

इस प्रकार का संयोजन उत्पादकों को लाभों में भाग देने तथा उनकी उत्पत्ति को निश्चय करने के लिये किया जाता है। प्रत्येक उत्पादक उत्पत्ति की हर इकाई के लिये एक निश्चित द्रव्य जमा करता है। इस द्रव्य में से एक सुरक्षित कोष बना लिया जाता है तथा शेष निधि को उत्पादकों में बराबर-बराबर बाँट दिया जाता है। इस प्रकार कुल उत्पादन के लाभ में प्रत्येक उत्पादक को भाग मिल जाता है।

उत्पत्ति की मात्रा नियत करने के लिये संयोजन पूर्व अनुभव के आधार पर प्रत्येक उत्पादक के उत्पादन की मात्रा निश्चित कर देता है। जो उत्पादक नियत मात्रा से अधिक उत्पादन करता है उसे एक निश्चित आधार पर उत्पादन के आधिक्य के अनुपात में द्रव्य की मात्रा देनी पड़ती है। जिनका उत्पादन नियत मात्रा से कम होता है उन्हें कमी के अनुपात में द्रव्य की मात्रा दी जाती है जो एक पूर्व निश्चित आधार पर होती है।

ट्रस्ट (Trust)

जब कम्पनियाँ मिलकर अपनी सम्पत्ति के सूचक ट्रस्ट प्रमाण-पत्रों को ट्रस्टियों की एक समिति को सौंपकर एक नई कम्पनी बनाती हैं तो उसे ट्रस्ट कहते हैं। ट्रस्ट बनने के बाद इन कम्पनियों का कोई अस्तित्व नहीं रह जाता और एक स्थायी तथा नई कम्पनी का जन्म होता है। व्यवसाय का प्रबन्ध उत्पादन, वितरण आदि पर ट्रस्ट का पूरा अधिकार होता है। इस प्रकार ट्रस्ट बनने पर (i) कम्पनियों का व्यक्तिगत अस्तित्व समाप्त हो जाता है, (ii) व्यवसाय का प्रबंध, उत्पादन वितरण आदि पूर्णतः ट्रस्ट के अधीन हो जाता है और (iii) ट्रस्ट के रूप में अधिक समर्थवान कम्पनी का जन्म होता है जिसकी निरन्तरता अपेक्षाकृत अधिक समय तक रहेगी।

मूल्य संघ (Cartel)

जब कम्पनियाँ अपने अस्तित्व को नहीं खोना चाहतीं, तब वे एक विक्रय संस्था बनाती हैं जो उनकी वस्तुओं को बेचती हैं। उत्पादक लागत से कुछ अधिक कीमत पर वस्तुओं को इस संस्था के हाथ बेच देते हैं तथा यह संस्था बाजार की परिस्थितियों तथा अपने क्रय-मूल्य को ध्यान में रखकर वस्तुओं को अधिकतम मूल्य पर बेचने की चेष्टा करती हैं। इस संस्था को मूल्यसंघ कहते हैं तथा सहयोगी उत्पादक ही इसमें भाग ले सकते हैं। सन् १९३६ में चीनी के कारखानों द्वारा स्थापित अखिल भारतीय शकर सिन्डिकेट (All India Sugar Syndicate) जिसे चीनी बेचने का काम सौंपा गया था, ऐसा ही उदाहरण है।

ट्रस्ट और कारटेल का अन्तर जान लेना आवश्यक है। (i) ट्रस्ट एक स्थायी संस्था है। (ii) उसे बनाने वाली कम्पनियों का कोई अस्तित्व नहीं रहता। (iii) उत्पादन और वितरण सभी ट्रस्ट के हाथ में रहता है। इसके विपरीत (i) कारटेल एक अस्थाई संस्था है जिसे आवश्यकता पड़ने पर तोड़ा जा सकता है। (ii) कम्पनियों का निजी अस्तित्व बना रहता है। कारटेल के हाथ में केवल विक्रय की व्यवस्था ही होती है। शेष प्रबन्ध कम्पनियों के हाथ में रहता है।

धारक अथवा प्रबन्धक कम्पनी (Holding Company)

जो कम्पनी अन्य कम्पनियों के सब या अधिकांश हिस्से खरीदकर बदले में उन कम्पनियों के हिस्सेदारों को अपने हिस्से बेच दे, उसे धारक कम्पनी कहते हैं। धारक कम्पनी एकता स्थापित करने तथा अन्य कम्पनियों पर नियन्त्रण पाने के लिए बनाई जाती है।

विलयन (Consolidation or Merger)

दो या दो से अधिक फर्मों के मिलकर एक हो जाने को विलयन कहते हैं। उत्पादन-क्षमता की वृद्धि के लिए बहुधा अयोग्य फर्म एक योग्य फर्म में मिल जाती हैं।

बैंकों में ऐसा विलयन बहुधा होता है । उदाहरण के लिए सन् १९४० में भगवानदास बैंक पंजाब नेशनल बैंक में मिल गई ।

संयोजन से लाभ (Advantages of Combinations)

ऊपर हमने संयोजन के विभिन्न रूपों की चर्चा की है । बहुधा प्रश्न किया जाता है कि इनसे क्या लाभ हैं । एक प्रकार से हम इसका उत्तर दे चुके हैं । जिन कारणों से संयोजन होता है अथवा जिन दोषों को दूर करने के लिये संयोजन का आश्रय लिया जाता है, उसके परिणाम ही इसके लाभ हैं ।

हमें एक बात अच्छी तरह समझ लेना चाहिए । संयोजन के लाभ मूलतः उत्पादक या पूजीपति को प्राप्त होते हैं । उपभोक्ता को प्राप्त होने वाले लाभ तो आनुसंगिक हैं । यहाँ हम संयोजन के सभी रूपों—ट्रस्ट, कार्टेल, धारक कम्पनी आदि—से प्राप्त लाभों की संक्षिप्त चर्चा करेंगे ।

(i) संयोजन से बड़ी से बड़ी मात्रा के उत्पादन के लाभ प्राप्त हो जाते हैं । उदाहरणार्थ, ट्रस्ट के रूप में जब अनेक कम्पनियों के उत्पादन का एकीकरण हो जाता है तो बड़ी मात्रा की उत्पत्ति की सभी मितव्ययितायें भली प्रकार उपलब्ध हो जाती हैं ।

(ii) वस्तुओं के विक्रय की सुविधा हो जाती है । मूल्यसंघ इस कार्य को अपेक्षाकृत कम लागत पर अधिक सरलता से सम्पन्न कर देते हैं । यदि प्रत्येक फर्म अपने माल के विक्रय के लिए मूल्यसंघ के समान प्रयत्न करने की चेष्टा करे तो वह उसके सामर्थ्य के बाहर की बात होगी । ट्रस्ट या धारक कम्पनी तो विक्रय के लिए विशेषज्ञ संस्था की स्थापना द्वारा भी यह लाभ उठा सकते हैं क्योंकि उनके साधन प्रचुर होते हैं ।

(iii) कच्चे माल के क्रय के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार लाभ प्राप्त होते हैं । बड़े पैमाने पर खरीद करने से इसमें बहुत बचत होती है । इसके अतिरिक्त संयोजन के कारणों से उसके लाभ दिखाए जा सकते हैं । यथा (iv) उत्पादन पर नियन्त्रण सम्भव हो जाता है जिससे मूल्यों पर अधिकार हो जाता है । (v) मूल्य गिरने से रोके जा सकते हैं तथा अधिक मूल्य माँगने की क्षमता बढ़ जाती है । (vi) व्यवसाय में एकरूपता आ जाती है तथा (vii) औद्योगिक संगठन अधिक दृढ़ हो जाता है । [(iv), (v), (vi) और (vii) को **संयोजन के कारण** शीर्षक के अन्तर्गत पुनः पढ़िए ।]

संयोजन से हानि :—संयोजन से होने वाली हानि मुख्यतः उपभोक्ताओं तथा नये साहसोद्यमियों को होती हैं ।

(i) संयोजन इतने शक्तिशाली होते हैं कि उनकी प्रतिस्पर्धा में कोई नया साहसोद्यमी खड़ा ही नहीं हो सकता। इस प्रकार संयोजन किसी भी देश में नये साहसोद्यम को पनपने ही नहीं देते।

(ii) संयोजन पूर्ति का इस प्रकार नियन्त्रण कर सकते और करते हैं कि वह वाञ्छित मूल्य प्राप्त कर लें। उपभोक्ता उनके समक्ष निरुपाय होते हैं और उन्हें वही मूल्य देना पड़ता है। इस प्रकार उपभोक्ताओं का शोषण होता है।

(iii) संयोजन होने पर प्रतिस्पर्धा का अभाव हो जाता है। ऐसी स्थिति में संयोजन में कुशलता का ह्रास तथा वस्तु के गुणों में हीनता आ सकती है। उपभोक्ता इसके विरुद्ध भी कुछ नहीं कर सकते क्योंकि कोई दूसरा प्रतिस्पर्धी है ही नहीं जिससे वे खरीद करें।

(iv) संयोजन आर्थिक विषमता की वृद्धि करते हैं। पूंजी इने-गिने हाथों में केन्द्रित हो जाती है। इस प्रकार किसी देश में इनसे वर्ग-विषमता तीव्र और फलतः वर्ग-संघर्ष तीव्रतर हो जाता है।

(v) संयोजन श्रमिकों का शोषण भी सफलतापूर्वक कर सकता हैं क्योंकि श्रमिकों को अन्यत्र काम मिलने की सम्भावना बहुत कम होती है। इस प्रकार श्रमिकों में असन्तोष बढ़ जाता है और यह वर्ग-संघर्ष को और तीव्र कर देता है।

(vi) प्रभावशाली संयोजन राजनीतिक दलों पर भी प्रभुत्व जमाने की चेष्टा करते हैं और शासकदल को आर्थिक सहायता द्वारा अपने हाथ में कर लेते हैं। परिणाम यह होता है कि सरकार उनके कुकर्मों के विरुद्ध कुछ नहीं कर पाती। इत्यादि।

संयोजन का नियन्त्रण :—उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होगा कि संयोजन देश में अनेक प्रकार से दोष उत्पन्न करते हैं तथा सामाजिक, राजनीतिक एवम् आर्थिक दृष्टि से इनका नियन्त्रण आवश्यक है। संयोजन का नियन्त्रण समस्या का वास्तविक निदान नहीं है। इसके लिए तो हमें उस आर्थिक व्यवस्था को ही बदलना होगा जो संयोजन को प्रश्रय देते हैं। संयोजन पूंजीवादी व्यवस्था की विशेषता है। जब तक हम पूंजीवादी व्यवस्था को नहीं बदलेंगे, उनके दोषों से पूर्ण मुक्ति सम्भव नहीं है। किन्तु ऐसे परिवर्तन के अभाव में हमें इन दोषों को दूर करने या उनके हानिकारक प्रभावों को कम करने के लिये कुछ उपचार करना ही होगा। इस दृष्टि से निम्न उपाय अपनाये गये हैं तथा अपनाये जा सकते हैं।

(i) सरकार संयोजन विरोधी अधिनियम बना कर इन्हें रोक सकती है। अमेरिका में अधिनियम द्वारा ट्रस्ट के निर्माण को अवैध घोषित किया गया है। जर्मनी में कार्टेल के विरुद्ध अधिनियम बनाए गए हैं। बहुधा होता यह है कि संयोजक इन

नियमों से बच निकलने के लिये संगठन को दूसरा रूप दे देते हैं और संयोजन अपने उद्देश्यों की पूर्ति करता रहता है ।

(ii) अधिक मूल्य माँग कर संयोजनों द्वारा जनता के शोषण की प्रवृत्ति को सरकार मूल्य नियन्त्रण द्वारा रोक सकती है । साथ ही वस्तु के गुण के ऊपर भी सरकार को निगाह रखनी चाहिये क्योंकि मूल्य का नियंत्रण होने पर संयोजन वस्तु का गुण खराब करके लाभ कमाने की चेष्टा कर सकते हैं । इसके लिये सरकार को एक ऐसी निरीक्षण पद्धति अपनानी होगी जिससे वह उत्पादित वस्तु पर गुण प्रमाणित करने का चिन्ह लगा दे ।

यह दोनों योजनायें उद्देश्य की दृष्टि से तो अच्छी हैं किंतु इनमें व्यवहारिक कठिनाइयाँ हैं । उचित मूल्य निश्चित करना विशेषकर ऐसा जो उत्पादक और उपभोक्ता दोनों के दृष्टिकोणों का सामंजस्य करता हो—बहुत कठिन है । इसी प्रकार गुण के प्रमाणीकरण में भी कठिनाइयाँ होती हैं । वे सरकारी प्रमाण-चिन्ह की नकल कर मिलावटी चीज बेचने की कोशिश कर सकते हैं ।

(iii) सरकार संयोजनों की एकाधिकार आय की अधिकतम सीमा निश्चित कर सकती है । प्रथम, एकाधिकार आय का सही अनुमान कठिन है, द्वितीय अधिकतम सीमा निश्चित होने पर भी वे समाज का शोषण तो कर ही सकते हैं क्योंकि उनका कोई प्रतिस्पर्धी नहीं होता ।

(iv) श्रमिकों को शोषण से बचाने के लिए सरकार निम्नतम मजदूरी निश्चित कर सकती है । यह ठीक है किंतु संयोजक युक्तीकरण और वैज्ञानिक प्रबन्ध के नाम पर उन्हें निम्नतम मजदूरी देकर उनसे अधिक काम करा सकते हैं । 'युक्तीकरण' के अध्याय में हम कह चुके हैं कि श्रमिक बहुधा इसीलिये इसका विरोध करते हैं ।

(v) संयोजनों के नियंत्रण का सफल उपाय तो यह होगा कि सरकार स्वयं उनसे प्रतिस्पर्धा करे अर्थात् स्वयं उत्पादन-क्षेत्र में उतरे । जहाँ आवश्यक हो वहाँ उन पर स्वयं अधिकार कर ले अर्थात् राष्ट्रीयकरण की नीति अपनाये । संयोजन सरकार की प्रतिस्पर्धा में सरलता से हानि नहीं पहुँचा सकेंगे क्योंकि सरकार के पास विधान बनाने और उसे लागू करने की शक्ति भी होती है । इस प्रकार के नियंत्रण का अर्थ तो यह है कि हम पूँजीवादी ढाँचे को बदलकर समाजवाद की ओर अग्रसर हों ।

संयोजन तथा व्यापारिक चक्र (Combination and the Trade Cycle)

शीर्ष तथा अनुभूमिक संयोजन के सम्बन्ध में हम उन कारणों का उल्लेख कर चुके हैं जो संयोजन को जन्म देते हैं । कुछ अर्थशास्त्रियों का मत है कि संयोजन का मूल **कारण मन्दी** (depression) **तथा अत्यधिक प्रतिस्पर्धा** (over-competition) **है ।**

उनका तर्क है कि महँगी (boom) के जमाने में सब स्वच्छन्द रहना चाहते हैं क्योंकि सभी लाभ उठाते हैं। मन्दी का जमाना विपत्ति का होता है अत: संयोजन का कारण व्यापारिक-चक्र (business cycles) हैं जिसके कारण कभी मन्दी और कभी तेजी होती रहती है तथा उत्पादकों को अपने हितों की सुरक्षा के लिये संयोजन करना पड़ता है। इसके विपक्ष में कुछ भी कहा जाय [जैसे, यह कारण नहीं वरन् कार्य को प्रेरणा (motive) है]परन्तु इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि व्यापारिक-चक्र तथा संयोजन सम्बन्धित हैं।

भारत में संयोजन (The Combination Movement in India)

भारत में संयोजन आन्दोलन की प्रगति बहुत धीमी रही है। इसके मुख्य कारण निम्न हैं :—

(१) यहाँ के व्यापारियों में व्यक्तिगत भावनाओं की प्रधानता है। उनका विश्वास है कि वे अकेले अधिक उन्नति कर सकते हैं।

(२) अन्य देशों की तुलना में यहाँ प्रतिस्पर्धा भी कम है। संयोजन का जन्म अत्यधिक प्रतिस्पर्धा से होता है।

(३) दूरदर्शिता की कमी तीसरा कारण है। भारत में योरपीय निवासियों के जूट व्यवसाय की व्यवस्था तथा उसमें हुए संयोजन इसके उदाहरण हैं। भारतीय व्यापारी दूरदर्शी नहीं हैं। अतएव उनके उद्योगों में संयोजन का अभाव है।

(४) सबसे मुख्य कारण प्रबन्धकारिणी एजेन्सी प्रणाली (The Managing Agency System) का प्रचलन है जिसमें शीर्ष तथा अनुभूमिक दोनों संयोजनों की विशेषतायें हैं। इस कारण संयोजन का कोई अवकाश ही नहीं रहता।

यद्यपि उपर्युक्त कारणों ने भारत में संयोजन आन्दोलन को शिथिल कर दिया है परन्तु फिर भी संयोजन के कतिपय अच्छे उदाहरण हमारे देश में भी वर्तमान हैं।

सन् १९३६ तक हमारे देश में सीमेन्ट की अनेक कम्पनियाँ विद्यमान थीं तथा इनमें अत्यधिक प्रतिस्पर्धा थी। इस प्रतिस्पर्धा का अन्त करने के लिए दस कम्पनियों के विलयन (merger) से एसोसियेटेड सीमेन्ट कम्पनी आफ इण्डिया लि० (A. C. C. of India Ltd.) बनाई गई।

सन् १९३६ में चीनी के कारखानों ने सिन्डीकेट की स्थापना की। इसका कार्य मूल्य-नियंत्रण तथा नई फर्मों के प्रवेश की रोकथाम थी। बाद में जब इसने उपभोक्ताओं का शोषण प्रारम्भ कर दिया तो सरकार ने उसके अधिकार छीन लिए। टाटा और बंगाल स्टील कारपोरेशन ने एक संचयी संयोजन (pool) की स्थापना की है।

जूट व्यवसाय में सबसे पहला संचयी संयोजन (pool) १८८६ में हुआ। युद्ध के समय में भी इस व्यवसाय ने एक व्यवसायिक संचय (Industrial pool) की स्थापना

की जिसमें सदस्य अतिरिक्त लाभ (extra profit) जमा करते थे तथा उससे उन व्यवसायों की मदद करते थे जो सीमा पर स्थित थे और जहाँ आक्रमण का भय था। इस प्रकार वे मन्दी (depression) को वितरित कर सके।

प्रबन्धकारिणी एजेन्सी प्रणाली (The Managing Agency System)

प्रबन्धकारिणी एजेन्सी प्रणाली भारतीय औद्योगिक संगठन की विशेषता है। इसका जन्म भारत में काम करने वाली विदेशी फर्मों द्वारा हुआ। जब इन फर्मों का प्रबन्धक हिस्सेदार अपने देश लौटता तो वह फर्म का प्रबन्ध किसी एजेन्ट के सुपुर्द कर देता था। इन्हीं प्रबन्धक एजेन्टों ने प्रबन्धकारिणी एजेन्सी बना ली। उन्होंने अपने आपको एक ऐसी फर्म के रूप में संगठित करना प्रारम्भ कर दिया जो प्रतिफल के बदले में किसी भी व्यवसाय का प्रबन्ध अपने हाथों में लेने के लिये तैयार रहती। साधारणतया इनके संगठन का रूप साझेदारी अथवा वैयक्तिक लिमिटेड कम्पनी (private limited company) होती है। उदाहरण के लिये यदि हम एक कपड़े की मिल चलाना चाहते हों तो उसके प्रबन्ध को किसी प्रबन्धकारिणी एजेन्सी को सौंपा जा सकता है। ऐसा करने से उसके लिये पूँजी आदि एकत्रित करने का भार इस एजेन्सी पर आ जाता है और पूँजी एकत्रित करने की कठिनाई दूर हो जाती है। साधारणतया प्रबन्धक ऐजेन्ट अपने मित्रवर्ग तथा सम्बन्धियों आदि में हिस्से बेचकर पूँजी सरलता से इकट्ठी कर लेते हैं।

प्रबन्धकारिणी ऐजेन्सी के तीन महत्त्वपूर्ण कार्य हैं। प्रथम, इनके द्वारा नये व्यवसायों का संगठन होता है। द्वितीय, ये व्यवसाय के लिये पर्याप्त पूँजी सुलभ कर देते हैं। तृतीय, व्यवसाय के दैनिक प्रबन्ध की बागडोर भी इन्हीं के हाथ में रहती है। सन् १९३६ के कम्पनी एक्ट के अनुसार प्रबन्धकारिणी एजेन्सियों का प्रतिफल कम्पनी के लाभ के आधार पर होता है। इस कारण प्रबन्धक एजेन्ट कम्पनी को सदैव उन्नतिशील रखने का प्रयत्न करते हैं ताकि कम्पनी को खूब लाभ हो और उनके प्रतिफल की वृद्धि हो। यदि इसका प्रतिफल उत्पादन की मात्रा अथवा विक्रीत (बेची हुई) वस्तुओं की मात्रा के आधार पर निश्चित किया जाय तो वे प्रबन्ध के प्रति उतने सचेष्ट नहीं रहेंगे क्योंकि कम्पनी को हानि होने पर भी उन्हें प्रतिफल अथवा कमीशन मिल जायगा।

प्रबन्धकारिणी एजेन्सी एक ही वस्तु को उत्पन्न करने वाली अनेक कम्पनियों का प्रबन्ध भी करती है तथा एक ही प्रकार की विभिन्न वस्तुओं को उत्पन्न करने वाली कम्पनियों का भी प्रबन्ध करती है। इस कारण इसमें दोनों प्रकार के संयोजनों—अनुभूमिक तथा शीर्ष—की विशेषतायें आ जाती हैं। इसी कारण भारत में संयोजन आन्दोलन (combination movement) अधिक सफल नहीं हुआ है। इस बात की चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं।

प्रबन्धकारिणी एजेन्सी किसी भी स्थान के व्यवसाय का प्रबन्ध अपने हाथ में ले सकती है। हमारे देश में कलकत्ता और बम्बई की एजेन्सियों ने मुख्य स्थान प्राप्त कर लिया है। साधारणतया प्रबन्धकारिणी एजेन्सियों के यही दो भेद बताये जाते हैं :--

(१) कलकत्ता वाली प्रबन्धकारिणी एजेन्सियाँ (Calcutta Type)

(२) बम्बई वाली प्रबन्धकारिणी एजेन्सियाँ (Bombay Type)

इन दोनों प्रकार की एजेन्सियों का मुख्य भेद उनकी परिपाटी (tradition) का है। (i) कलकत्ते की प्रबन्धकारिणी ऐजिन्सियाँ साधारणतया योरपीय हैं। (ii) उनमें कुशल साझेदारों का समावेश होता रहता है और (iii) बहुधा एक से अधिक व्यवसाय पर नियंत्रण करती हैं। (iv) कई व्यवसायों का प्रबन्ध करने के कारण प्रबन्धक ऐजेन्ट हिस्सों को अपने अधिकार में नहीं रखते और वे बहुधा नये कार्यक्षेत्रों में दखल देते हैं।

(i) बम्बई की प्रबन्धकारिणी ऐजेन्सियाँ मुख्यतया भारतीय हैं। (ii) उसके संगठन का आधार पैतृक है अर्थात् पिता के बाद पुत्र एजेन्सी का काम सम्भलता है। नये साझेदारों के प्रवेश की कोई गुन्जाइश नहीं है। (iii) साधारणतया ये एजेन्सियाँ एक ही उद्योग का प्रबन्ध करती हैं। (iv) यहाँ के प्रबन्धक हिस्सों को अपने अधिकार में रखते हैं।

भारत में प्रबन्धकारिणी ऐजेन्सी का स्थान (The Managing Agency System—its role in India)

प्रबन्धकारिणी एजेन्सी भारत के औद्योगिक संगठन का महत्त्वपूर्ण भाग है। बहुधा इस प्रणाली के पक्ष और विपक्ष में अनेक बातें कही जाती हैं। (i) प्रबन्धक ऐजेन्टों के अनुभव के कारण उद्योग का संगठन बहुत अच्छे ढंग से हो जाता है। (ii) प्रबन्धक ऐजेन्ट उद्योग की पूँजी का प्रबन्ध करने में बहुत सहायता करते हैं इससे उद्योग की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ रहती है। (iii) इन ऐजेन्सियों में संयोजन की विशेषतायें होने के कारण व्यवसाय को संयोजन के लाभ भी मिल जाते हैं। इसके विपरीत प्रबन्धक एजेन्टों में कुछ दोष भी हैं। (i) वे बहुधा एक कम्पनी की द्रव्यनिधि को अपने ही नियंत्रण वाली दूसरी कम्पनी में लगा देते हैं। इससे पहली कम्पनी का जोखिम अनावश्यक ही बढ़ जाता है। (ii) कभी-कभी अनेक कम्पनियों का प्रबन्ध करने के कारण नियंत्रण उचित रूप से नहीं हो पाता। (iii) योरपीय एजेन्सियाँ भारतीयों की उचित पदों पर नियुक्ति नहीं करती हैं। इत्यादि। इन सब दोषों के कारण अक्सर कहा जाता है कि प्रबन्धकारिणी एजेन्सी प्रणाली को समाप्त कर देना चाहिये।

वर्तमान समय में प्रबन्धकारिणी एजेन्सियाँ भारत के औद्योगिक संगठन का आधार हैं। उन्हें एकबारगी समाप्त नहीं किया जा सकता। हमें उसके दोषों को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिये। पार्लियामेंट में कम्पनीज बिल (Companies Bill, May 1954) पर अपने विचार प्रकट करते हुए तत्कालीन वित्तमंत्री श्री देशमुख ने भी यही मत प्रकट किया था कि इस प्रणाली को समाप्त करने के बजाय सुधारना चाहिये (The system should be mended and nor ended)। देश में पूँजी के अभाव के समय इस प्रणाली को समाप्त कर देना उचित नहीं होगा।

सन् १९५५ में भारत सरकार ने एक नया इन्डियन कम्पनीज एक्ट[1] पास किया। **इस नये अधिनियम का उद्देश्य** प्रबन्धकारिणी एजेन्सियों की उन कुरीतियों का परिहार था जो सन् १९३६ से लेकर अब तक दृष्टिगोचर हुई थी। व्यवहार में प्रबन्धकारिणी एजेन्सियों ने सन् १९३६ के कम्पनीज एक्ट से बचकर अपनी स्वार्थ-सिद्धि के अनेक उपाय अपना लिये थे। **सन् १९५५ के अधिनियम का दूसरा उद्देश्य यह था** कि सरकार जनता और हिस्सेदारों के हितों की रक्षा के लिये कदम उठाये। **तीसरे सन् १९३६ से लेकर अब तक** देश के औद्योगिक साहसोद्यम में पर्याप्त परिवर्तन हो चुके हैं। अतएव संयुक्त पूँजी कम्पनियों को इस नये वातावरण के अनुकूल ढलना चाहिये। इन्हीं उद्देश्यों से सन् १९५५ में नया कम्पनीज एक्ट पास हुआ जिसने प्रबन्धकारिणी एजेन्सी के अधिकारों और शक्तियों को बहुत सीमित कर दिया है। उदाहरण के लिये १५ अगस्त १९६० अथवा निश्चित तिथि के तीन वर्ष बाद—इनमें जो भी बाद में हो। —प्रबन्धकारिणी एजेन्सी उन उद्योगों का प्रबन्ध बन्द कर देगी। १५ अगस्त १९६० के बाद कोई एजेन्सी १० कम्पनियों से अधिक का प्रबन्ध अपने हाथ में न लेगी। जहाँ तक प्रतिफल का प्रश्न है, वह वार्षिक वास्तविक लाभ का १० प्रतिशत निश्चित किया गया है। इस प्रकार की अन्य व्यवस्थाओं द्वारा यह चेष्टा की गई है कि प्रबन्धकारिणी एजेन्सियों का परिहार हो जाय तथा देश के औद्योगिक विकास में वे अपना पार्ट अदा करती रहें।

अन्त में हम कह सकते हैं कि भारत के औद्योगिक संगठन में प्रबन्धकारिणी ऐजेन्सियों

---

[1]स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से ही प्रबन्धकारिणी एजेन्सी के दोषों को दूर करने के लिये सरकार प्रयत्नशील रही है। दिसम्बर सन् १९४९ में वाणिज्य मंत्रालय ने संगठित औद्योगिक एवम् व्यवसायिक निकायों तथा राज्यसरकारों की राय लेने के लिये नये कम्पनी विधान का एक स्मृति-पत्र प्रसारित किया। इनका मत प्राप्त होने पर श्री सी० एच० भाभा की अध्यक्षता में कम्पनी ला कमेटी की नियुक्ति हुई जिसने जनवरी १९५२ में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। इस रिपोर्ट के आधार पर ही १९५५ का नया कम्पनीज एक्ट बना है।

का महत्त्वपूर्ण स्थान है । हमें उनके दोषों को दूर करना चाहिये ताकि वे औद्योगिक विकास में और अधिक सहायता कर सकें ।

औद्योगिक संगठन के अन्य रूप (Other Forms of Industrial Organisation)

(१) सहकारी संगठन—इसके दो मुख्य रूप हैं ।

(क) उत्पादक-सहकारिता (Producer's cooperation) तथा

(ख) उपभोक्ता-सहकारिता (Consumer's cooperation)

जब कुछ व्यक्ति सहकारिता के उपनियमों के अनुसार एक समिति बना लेते हैं तथा पूँजी एकत्रित करके अपने व्यवस्थापक आदि रखकर उत्पादन करते हैं तो इसे उत्पादक सहकारिता कहा जाता है । समस्त व्ययों को निकालकर लाभ को आपस में बाँट लिया जाता है । इस प्रकार का उत्पादन बहुत छोटे पैमाने पर होता है तथा उन्हीं वस्तुओं को बनाया जाता है जिनके लिये अधिक पूँजी की आवश्यकता न हो ।

उपभोक्ता भी सहकारी (consumer's store) भण्डार की स्थापना करते हैं जिसमें बाजार से थोक भाव पर चीजें खरीदकर फुटकर दामों पर बेची जाती है । साधारणतया प्रत्येक व्यक्ति के क्रय की मात्रा के आधार पर लाभ को आपस में बाँट दिया जाता है । इंगलैंड में इस प्रकार का संगठन बहुत सफल हुआ है ।

२. सरकारी उद्योग (Govt. Enterprise)

उद्योगों का संगठन सरकार द्वारा भी किया जाता है । इस प्रकार के औद्योगिक संगठन की बागडोर सरकारी कर्मचारियों के हाथ में होती है जिन्हें राज्यकोष से वेतन मिलता है । जो कुछ लाभ होता है वह भी सरकार को ही मिलता है । सरकार उद्योग के लिये पूँजी तथा उचित और निपुण व्यक्ति सरलता से पा सकती है । इसलिये सरकारी उद्योग का संगठन अधिक सुदृढ़ और अच्छा होना चाहिये । यदि सरकारी कर्मचारी उद्योग के संगठन में दिलचस्पी नहीं लेते वरन् केवल काम टालते हैं तब इस प्रकार का संगठन शिथिल हो जाता है । पूँजीवादी व्यवस्था में देश के हित के लिये कतिपय मुख्य व्यवसायों जैसे सुरक्षा के सामान आदि को सरकार अपने हाथ में रखती है क्योंकि व्यक्तिगत व्यवसाय में निजस्वार्थ के सामने देश के हित का ध्यान नहीं रखा जाता । वे ऐसे व्यवसाय भी नहीं चलाते, भले ही वे देश के लिये कितने ही महत्त्वपूर्ण क्यों न हों, जिनमें उन्हें लाभ नहीं होता । ऐसे व्यवसायों को भी सरकार अपने हाथ में ले लेती है ।

उद्योगों का राष्ट्रीयकरण

व्यक्तिगत उद्योगों पर जब सरकार अधिकार कर लेती है तो उसे उद्योगों का

राष्ट्रीयकरण (Nationalisation of industries) कहते हैं। सरकार उद्योगों का राष्ट्रीयकरण समाज के हित के लिये ही करती है। अतएव राष्ट्रीयकरण से हम अनेक लाभों की अपेक्षा कर सकते हैं।

राष्ट्रीयकरण से लाभ

(i) उद्योगों का राष्ट्रीयकरण पूँजी के केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति का प्रतिरोध करता है। राज्य स्वयं उद्योग का स्वामी होता है अतएव पूँजी पूँजीपतियों के हाथ में न जाकर राज्य के हाथ में आती है जो सामाजिक हित के अनुसार उसका विनियोग करता है।

(ii) राष्ट्रीयकरण द्वारा देश के संतुलित औद्योगिक विकास की योजना बनाई और कार्यान्वित की जा सकती है। निजी उत्पादक अपने स्वार्थ के सामने देश के हित को ध्यान में नहीं रखते। वे उन्हीं उद्योगों को अपनाते हैं तथा उन्हें वहीं स्थापित करते हैं जहाँ उनकी स्वार्थसिद्धि हो। राष्ट्रीयकरण होने पर ऐसा नहीं होगा। सरकार ऐसे उद्योगों की स्थापना करेगी जो समाज के लिये हितकर हो, भले ही उनसे लाभ अतिअल्प या न हो। सरकार देश के पिछड़े हुये क्षेत्रों में भी उद्योगों की स्थापना करेगी क्योंकि उसका उद्देश्य देश का संतुलित विकास करना होता है।

(iii) यदि किसी देश में उद्योगों के राष्ट्रीयकरण की व्यापक नीति अपनाई जाय, और सभी उद्योगों को सरकार अपने हाथ में ले ले, तो उत्पादन और मूल्यों पर सरकार का नियंत्रण हो जायगा और सरकार देश को मंदी-मँहगी के व्यापारिक-चक्र से अपेक्षाकृत अधिक सफलता से बचा सकेगी। कुछ अर्थशास्त्रियों का मत है कि समाजवादी देशों में जहाँ उत्पादन पर सरकार का पूर्ण नियंत्रण होता है, व्यापारिक-चक्र होते ही नहीं।

(iv) राष्ट्रीयकरण होने पर उद्योग सामाजिक हित की दृष्टि से संचालित होंगे। अतएव वस्तुओं में मिलावट आदि बन्द हो जायगी। श्रमिक वर्ग का शोषण समाप्त हो जायगा। इस प्रकार श्रम और पूँजी का संघर्ष भी मिट जायगा। समाज में विभिन्न वर्गों के बीच सहृदयतापूर्ण सम्बन्ध स्थापित होंगे तथा कटुता का विनाश होगा क्योंकि राष्ट्रीयकरण के पश्चात् किसी वर्ग का हित दूसरे वर्ग का विरोधी नहीं रहेगा। पूँजीवादी-व्यवस्था में पूँजीपतियों का हित श्रमिकों के हित का विरोधी होता है।

(v) सभी उद्योगों का राष्ट्रीयकरण होने पर उद्योगों का यथासंभव समान विकास होगा। पूँजीवादी व्यवस्था में कुछ उद्योग तो विकास की चरम सीमा प्राप्त कर लेते हैं तथा कुछ पिछड़े रहते हैं। सरकार का अधिकार होने पर विभिन्न उद्योगों की विकास सम्बन्धी विषमता बहुत कुछ कम हो जायगी।

(vi) व्यापक रूप से राष्ट्रीयकरण की नीति अपनाने से विभिन्न उद्योगों के

बीच पारस्परिक ईर्ष्या की भावना मिट जायगी तथा किसी एक उद्योग के भीतर प्रतिस्पर्धा का अन्त हो जायगा। फलतः उद्योग के विकास के लिये स्वास्थ्य कर परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जायँगी।

(vii) राष्ट्रीयकरण होने पर राज्य उद्योग-धन्धों का स्वामित्व प्राप्त कर लेगा तथा उद्योगों में लगे कर्मचारी राजकीय सेवि वर्ग हो जायँगे। राजकीय सेवाओं के प्रति लोग स्वभावतः ही आकर्षित होते हैं क्योंकि उनमें स्थायित्व होता है तथा प्रशासन हेतु समाज की प्रतिनिधि संस्था अर्थात् राज्य की सेवा में वे गौरवान्वित अनुभव करते हैं क्योंकि अब वे किसी पूँजीपति के सेवक नहीं कहलायेंगे। फलतः राज्य उद्योगों के संचालन हेतु विशेषज्ञ एवम् कर्मचारी अपेक्षाकृत कम लागत पर प्राप्त कर सकता है और इस प्रकार लागत कम हो जाती है।

जहाँ राष्ट्रीयकरण से इतने लाभ हैं, वहाँ इससे कुछ हानियाँ भी सम्भव हैं।

राष्ट्रीयकरण से हानि

(i) राष्ट्रीयकरण होने पर उद्योगों का संचालन राज्य कर्मचारी करेंगे। राज्य कर्मचारी व्यवसाय के प्रति उतने सतर्क नहीं रहेंगे। वे औपचारिकता (Formalities) को अधिक महत्त्व देंगे जिसके फलस्वरूप कुशलता में कमी होगी।

(ii) राज्य का मुख्य कार्य प्रशासन है, व्यवसाय करना नहीं। राज्य एक ऐसी संस्था है जिसका उद्देश्य जनता के लिये कल्याण कार्य करना है। अतएव राज्य द्वारा उद्योगों का राष्ट्रीयकरण हो जाने पर, मूल्य कम दर पर निश्चित करने तथा मजदूरी ऊँची दर पर निश्चित करने की माँग होने लगती है। राज्य को आदर्श नियोक्ता (ideal employer) होना चाहिये, मजदूर यह कहकर अधिक मजदूरी माँगते हैं। उपभोक्ता राज्य के आदर्श उत्पादक होने की दुहाई देकर मूल्य कम करने की माँग करते हैं। परिणाम यह होता है (या हो सकता है) कि आर्थिक दृष्टि से राज्य द्वारा संचालित उद्योग उतने अच्छे आर्थिक आधार पर नहीं रह पाते जितना कि वे अन्यथा होते हैं।

(iii) राष्ट्रीयकरण से एक संभावित हानि यह भी हो सकती है कि अत्यधिक औपचारिकता के ढर्रे में फँस जाने से उत्पादन पहले की अपेक्षा कम हो जाय। इसका कारण यह है कि राजकीय कर्मचारी वैतनिक होते हैं। उनमें व्यक्तिगत उत्पादकों की सी प्रेरक शक्ति का अभाव होता है। अतएव वे उतना मन लगाकर काम नहीं करते।

(iv) राष्ट्रीयकरण से जोखिम उठाने वाले साहसोद्यमियों को विकास का कोई अवसर नहीं मिलेगा। इसके अलावा सरकार व्यक्तिगत उत्पादकों की तुलना में जोखिम उठाने में हिचक सकती है क्योंकि सरकारी द्रव्य समाज का होता है। उसे

सोच-समझकर ही लगाना पड़ता है इसलिये सरकार जोखिम उठाने के सम्बन्ध में, नये-नये उद्योग खोलने के सम्बन्ध में अत्यन्त सावधानी की नीति बरतेगी जिससे देश का औद्योगीकरण पिछड़ सकता है। व्यक्तिगत साहसोद्यमियों के निर्णय अधिक शीघ्रता से होते हैं। वे लाभ कमाने के लिए पूँजी दाँव पर लगाने से अपेक्षाकृत कम हिचकते हैं।

(v) राष्ट्रीयकरण से देश की आर्थिक स्वतंत्रता समाप्त हो जायगी। इस प्रकार समाज पूर्णतः राज्य के आधिपत्य में आ जायगा। उपभोक्ता की कोई स्वतंत्रता न रहेगी। इत्यादि।

राष्ट्रीयकरण के सम्बन्ध में जो हानियाँ बताई जाती हैं, यदि उन पर गम्भीरता से विचार किया जाय तो पता चलेगा कि वे निवारणीय हैं। उदाहरण के लिये, औपचारिकताओं (Formalities) में फँस कर उत्पादन व्यवस्था के शिथिल होने की हानि को कर्मचारियों के उचित नियंत्रण द्वारा दूर किया जा सकता है। वैतनिक होने के कारण कर्मचारियों में प्रेरक शक्ति के अभाव की ओर संकेत किया जाता है। इसे दूर करने के लिये हम निश्चित वेतन देने के स्थान पर प्रतिफल देने का कोई अन्य ढंग ढूँढ़ सकते हैं जिससे कर्मचारी पूरी दिलचस्पी से काम करें।

सच तो यह है कि पूँजीवादी व्यवस्था के दोषों के निराकरण के लिये किसी न किसी स्थिति में उद्योगों का राष्ट्रीयकरण अवश्यम्भावी ही है। हमारे देश में भी सरकार उद्योगों पर प्रतिदिन अपना अधिकार बढ़ाती जा रही है। इससे एक ओर तो औद्योगिक विकास हो रहा है, दूसरी ओर हम समाजवाद की स्थापना की ओर बढ़ते जा रहे हैं।

EXERCISES

1. Explain the causes that lead to the growth of combinations in industries. Allad. U. B. A. 1950

2. Write a short note on—Joint Stock Company.
Agra U. B. A. 1950

3. Discuss the causes which are responsible for the growth of Trusts, Monopolies and other combinations. Discuss their advantages and disadvantages. Are there any combinations in India ?
Rajputana U. B. A. 1950

4. Write a short note on Trusts and Kartels.
Rajputana U. B. A. 1949

5. Write a short note on Trusts and Kartels.
Rajputana U. B. A. 1950

6. State the main forms of Entrepreneurial organisation. Discuss briefly their merits and demerits. Agra U. 1949

7. What are the causes and effects of Industrial Combinations Mention any such Combination in India and comment on it working.

Agra U. 194(

8. Describe the importance of the Indian managing Agency system and show how its working can be improved.

Allad. U. B. A 1956

9. What do you understand by 'scientific management'? How does it differ from rationalzation.

Allad. U. B. A. Part 1. 1957.

अर्घ के सिद्धान्त

या

मूल्य निर्धारण

LUE OR PRICE DETERMINATION

अध्याय २२

पृष्ठभूमि

(THE BACKGROUND)

अर्घ के सिद्धान्तों में वस्तुओं के मूल्य-निर्धारण का अध्ययन किया जाता है। मूल्य-निर्धारण अनेक बातों पर निर्भर होता है। अतः मूल्य-निर्धारण की चर्चा करने से पहले हमें इस समस्या की पृष्ठभूमि समझ लेनी चाहिये।

किसी भी वस्तु के उद्योग (industry) को लीजिये। इस उद्योग में उस वस्तु को बनानेवाली अनेक फर्में (firms) होंगी। इन फर्मों में आपस में स्वतन्त्र प्रतिस्पर्धा भी हो सकती हैं अर्थात् वस्तुओं को बेचने के लिये वे एक दूसरे से पूर्ण रूप से होड़ कर सकती है। ऐसा भी हो सकता है कि स्पर्धा अपूर्ण हो। इस स्थिति में फर्में पहली स्थिति के बराबर होड़ नहीं कर सकतीं। इन दोनों स्थितियों का मूल्य पर बहुत प्रभाव पड़ेगा। अतः मूल्य-निर्धारण की समस्या को हम मोटे तौर पर दो भागों में विभाजित कर सकते हैं।

(१) उद्योग की फर्मों में पूर्ण प्रतिस्पर्धा की स्थिति में मूल्य-निर्धारण तथा,

(२) उद्योग की फर्मों में अपूर्ण प्रतिस्पर्धा की स्थिति में मूल्य-निर्धारण।

पूर्ण और अपूर्ण प्रतिस्पर्धा का अर्थ आगे चलकर स्पष्ट हो जायगा।

इसके अतिरिक्त मूल्य-निर्धारण पर समय तथा परिस्थितियों का भी प्रभाव पड़ता है। अल्पकाल में वस्तुओं के मूल्य-निर्धारण में जो शक्तियाँ प्रभावपूर्ण होती हैं दीर्घ काल में उनका इतना प्रभाव नहीं रहता है। उत्पादन की परिस्थितियाँ भी मूल्य पर प्रभाव डालती हैं। यदि परिस्थितियाँ परिवर्तनशील हैं तो उस समय के वस्तु के मूल्य तथा अपरिवर्तनशील परिस्थितियों की दशा में निश्चित मूल्य में भी अन्तर होता है। परिवर्तनशील परिस्थितियों से तात्पर्य यह है कि जिन कारणों पर वस्तु का मूल्य निर्भर होता हैं, वे सभी बदलते रहते हैं। अर्थशास्त्र में इन परिस्थितियों को प्रवैगिक दशा (Dynamic State) कहते हैं। अपरिवर्तनशील परिस्थितियों में वस्तु के मूल्य को प्रभावित करने वाले सभी कारण उदाहरणार्थ जनसंख्या, मनुष्यों का स्वभाव और अभिरुचि, उत्पादन की विधि आदि अपरिवर्तित रहते हैं। इस स्थिति में भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों एक से ही होते हैं। यदि आज वस्तु की माँग ५० इकाई है और उसकी पूर्ति भी ५० इकाई है तथा भविष्य और भूतकाल में भी यही दशा थी (या रहेगी) तो यह अपरिवर्तनशील स्थिति है जिसे अर्थशास्त्र में स्थैतिक स्थिति (Static State) कहते हैं। यह एक कल्पित परिस्थिति ही है और व्यवहार

में नहीं पाई जाती। इस परिस्थिति में समय की अवधि कोई महत्त्व नहीं रखती क्योंकि भूत, भविष्य और वर्तमान एक से ही हैं। अब हम अर्घ के सिद्धान्त की समस्या को इस प्रकार रख सकते हैं।
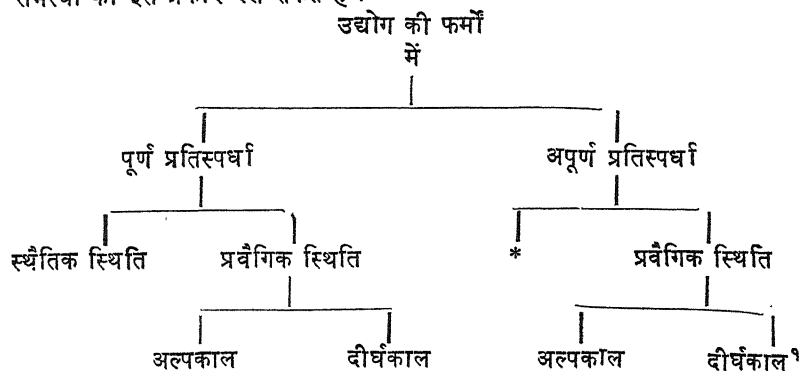
इस प्रकार मूल्य-निर्धारण में निम्नलिखित समस्यायें उत्पन्न होती हैं।

पूर्ण प्रतिस्पर्धा

(१) पूर्ण प्रतिस्पर्धा स्थैतिक स्थिति में मूल्य-निर्धारण,

(२) पूर्ण प्रतिस्पर्धा प्रवैगिक स्थिति तथा अल्प काल में मूल्य-निर्धारण

(३) पूर्ण प्रतिस्पर्धा प्रवैगिक स्थिति तथा दीर्घकाल में मूल्य-निर्धारण[2]

अपूर्ण प्रतिस्पर्धा

(४) अपूर्ण प्रतिस्पर्धा प्रवैगिक स्थिति तथा अल्पकाल में मूल्य-निर्धारण। इनके अतिरिक्त मूल्य-निर्धारण की पाँचवीं समस्या प्रतिस्पर्धा के अभाव अर्थात् एकाधिकार में उत्पन्न होती है।

(५) एकाधिकार में मूल्य-निर्धारण।

मूल्य-निर्धारण की समस्या के उपर्युक्त वर्गीकरण के पश्चात् हम उन आधारभूत विचारों को स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे जिनका प्रयोग आगे किया जायगा।

माँग और पूर्ति (Supply and Demand)

'माँग' के अध्याय में हम माँग के अर्थ तथा उसके नियम को स्पष्ट कर चुके हैं।

---

*अपूर्ण प्रतिस्पर्धा का संयोग स्थैतिक स्थिति से नहीं होता। इसका कारण अपूर्ण प्रतिस्पर्धा में मूल्य-निर्धारण करते समय स्पष्ट हो जायगा।

[1] प्रवैगिक स्थिति की विशेषता परिवर्तन है। अतः दीर्घकाल (जब माँग और पूर्ति व्यवस्थित की जा सकें) आता ही नहीं क्योंकि पूर्ति व्यवस्थित होने से पहले ही माँग आदि में परिवर्तन हो जाते हैं और वस्तुओं का मूल्य-निर्धारण अल्पकाल से ही सम्बन्धित रहता है।

[2] इसके अन्तर्गत दो बातों का अध्ययन होता है। सामान्य मूल्य तथा प्रतिनिधि फर्म। अगले अध्याय देखिये।

पूर्ति से तात्पर्य किसी वस्तु की उस मात्रा से है जिसे एक बेचने वाला दिये हुए मूल्य पर देने को तैयार है। विभिन्न मूल्यों पर वस्तुओं की विभिन्न मात्रा की पूर्ति सम्भव होगी। यदि हम इसे एक रेखाचित्र में दिखाना चाहें तो हमें पूर्ति की रेखा मिल जायगी। बेचनेवाला वस्तु का अधिक मूल्य मिलने पर अधिक मात्रा देने को तैयार होगा। कम मूल्य पर पूर्ति की मात्रा कम होती जायगी। यही पूर्ति का नियम है जिसके अनुसार वस्तु का मूल्य बढ़ने पर उसकी पूर्ति बढ़ जाती है तथा मूल्य घटने पर पूर्ति घट जाती है। नीचे के चित्र में पूर्ति की रेखा दिखाई गई है जो पूर्ति के नियम को भी स्पष्ट कर रही है।
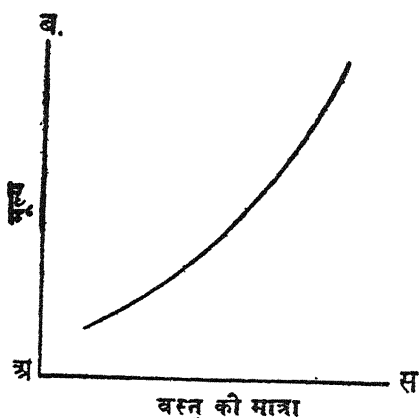
किसी वस्तु की पूर्ति निश्चित करने में अनेक उपकरणों (Factors) का हाथ होता है जिसमें सबसे मुख्य उत्पादन की लागत है। अतः उत्पादन की लागत और उसके भेदों को अच्छी तरह समझ लेना चाहिये।

द्राव्यिक लागत तथा वास्तविक लागत (Money Cost and Real Cost)

यह वर्गीकरण मार्शल द्वारा किया गया है। उनके अनुसार किसी वस्तु के उत्पादन में खर्च किया हुआ द्रव्य वस्तु की उस मात्रा की द्राव्यिक लागत है। इसके अन्तर्गत कच्चे माल पर किया हुआ व्यय, मजदूरी, पूँजी का ब्याज, संगठनकर्त्ता का वेतन आदि (वस्तु के उत्पादन में प्रयुक्त) सभी द्राव्यिक खर्च द्राव्यिक लागत के अन्तर्गत हैं।

वास्तविक लागत उत्पादन से प्रयुक्त द्रव्य के अतिरिक्त अन्य त्याग हैं। एक ऐसे व्यवसाय में जिसमें काम करना अधिक कष्टदायक हो वास्तविक लागत अधिक होगी, भले ही द्राव्यिक लागत दूसरे व्यवसाय की द्राव्यिक लागत के बराबर हो। साधारणतया वास्तविक लागत द्राव्यिक लागत के अन्दर शामिल होती है। ऐसे व्यवसाय में जहाँ काम करना अधिक कष्टदायक हो अपेक्षाकृत मजदूरी भी अधिक होती है। मजदूरी की यह अधिकता वास्तविक लागत का ही माप है।

औसत लागत तथा सीमान्त लागत (Average Cost and Marginal Cost)

एक उत्पादक को यह ध्यान में रखना पड़ता है कि वस्तु की सीमान्त लागत और औसत लागत उत्पादन की विभिन्न मात्राओं पर कितनी है। दी हुई मात्रा के

उत्पादन की कुल लागत को वस्तु की इकाइयों से भाग देकर औसत लागत जानी जा सकती है। सीमान्त लागत वस्तु की एक अधिक इकाई बनाने में लगी हुई लागत को कहते हैं। यदि एक व्यक्ति वस्तु की दस इकाइयाँ बनाता है और उसमें कुल लागत सौ रुपये हो तो औसत लागत दस रुपये प्रति इकाई होगी।

प्रत्युपलब्धि नियमों के सम्बन्ध में हम कह चुके हैं कि औसत लागत प्रारम्भ में घटती है तथा न्यूनतम होने के बाद बढ़ने लगती है। जब तक औसत लागत घटती रहती है सीमान्त लागत उसकी अपेक्षा अधिक घटती है तथा न्यूनतम औसत लागत के बराबर होने के बाद औसत लागत के साथ ही उससे अधिक तेजी से बढ़ती है। नीचे की सारिणी में हम औसत और सीमान्त लागत के इसी व्यवहार को दिखा रहे हैं।

वस्तु की इकाइयाँ	कुल लागत द्रव्य में	सीमान्त लागत द्रव्य में	औसत लागत द्रव्य में
१	१५	—	१५
२	२८	१३	१४
३	३९	११	१३
४	५२	१३	१३
५	७०	१८	१४
६	९६	२६	१६

उपर्युक्त सारिणी में वस्तु की चार इकाइयों तक औसत लागत घटती जाती है। सीमान्त लागत औसत लागत की अपेक्षा अधिक तेजी से घट रही है। चौथी इकाई पर सीमान्त और औसत लागत बराबर है। इसके बाद औसत लागत बढ़ने लगती है और सीमान्त लागत उससे भी तेजी से बढ़ती है। इन दोनों लागतों को चित्र द्वारा इस प्रकार दिखाया जा सकता है।
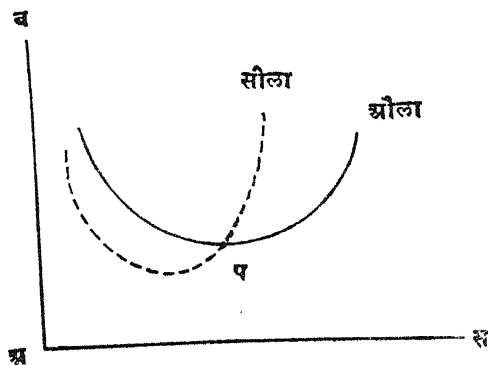
औसत लागत और सीमान्त लागत प्रारंभ में साथ ही साथ घटती हैं तथा प

बिन्दु पर (जहाँ औसत लागत न्यूनतम है) बराबर होकर साथ ही साथ बढ़ती हैं।

प्रधान लागत तथा अनुपूरक लागत या परिवर्ती और अपरिवर्ती लागत (Prime Cost and Supplementary Cost or Fixed Cost and Circulating or Variable Cost)

किसी वस्तु के उत्पादन में कुछ ऐसी लागत होती है जो एक बार लगाई जाती है तथा वस्तु की मात्रा के प्रत्येक परिवर्तन के साथ वह नहीं बदलती। उदाहरण के लिये कारखाने में लगी हुई मशीनों की लागत इसी प्रकार की है। इस लागत को अनुपूरक लागत कहते हैं।

वह लागत जो वस्तु की प्रत्येक मात्रा के परिवर्तन के साथ बदलती जाती है, प्रधान लागत है।

ज्यों-ज्यों वस्तु का उत्पादन बढ़ता जाता है वस्तु की प्रत्येक इकाई पर अनुपूरक लागत कम होती जाती है। यदि किसी कारखाने में एक बार मशीन लगाने में एक हजार रुपये की लागत लगी हो तो वस्तु की मात्रा की वृद्धि के साथ प्रति इकाई अनुपूरक लागत कम होती जायगी। वस्तु की सौ, पाँच सौ, एक हजार इकाइयाँ बनाने में प्रति इकाई अनुपूरक लागत घटती हुई क्रमशः दस रुपया, दो रुपया तथा एक रुपया होगी।

प्रति इकाई प्रधान लागत प्रारम्भ में घटती जायगी तथा एक सीमा के बाद उत्पादन करने पर बढ़ती जायगी। इन दोनों लागतों के योग से हमें वस्तु की निर्माण लागत (Manufacturing Cost) मालूम हो जाती है। यदि प्रति इकाई परिवहन लागत भी जोड़ दी जाय तो वस्तु की औसत लागत मालूम हो जायगी। मूल्य निर्धारण में हमें औसत लागत की ही विशेष आवश्यकता पड़ेगी परन्तु उसके तीनों अंशों को याद रखना आवश्यक है।

औसत लागत = प्रति इकाई अनुपूरक लागत + प्रति इकाई प्रधान लागत
+ प्रति इकाई परिवहन लागत।

औसत लागत और सीमान्त लागत की रेखा को हम ऊपर दिखा चुके हैं।

औसत आय तथा सीमान्त आय (Average Revenue and Marginal Revenue)

मूल्य निर्धारण के सम्बन्ध में पूर्ति पक्ष के मूल विचारों को हम देख चुके। अब हम माँग पक्ष पर विचार करेंगे। माँग की रेखा विभिन्न मूल्यों पर माँगी हुई मात्रा दिखाती है। एक उत्पादक की मुख्य दिलचस्पी इस बात में है कि वस्तु की एक मात्रा की माँग पर उसकी औसत आय कितनी है। अतः माँग की रेखा के बजाय वह औसत आय की रेखा जानना अधिक पसन्द करता है। संयोग से यह दोनों एक ही हैं। नीचे दी हुई माँग की सारिणी पर विचार कीजिये।

मूल्य प्रति इकाई	वस्तु की इकाइयाँ या माँग	कुल आय	औसत आय
१०	२०	२००	१०
७	४०	२८०	७
५	६०	३००	५

इत्यादि।

ऊपर की सारिणी में दस रुपये के मूल्य पर बीस इकाइयों की माँग की जाती है और इनसे प्राप्त कुल आय २० × १० रुपये = २०० रुपये हैं। अतः औसत आय २०० ÷ २० रुपये अर्थात् १० रुपये ही हुई जो मूल्य के बराबर है। इस प्रकार औसत आय और वस्तु के मूल्य में कोई अन्तर नहीं है। अतः माँग की रेखा को, जो वस्तु की मात्रा और मूल्यों से सम्बन्धित है, हम औसत आय और वस्तु की मात्रा से भी सम्बन्धित कर सकते हैं। इस दशा में माँग की रेखा को औसत आय रेखा कहते हैं। यह स्पष्ट ही है कि औसत आय की रेखा माँग की रेखा की तरह ही दाहिनी ओर गिरती हुई होगी।

सीमान्त आय वस्तु की एक और इकाई से हुई आय की वृद्धि को कहते हैं। यदि दस इकाइयों से औसत आय दस रुपये हो और इस प्रकार कुल आय १०० रुपये हो, तथा ग्यारह इकाइयों से औसत आय नौ रुपया बारह आना और कुल आय एक
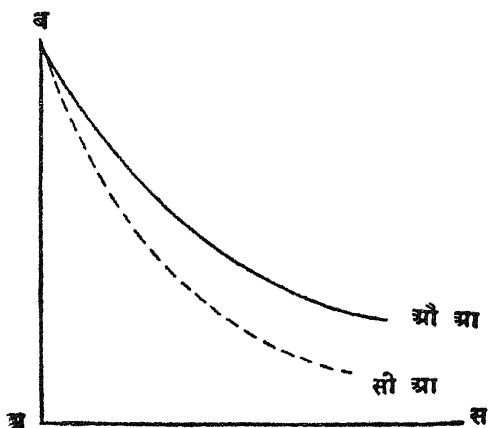
सौ सात रुपये चार आना हो, तो एक सौ सात रुपया चार आना—सौ रुपया = सात रुपया चार आना, सीमान्त आय है। सीमान्त आय औसत आय से कम होती है और

औसत आय की रेखा की तरह यह भी दाहिनी ओर गिरती हुई होती है । केवल उस स्थिति में, जब औसत आय समान रहती है तब सीमान्त आय भी औसत आय के समान होती है । सीमान्त आय और औसत आय को चित्र द्वारा इस प्रकार दिखाया जा सकता है ।

ऊपर के चित्र में औसत आय की रेखा औ आ माँग की रेखा की तरह दाहिनी ओर गिरती हुई है । सीमान्त आय की रेखा भी उसी आकृति की है तथा सीमान्त आय के औसत आय से कम होने के कारण उसके नीचे की ओर स्थित है । जब औसत आय समान रहती है । तो सीमान्त आय भी समान होती है उस स्थिति में औसत आय और सीमान्त आय की रेखा एक ही होती है जैसा कि नीचे दिखाया गया है :

वस्तु की मात्रा	औसत आय	कुल आय	सीमान्त आय
१०	१० रु०	१०० रु०	१० रु०
११	१० रु०	११० रु०	१० रु०
१२	१० रु०	१२० रु०	१० रु०
१३	१० रु०	१३० रु०	१० रु०

ऊपर की सारिणी में औसत आय १०) ही रहती है । औसत आय के समान रहने के कारण ही सीमान्त आय भी १०) रुपये के बराबर ही है । चित्र द्वारा इस स्थिति को एक अनुभूमिक रेखा द्वारा दिखाया जाता है ।
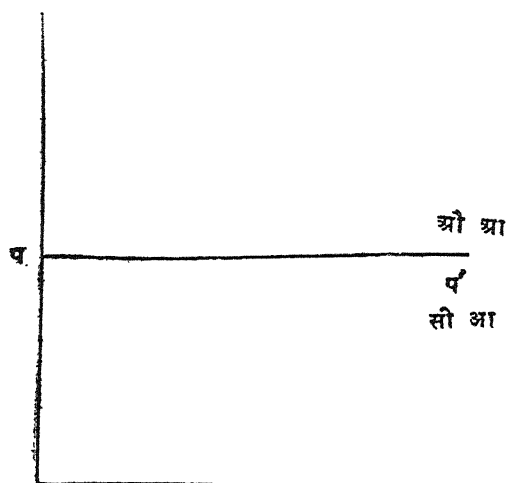
ऊपर के चित्र में प प' अनुभूमिक रेखा औसत तथा सीमान्त आय को दिखा रही है । वस्तु की प्रत्येक मात्रा पर औसत तथा सीमान्त आय के समान रहने के कारण ही रेखा अनुभूमिक है ।

सीमान्त लागत और सीमान्त आय (Marginal Cost and Marginal revenue)

मूल्य-निर्धारण में सीमान्त आय और सीमान्त लागत के विचार बहुत महत्वपूर्ण हैं। अर्थशास्त्र की परिभाषा देते समय हम प्रारम्भ में ही कह चुके हैं कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी सन्तुष्टि को अधिकतम करना चाहता है। उत्पादक भी वस्तु की प्रत्येक इकाई पर लाभ (Surplus) उठाना चाहता है। सीमान्त लागत उसे प्रत्येक वस्तु की अलग अलग लागत बताती है तथा सीमान्त आय प्रत्येक वस्तु से प्राप्त आय बताती है। प्रत्येक वस्तु पर लाभ होने के लिये यह आवश्यक है कि प्रत्येक वस्तु की सीमान्त आय सीमान्त लागत से अधिक हो। अधिकतम लाभ तभी होगा जब वस्तु की इतनी मात्रा का उत्पादन किया जाय कि उस मात्रा पर सीमान्त आय और सीमान्त लागत बराबर हो जाय। (समानता से पहले की इकाइयों पर सीमान्त आय सीमान्त लागत से अधिक होगी) इस मात्रा से अधिक उत्पादन करने पर वस्तु की सीमान्त लागत सीमान्त आय से अधिक होगी और अधिक उत्पन्न की हुई इकाइयों पर उसे हानि होगी।

इस प्रकार सीमान्त लागत और सीमान्त आय के द्वारा हमें वस्तु के उत्पादन की वह मात्रा मालूम हो जाती है जिस पर उत्पादक को अधिकतम लाभ होता है। इस उत्पत्ति की मात्रा से सम्बन्धित औसत आय उस वस्तु का मूल्य भी बता देती है। इस तरह से सीमान्त आय और सीमान्त लागत की समानता से वस्तु का मूल्य निर्धारित होता है। नीचे के चित्र में सीमान्त आय और सीमान्त लागत की रेखायें दिखाई गई हैं। आधुनिक अर्थशास्त्री इसी विधि से मूल्य निर्धारित करते हैं। अगले अध्यायों में हम भी इसी विधि का प्रयोग करेंगे।
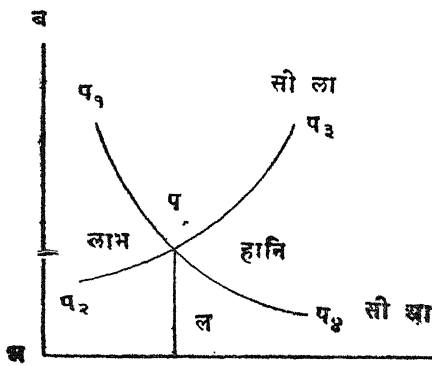
चित्र में सीमान्त आय और सीमान्त लागत की रेखा एक दूसरे को प बिन्दु पर काटती है। इस बिन्दु से सम्बन्धित उत्पत्ति अ ल है। प बिन्दु से बाईं ओर सीमांत लागत सीमांत आय से कम है और इसलिये प बिन्दु तक उत्पादन लाभप्रद है। प बिन्दु से दाहिनी ओर सीमान्त लागत सीमान्त आय से अधिक हैं और इसलिये अल मात्रा से अधिक उत्पादन करने में इन उत्पादित इकाइयों पर उत्पादक को हानि होगी अतः वस्तु की अ ल मात्रा ही उत्पन्न की जायगी।

पूर्ण प्रतिस्पर्धा तथा अपूर्ण प्रतिस्पर्धा (Perfect and Imperfect Competition)

बाजार में पूर्ण प्रतिस्पर्धा उस समय होती है। जब क्रेता और विक्रेता अधिक संख्या में **बिलकुल एक ही प्रकार** की वस्तुओं को खरीदते और बेचते हैं। यह लोग एक दूसरे के अति निकट सम्पर्क में होते हैं तथा आपस में स्वतंत्रतापूर्वक क्रय-विक्रय करते हैं।[१] इस परिभाषा के अनुसार प्रतिस्पर्धा वाले बाजार की चार विशेषतायें हैं।

(१) क्रेताओं और विक्रेताओं की अधिक संख्या

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि 'अधिक' संख्या से क्या तात्पर्य है। क्या आप पाँच सौ की संख्या, अधिक है तथा चार सौ निन्यानबे की कम ? इसका कोई निश्चित उत्तर नहीं दिया जा सकता। केवल इतना कहा जा सकता है कि क्रेताओं और विक्रेताओं की संख्या **इतनी अधिक** होनी चाहिए कि किसी एक के कार्य परिस्थितियों पर कोई विशेष प्रभाव न डाल सकें। यदि क्रेताओं की संख्या केवल दस ही हो किन्तु किसी एक के कार्य परिस्थितियों पर प्रभाव न डाल सकें, तो हमारे लिये यह भी अधिक संख्या है। इसके लिये कोई निश्चित अंक नहीं बताया जा सकता। यदि दो या तीन ही विक्रेता हों तो किसी एक के कार्य प्रभावपूर्ण हो सकते हैं परन्तु जब उनकी संख्या बहुत अधिक हो जाती है तो किसी एक के कार्य कोई विशेष प्रभाव नहीं डाल सकते।

(२) वस्तु की एकरूपता

पूर्ण प्रतिस्पर्धा वाले बाजार के लिये दूसरी आवश्यक शर्त यह है कि क्रय-विक्रय की जाने वाली वस्तु की इकाइयाँ एक रूप हों (तात्पर्य यह है कि विक्रेता द्वारा बेची जाने वाली वस्तु उपभोक्ता के मस्तिष्क में दूसरे विक्रेता की वस्तु से भिन्न न हो)। यह तभी होता है जब वस्तु निश्चित रासायनिक और भौतिक पदार्थ (Substance) से मिलकर बनी हो जैसे नमक, टीन आदि। ऐसी अवस्था में क्रेता और विक्रेता केवल मूल्य द्वारा ही प्रभावित होते हैं।

(३) क्रेताओं और विक्रेताओं का निकट सम्पर्क

क्रेताओं और विक्रेताओं का निकट सम्पर्क में होना भी आवश्यक है। इसका अर्थ यह है कि क्रेता और विक्रेता उन मूल्यों को जानते हैं जिन पर क्रय-विक्रय हो रहा है और उन मूल्यों को भी जानते हैं जिन पर कि अन्य क्रेता और विक्रेता वस्तु खरीदने

---

[१] The competitive market may be defined as a large number of buyers and sellers, all engaged in the purchase and sale of identically similar commodity, who are in close contact one with another and who buy and sell freely among themselves. K.E. Boulding p.p. 49.

और बेचने को तैयार है। यदि एक स्थान के मूल्यों के बारे में दूसरे स्थान के लोगों को पता नहीं है तो प्रतिस्पर्धा पूर्णरूप से नहीं हो सकेगी। साथ ही यदि लोगों को इन सब बातों का ज्ञान भी हो परन्तु उसका फायदा न उठाया जा सके तब भी प्रतिस्पर्धा नहीं हो सकेगी। यदि एक गाँव के लोग यह जानते हों कि दूसरे गाँव में आटे, दाल का भाव सस्ता है परन्तु वहाँ तक जाने क मार्ग बन्द हों तो प्रतिस्पर्धा कैसे होगी? अत: निकट सम्पर्क के लिये यह आवश्यक है कि क्रेताओं और विक्रेताओं को **पूर्ण ज्ञान** हो तथा **गतिशीलता** (Perfect mobility) भी पूर्ण हो।

अविवेचनात्मक व्यवहार (No discrimination)

चौथी आवश्यक शर्त यह है कि क्रेता और विक्रेता एक दूसरे में कोई विवेचन नहीं करेंगे। विक्रेता सभी खरीदारों को एक ही मूल्य पर बेचेंगे। वे ऐसा नहीं कर सकते कि किसी खरीदार को दुकान के पीछे ले जाकर यह कहें कि उसके लिये खास-तौर पर मूल्य कम कर दिया जायगा। इसी प्रकार क्रेता भी वस्तु के मूल्य से ही प्रभावित होंगे (क्योंकि वस्तुयें एकरूप हैं)। कोई क्रेता किसी विक्रेता से इसलिये नहीं खरीदेगा कि वह उसका दोस्त है भले ही वह मूल्य कुछ अधिक ले रहा हो। दूसरे शब्दों में, क्रेताओं और विक्रेताओं में कोई पारस्परिक लगाव (attachment) नहीं होना चाहिये।

वस्तु की एकरूपता के सम्बन्ध में हम कह चुके हैं कि क्रेता और विक्रेता वस्तु के मूल्य से ही प्रभावित होते हैं। वस्तु अपने सम्पूर्ण अर्थ में एक सी ही है। अत: पूर्ण प्रतिस्पर्धा के लिये हम कह सकते हैं कि बाजार में केवल मूल्यों से ही लगाव होना चाहिये। अन्य किसी प्रकार का लगाव—चाहे वह क्रेताओं और विक्रेताओं का पारस्परिक लगाव हो चाहे वस्तु के प्रति लगाव हो—नहीं होना चाहिये।

स्पर्धा के लिये उपर्युक्त बातें आवश्यक हैं। जितनी अधिक मात्रा में यह शर्तें पूरी हो सकेंगी उतनी ही अधिक स्पर्धा सम्भव होगी। अत: पूर्ण प्रतिस्पर्धा के लिये यह आवश्यक है कि उपर्युक्त शर्तें पूरी तरह से लागू हों अर्थात्

(१) क्रेताओं और विक्रेताओं की संख्या अनन्त होनी चाहिये। (An infinite number of buyers and sellers)

(२) व्यवहृत वस्तु एक रूप होनी चाहिये ताकि वस्तु के मूल्य से ही लगाव हो, वस्तु से नहीं। (Absolutely homogeneous commodity)

(३) क्रेता और विक्रेता का अति निकट सम्पर्क होना चाहिये अर्थात् पूर्ण ज्ञान और पूर्ण गतिशीलता होनी चाहिये। (Close contact of buyers and sellers—perfect knowledge, perfect mobility)

(४) क्रेताओं और विक्रेताओं में कोई पारस्परिक लगाव नहीं होना चाहिये। (No attachment amongst buyers and sellers)

पूर्ण प्रतिस्पर्धा की स्थिति में उपर्युक्त कारणों से बाजार में केवल एक ही मूल्य होगा। यह याद रखना चाहिये कि बाजार में एक ही मूल्य का होना पूर्ण प्रतिस्पर्धा का आवश्यक परिणाम है, शर्त नहीं।

एक ऐसे उद्योग को लीजिये जिसकी फर्मों में पूर्ण प्रतिस्पर्धा हो। ऐसी स्थिति में फर्म की माँग की रेखा का क्या रूप होगा? पूर्ण प्रतिस्पर्धा के कारण बाजार में एक ही मूल्य होगा क्योंकि यदि कोई भी व्यक्ति अधिक मूल्य पर बेचने की चेष्टा करेगा तो उसे कोई ग्राहक नहीं मिलेगा। एक फर्म इसी मूल्य पर विक्रय कर सकती है। यदि वह मूल्य जरा भी घटाती है तो सारे ग्राहक उसी के पास आ जायेंगे और उसकी वस्तुओं की माँग अनन्त हो जायगी। पूर्ण प्रतिस्पर्धा की स्थिति में एक फर्म की माँग की रेखा अनुभूमिक (Horizontal) होती है।

प प रेखा पूर्ण प्रतिस्पर्धा में फर्म की माँग की रेखा है। एक ही मूल्य अ प पर वह विभिन्न मात्रा बेचने के लिये तैयार है। यदि वह मूल्य घटाकर अप′ भी करती
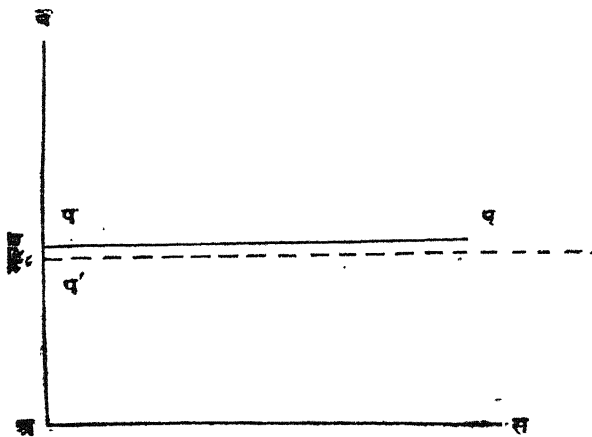
अस अक्ष पर वस्तु की मात्रा दिखाई गई है।

है तो उसकी माँग अनन्त हो जायेगी जैसा कि अनुभूमिक बिन्दु रेखा दिखा रही है। अतः पूर्ण प्रतिस्पर्धा में एक फर्म की माँग की रेखा दाहिनी ओर गिरती हुई न होकर एक अनुभूमिक रेखा होती है।

अपूर्ण प्रतिस्पर्धा (Imperfect competition)

पूर्ण प्रतिस्पर्धा में एक विक्रेता मूल्य पर प्रभाव डालने में शक्तिहीन होता है क्योंकि विक्रेताओं की संख्या अधिक होने के कारण वस्तु की पूर्ति पर प्रभाव डालने

में वह असमर्थ होता है। इसके बिलकुल विपरीत यदि केवल एक ही विक्रेता हो तो वह वस्तु की पूर्ति पर पूरा नियन्त्रण कर सकता है और मूल्य को भी प्रभावित कर सकता है। व्यवहार में न तो पूर्ण प्रतिस्पर्धा ही पाई जाती है और न पूर्ण एकाधिकार ही जहाँ एक विक्रेता मूल्य और पूर्ति पर पूरा प्रभाव डाल सके। व्यवहारिक स्थिति इन दोनों का मिश्रण होती है। व्यवहार में एक फर्म मूल्य या पूर्ति को कुछ अंशों तक प्रभावित कर सकती है—पूर्ण प्रतिस्पर्धा की फर्म की तरह वह प्रभावहीन नहीं होती और न पूर्ण एकाधिकार की फर्म की तरह उसका पूर्ण नियन्त्रण होता है। अतः फर्म कुछ अंशों तक एकाधिकारिक शक्तियों से युक्त होती है तथा कुछ अंशों तक प्रतिस्पर्धा से भी नियन्त्रित रहती है। अतः व्यवहार में हमें न पूर्ण प्रतिस्पर्धा ही मिलती है और न पूर्ण एकाधिकार। व्यवहार में हमें अपूर्ण प्रतिस्पर्धा मिलती है जो प्रतिस्पर्धा और एकाधिकार का मिश्रण है जिसे हम एकाधिकारिक प्रतिस्पर्धा (Monopolistic Competition)[1] कह सकते हैं। नीचे दो सिरों पर पूर्ण प्रतिस्पर्धा और पूर्ण एकाधिकार दिखाया गया है। इसके बीच में इन दोनों का मिश्रण—अपूर्ण प्रतिस्पर्धा या एकाधिकारिक प्रतिस्पर्धा— दिखाया गया है।

पूर्ण प्रतिस्पर्धा	अपूर्ण या एकाधिकारिक प्रतिस्पर्धा	पूर्ण एकाधिकार
(१) फर्म का मूल्य पर कोई नियन्त्रण नहीं होता।	(१) मूल्य पर आंशिक नियन्त्रण होता है।	(१) मूल्य पर अत्यधिक नियन्त्रण, जो केवल सरकारी नियम, सार्वजनिक मत तथा प्रतिस्थापन वस्तुओं से सीमित होता है।
(२) अनेक फर्में उत्पादन करती हैं।	(२) अपेक्षाकृत कम फर्में	(२) केवल एक फर्म
(३) एक रूप वस्तुओं का उत्पादन।	(३) एक ही प्रकार की (एक रूप नहीं) वस्तुओं का उत्पादन। (similar not identical commodities)	(३) एक ही वस्तु का नियन्त्रित उत्पादन।
(४) पूर्ण ज्ञान और पूर्ण गतिशीलता।	(४) अपूर्ण ज्ञान और अपूर्ण गतिशीलता।	(४) गतिशीलता का अभाव।

[1] **देखिये** Theory of Monopolistic Competition—E. H. Chamberlin.

(५) विवेचनात्मक व्यवहार असम्भव ।	(५) कुछ अंशों तक विवेचनात्मक व्यवहार सम्भव ।	(५) अत्यधिक अंशों तक विवेचनात्मक व्यवहार सम्भव है ।

व्यवहार में अपूर्ण प्रतिस्पर्धा ही मिलती है । पूर्ण प्रतिस्पर्धा में एक ही मूल्य होने के कारण विज्ञापन आदि निरर्थक होते हैं। वास्तविक जीवन में सामान्यतः प्रत्येक फर्म अपनी वस्तु और उसके मूल्य का विज्ञापन करती है जो इस बात को और भी स्पष्ट करता है कि व्यवहार में प्रतिस्पर्धा अपूर्ण होती है । क्रेताओं और विक्रेताओं में पारस्परिक लगाव होता है । इसलिये वस्तु का मूल्य घटा देने से किसी फर्म की माँग थोड़ी ही बढ़ेगी; अनन्त नहीं होगी । अतः अपूर्ण प्रतिस्पर्धा में फर्म की माँग की रेखा या औसत आय की रेखा दाहिनी ओर गिरती हुई होगी ।

अपूर्ण या एकाधिकारिक प्रतिस्पर्धा
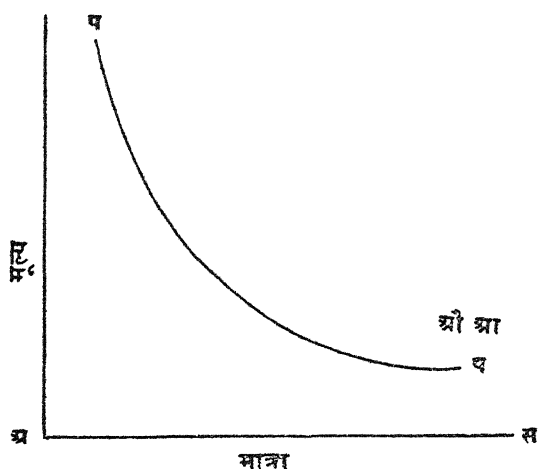
प प अपूर्ण प्रतिस्पर्धा में माँग या औसत आय दिखा रही है । मूल्य के घटने पर फर्म की माँग में सीमित वृद्धि होती है ।

स्थैतिक और प्रवैगिक स्थिति (Static State and Dynamic State)

स्थैतिक स्थिति वह कल्पित दशा है जिसमें परिवर्तन के कारण अपरिवर्तित रहते हैं । अमेरिकन अर्थशास्त्री जे० बी० क्लार्क (J. B. Clark) के अनुसार स्थैतिक स्थिति उसे कहते हैं जब परिवर्तन के कारण, जिन्हें मोटे तौर पर पाँच भागों में विभाजित किया जा सकता है, अपरिवर्तित रहते हैं । यह पाँच अपरिवर्तित रहने वाले कारण निम्न हैं ।

(१) जनसंख्या के परिवर्तन (Changes in population)

(२) पूँजी में परिवर्तन (Changes in capital)

(३) उत्पादन-विधि में परिवर्तन (Changes in the method of production)

(४) औद्योगिक संगठन के रूप में परिवर्तन (Changes in forms of industrial organisatoin)

(५) आवश्यकताओं में परिवर्तन (Changes in the system of wants)

क्लार्क का कहना है कि सच्ची स्थैतिक स्थिति उस समय होगी जब परिवर्तन के कारणों के अपरिवर्तित रहने पर उद्योग के समूह और उपसमूहों के बीच गति बन्द हो जायेगी।

मार्शल के कथनानुसार स्थैतिक स्थिति उसे कहते हैं जहाँ समय की प्रत्येक इकाई में साधनों का प्रवाह स्थिर (Constant) होता है। परिवर्तन होते अवश्य हैं परन्तु वे इस प्रकार के हैं कि उनसे अन्तिम परिणाम पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। मार्शल ने स्थैतिक स्थिति को कोई महत्त्व नहीं दिया है, उन्होंने स्थैतिक विधि पर जोर दिया है। स्थैतिक विधि (Static method) में किसी एक केन्द्र बिन्दु को ध्यान में रखकर उसे स्थैतिक मान लिया जाता है। फिर उसे प्रभावित करने वाले कारणों से उस पर पड़े हुए प्रभावों का अध्ययन किया जाता है।

प्रवैगिक स्थिति उस स्थिति को कहते हैं जहाँ परिवर्तन के कारणों में बराबर परिवर्तन होता रहता है। जनसंख्या, आवश्यकतायें, पूँजी की मात्रा, उत्पादन विधि आदि सभी बदलती रहती हैं। व्यवहार में प्रवैगिक स्थिति ही पाई जाती है।

संतुलन या संस्थिति (Equilibrium)

संतुलन या संस्थिति अर्थशास्त्र में उस स्थिति को कहते हैं जिसमें स्थित होने पर परिवर्तन की प्रवृत्ति नहीं होती। जब एक फर्म सन्तुलन में होती है तो उसमें प्रसार और संकुचन की प्रवृत्ति नहीं होती। फर्म में प्रसार उस समय होता है जब उसे लाभ हो रहा हो तथा संकुचन उस समय होता है जब उसे हानि हो रही हो। अतः यह भी कहा जा सकता है कि सन्तुलन की स्थिति में फर्म में न लाभ होते हैं न हानि।

स्थैतिक सन्तुलन या संस्थिति उसे कहते हैं जो दिये हुए समय के बाहर भी सन्तुलन में रहे। प्रवैगिक सन्तुलन प्रतिक्षण बदलता रहता है।

दीर्घकाल और अल्पकाल (Long Period and Short Period)

उत्पादन में समय का बहुत महत्त्व होता है। दीर्घकाल उसे कहते हैं जिसमें कि एक उत्पादन की इकाई या फर्म (A production unit or a firm) मूल्य के

परिवर्तन के अनुसार पूर्ति को व्यवस्थित कर लेती है। ऐसी अवधि से कम समय अल्पकाल कहलाता है। अल्पकाल में एक फर्म पूर्ति को मूल्य के परिवर्तन या माँग के अनुसार व्यवस्थित नहीं कर पातीं।

स्थैतिक स्थिति में सभी चीजों के स्थिर रहने की वजह से अल्प और दीर्घकाल का कोई महत्त्व नहीं होता। प्रवैगिक स्थिति में ही अल्पकाल और दीर्घकाल होते हैं। वास्तव में प्रवैगिक स्थिति, जो व्यवहार के अधिक निकट है, में अपूर्ण प्रतिस्पर्धा ही होती है। इसी परिस्थिति में दीर्घकालीन साम्य या व्यवस्थापन (Long period adjustment) पूर्णतया नहीं होने पाता क्योंकि परिवर्तनशील परिस्थितियाँ इसे असम्भव कर देती हैं। इस प्रकार प्रवैगिक स्थिति तथा अपूर्ण प्रतिस्पर्धा में अल्पकाल ही विशेष रूप से महत्वपूर्ण होता है।

बाजार (Market)

अर्थशास्त्र में बाजार शब्द का प्रयोग एक विशेष अर्थ में होता है। अर्थशास्त्रियों में इस शब्द के अर्थ के बारे में मतैक्य नहीं है। कूरनो (Cournot) के अनुसार बाजार का अर्थ किसी विशेष स्थान, जहाँ वस्तुओं का क्रय-विक्रय होता है, से नहीं होता, वरन् उस सभी प्रदेश से होता है जहाँ क्रेता और विक्रेता ऐसी स्वतन्त्र प्रतिस्पर्धा में हैं कि किसी वस्तु का मूल्य सरलता से एक हो जाता है। जेवन्स के अनुसार बाजार शब्द से अभिप्राय उस व्यक्ति समूह से है जिसके व्यक्तियों में परस्पर अति निकट व्यवसायिक सम्बन्ध हो, तथा जो एक वस्तु का काफी मात्रा में व्यापार करते हों। प्रो० मेहता के अनुसार बाजार शब्द उस दशा का द्योतक है जहाँ एक वस्तु की माँग उस स्थान पर की जाती है जहाँ वह बेचने के लिये प्रस्तुत की गई है।[1] इस परिभाषा के अनुसार बाजार एक दशा का द्योतक है किसी स्थान का नहीं। हम बाजार शब्द के अर्थ को किसी स्थान से सम्बन्धित नहीं कर सकते क्योंकि आज के युग में वस्तुओं का क्रय-विक्रय नमूनों (Samples) द्वारा भी होता है और वस्तु को बाजार में ले जाने की जरूरत भी नहीं होती। प्रतिस्पर्धा भी बाजार के लिये आवश्यक नहीं है क्योंकि एक एकाधिकारी की वस्तुओं का भी बाजार होता है और वहाँ कोई प्रतिस्पर्धा नहीं होती। इसी प्रकार पूर्ण ज्ञान आदि भी बाजार के आवश्यक अंग नहीं हैं। वास्तव में किसी वस्तु के बाजार के लिये तीन बातें आवश्यक हैं। (१) वस्तु; (२) वस्तु की माँग; (३) वस्तु की पूर्ति। उस दशा को जहाँ एक मूल्य पर वस्तु की माँग होती है और उसकी पूर्ति भी होती है, बाजार कहना चाहिये। प्रो० मेहता की यह परिभाषा ही उचित है।

---

[1] The word market signifies a state in which a commodity has a demand at a place where it is offered for sale--J. K. Mehta 'Advanced Economic Theory'

बाजारों के भेद

बाजारों का विभाजन अनेक प्रकार से किया जा सकता है। उनके आवश्यक तत्वों (i) वस्तु (ii) वस्तु की माँग और (iii) वस्तु की पूर्ति की दृष्टि से हम बाजारों के अनेक भेद बता सकते हैं।

वस्तु के दृष्टिकोण से बाजार के दो भेद किये जा सकते हैं। (i) मिश्रित बाजार (Mixed Markets) और (ii) विशिष्ट बाजार (Specialised Markets)। मिश्रित बाजार वे हैं जिनमें एक से अधिक प्रकार की वस्तुओं का विक्रय होता हो। विशिष्ट बाजार वे है जिनसे केवल वस्तु-विशेष का ही विक्रय होता है। आज-कल विशिष्ट बाजारों का प्रचलन बढ़ गया है।

अब अधिकतर प्रत्येक वस्तु का एक बाजार होता है जैसे स्वर्ण बाजार, रजत बाजार इत्यादि। एक बात ध्यान देने योग्य है। मिश्रित बाजार अनेक विशिष्ट बाजारों के योग से ही बनते हैं। स्वर्ण और रजत के उपर्युक्त विशिष्ट बाजारों को मिला कर ही हम बहुमूल्य धातुओं के मिश्रित बाजार की कल्पना कर सकते हैं।

वास्तव में इस विभाजन का आधार यह तथ्य है कि माँग और पूर्ति किसी वस्तु-विशेष या अनेक वस्तुओं की हो रही है। यदि वस्तु-विशेष ही माँग और पूर्ति का विषय हो तो वह विशिष्ट बाजार कहलायेगा। यदि दो या अनेक वस्तुयें माँग और पूर्ति का विषय हों तो इसे मिश्रित बाजार कहेंगे।

कभी कभी **बाजार के लिये आवश्यक दशाओं** अर्थात् वस्तु तथा उसकी माँग और पूर्ति की विद्यमानता को स्थान से सम्बन्धित कर, बाजार के निम्न भेद किये जाते हैं :—

(i) **स्थानीय बाजार**:—जब किसी वस्तु की माँग और पूर्ति किसी स्थान-विशेष तक सीमित होती है तब उसका बाजार स्थानीय कहलाता है।

प्राचीन समय में जब आर्थिक दृष्टि से विश्व पिछड़ा हुआ था, बाजार अधिकतर स्थानीय ही होते थे। उस समय बाजार के स्थानीय होने के कारण मुख्यत: आवागमन के मार्गों तथा अन्यत्र की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जानकारी का अभाव था। वस्तु की माँग और पूर्ति उसकी उत्पत्ति के स्थान पर ही होती थी। वहीं उसका स्थानीय बाजार होता था। आर्थिक विकास के साथ साथ बाजारों की स्थानीय प्रकृति का लोप होता गया। आवागमन के मार्गों के विकास तथा ज्ञान वृद्धि आदि के साथ साथ बाजारों का क्षेत्र बढ़ता गया। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वर्तमान समय में स्थानीय बाजार होते ही नहीं। स्थानीय बाजार तो अबभी विद्यमान हैं। उनकी प्रधानता विलुप्त हो गई है तथा उन्हें जन्म देने वाले कारण बदल गये हैं।

कुछ अर्थशास्त्रियों का विचार है कि स्थानीय बाजार प्रतियोगिता सीमित होने के फलस्वरूप होता है अथवा इस कारण होता है कि क्रेता-विक्रेता एक छोटे क्षेत्र से आते हैं। हमारे विचार से ऐसा कहना अनुपयुक्त है। बाजार का स्थानीय होना उन कारणों पर निर्भर होता है जो उस वस्तु की माँग और पूर्ति स्थान-विशेष तक सीमित कर देते हैं। क्रेता-विक्रेता तो दूर दूर के हो सकते हैं किन्तु बाजार स्थानीय इसलिये है कि वस्तु की माँग तथा उसकी पूर्ति स्थान-विशेष तक सीमित है। बाजार के स्थानीय होने में वस्तु की प्रकृति का भी महत्वपूर्ण हाथ होता है। यदि वस्तु ऐसी है जिसे ले जाने ले आने में परिवहन व्यय अधिक होगा तो उसका बाजार अधिकतर स्थानीय ही होगा। ईंट, भवन-निर्माण के लिये अपेक्षित बालू आदि इसके उदाहरण हैं। इनका बाजार स्थानीय होता है। यदि वस्तु अत्यधिक नाशवान है तो उसका बाजार स्थानीय होगा क्योंकि ले जाने ले आने में उसके नष्ट होने की संभावना होती है। बाजार इसलिए भी स्थानीय होता है कि वस्तु-विशेष की माँग स्थान-विशेष तक सीमित है अतएव उत्पादक उसकी पूर्ति वहीं करते हैं। यह उत्पादक कहीं से भी आ सकते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि वे छोटे क्षेत्र से ही आयें।

प्रान्तीय बाजार

जब किसी वस्तु की माँग और पूर्ति किसी प्रान्त विशेष तक सीमित होती है तो उसे प्रान्तीय बाजार कहते हैं। यदि उसकी माँग और पूर्ति एक से अधिक प्रान्त में होती हैं तो उसे अन्तर्प्रान्तीय बाजार कहते हैं।

राष्ट्रीय बाजार

राष्ट्रीय बाजार उन वस्तुओं का होता है जिनकी माँग और पूर्ति सम्पूर्ण राष्ट्र में व्याप्त होती है। उदाहरणार्थ, भारत में धोती का बाजार राष्ट्रीय होता है क्योंकि सम्पूर्ण राष्ट्र में इसकी माँग और पूर्ति व्याप्त है।

अन्तर्राष्ट्रीय बाजार

अन्तर्राष्ट्रीय बाजार उन वस्तुओं का होता है जिनकी माँग अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में होती है। सोना, चाँदी, कपड़ा, गेहूँ जैसे खाद्य पदार्थ, आदि वस्तुओं के बाजार अन्तर्राष्ट्रीय हैं।

वस्तु की पूर्ति का परिवर्तन-क्षमता समय पर निर्भर होती है। पूर्ति घटने बढ़ने में समय लगता है। इस दृष्टि से बाजारों के दो भेद हैं:—अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन बाजार।

(i) **अल्पकालीन बाजार** उस बाजार को कहते हैं जहाँ माँग के परिवर्तनों के साथ पूर्ति इस प्रकार परिवर्तित नहीं की जा सकती कि माँग और पूर्ति का सामंजस्य हो जाय।

(ii) **दीर्घकालीन बाजार** उसे कहते हैं जहाँ माँग के परिवर्तनों के साथ पूर्ति व्यवस्थित की जा सकती है।

इन बाजारों के लिये कोई कालावधि निश्चित नहीं होती। उदाहरण के लिए दैनिक बाजार ही लीजिए। यदि माँग के परिवर्तित होने पर पूर्ति सामंजस्य स्थापित कर सकती है तो यह दीर्घकालीन बाजार है अन्यथा अल्पकालीन। बाजार का अल्पकालीन अथवा दीर्घकालीन होना समय की दीर्घता और अल्पता पर निर्भर नहीं होता। यह माँग और पूर्ति की सामंजस्य स्थापित करने की क्षमता पर निर्भर होता है। अतएव दैनिक अथवा मासिक या अन्य बाजार माँग और पूर्ति की सामंजस्य क्षमता के अनुसार ही अल्पकालीन और दीर्घकालीन होते हैं। उदाहरण के लिए यदि किसी वस्तु की माँग और पूर्ति का सामंजस्य एक दिन में हो सकता है तो उस वस्तु का दैनिक बाजार भी दीर्घकालीन है। इसके विपरीत यदि उस वस्तु की पूर्ति माँग के साथ एक माह में भी सामंजस्य नहीं स्थापित कर सकती तो इस वस्तु का मासिक बाजार भी अल्पकालीन कहलायेगा।

पूर्ति की दशाओं के अनुसार भी बाजार का विभाजन किया जाता है। यह विभाजन इस आधार इस पर होता है कि उत्पादकों में पूर्ति प्रस्तुत करने के लिए किस प्रकार की प्रतिस्पर्धा है।

पूर्ण बाजार वह बाजार कहलाता है जिसमें उत्पादकों में परस्पर पूर्ण प्रतिस्पर्धा होती है। पूर्ण बाजार में एक रूप वस्तु, उत्पादकों की बहुलता तथा उपभोक्ताओं का केवल मूल्य के प्रति लगाव होना चाहिए। पूर्ण बाजार में केवल एक ही मूल्य होता है। पूर्ण बाजार के लक्षणों की विस्तृत चर्चा पूर्ण प्रतिस्पर्धा के अन्तर्गत की गई है।

अपूर्ण बाजार वह बाजार कहलाता है जिसमें उत्पादकों में परस्पर अपूर्ण प्रतिस्पर्धा होती है। ऐसे बाजार में उत्पादकों की संख्या अपेक्षाकृत कम होती है तथा एक ही वस्तु के एक से अधिक मूल्य हो सकते हैं। उपभोक्ताओं का लगाव केवल मूल्य से न होकर किसी विशेष उत्पादक से भी हो सकता है। इसके फलस्वरूप वह कुछ अधिक मूल्य दे सकता हैं। पूर्ण एवम् अपूर्ण बाजार का अन्तर अच्छी तरह जानने के लिये पूर्ण तथा अपूर्ण प्रतिस्पर्धा का अन्तर देखिये।

बाजार का विस्तार

बाजार का विस्तार वस्तु की प्रकृति तथा उसकी माँग और पूर्ति को प्रभावित करने वाले कारणों पर निर्भर होता है। अतएव हम बाजार के विस्तार से सम्बन्धित कारणों का उल्लेख उपर्युक्त शीर्षकों के अन्तर्गत ही करेंगे।

*** दैनिक बाजार, मासिक बाजार आदि अल्पकालीन या दीर्घकालीन बाजार के ही भेद हैं। इसीलिये इनका अलग विवेचन नहीं किया गया है।**

वस्तु की प्रकृति अथवा गुणों से सम्बन्धित कारण

(i) **वहनीयता**—यदि वस्तु सरलता से वहनीय होती है तो उसका बाजार अधिक विस्तृत होता है तथा आगे उसके विस्तार की संभावना रहती है। वस्तुतः वहनीयता से अभिप्राय यह है कि वस्तु की परिवहन-लागत उसके मूल्य का छोटा-सा भाग हो क्योंकि वैज्ञानिक उन्नति के फलस्वरूप किसी भी वस्तु के बारे में अब वहनीयता की समस्या नहीं उठती वरन् उसके वहन के लिये अपेक्षित लागत का प्रश्न उठता है। ऐसी वस्तुयें जिन्हें दूर-दूर ले जाने ले आने में अधिक व्यय नहीं होता, अधिक विस्तृत बाजार बना सकती है। बहुमूल्य वस्तुओं में यह गुण विद्यमान होता है क्योंकि उनमें छोटे आकार में ही अधिक मूल्य संनिहित होता है अतएव उन्हें सरलता एवम् कम लागत पर एक स्थान से दूसरे स्थान भेजा जा सकता है। यही कारण है कि सोने और चाँदी का बाजार बहुत विस्तृत होता है।

(ii) **संज्ञेयता** (Cognisability)—किसी वस्तु के सरलता से संज्ञेय होने अर्थात् पहचानने योग्य होने पर उसके बाजार का विस्तार अधिक होता है क्योंकि क्रेता उस वस्तु के बारे में निश्चयपूर्वक जान जाते हैं कि वह क्या और कैसी है। इस दशा में वस्तुओं के क्रमबन्धन तथा नमूने निश्चित करने का महत्त्वपूर्ण हाथ होता है। नमूना देखकर ही वस्तु के बारे में जाना जा सकता है और उसकी विश्व के किसी भी भाग में खरीद की जा सकती है क्योंकि उसे खरीदने के लिये वस्तु का देखना आवश्यक नहीं रहता। जिन वस्तुओं का वर्णन इस प्रकार नहीं किया जा सकता उसका बाजार विस्तृत नहीं हो सकता क्योंकि उनके क्रय-विक्रय का क्षेत्र ही सीमित होगा। वही लोग खरीद करेंगे जो उसे स्वयं देख और परख सकते हैं।

(iii) **टिकाऊपन**—साधारणतः टिकाऊ अर्थात् शीघ्र नष्ट न होने वाली वस्तुओं का बाजार विस्तृत होता है तथा शीघ्र नष्ट होने वाली वस्तुओं का बाजार सीमित—बहुधा स्थानीय—होता है। उदाहरण के लिये फल, तरकारी, माँस, अण्डे आदि का बाजार अधिकतर स्थानीय होता है जबकि शीघ्र नष्ट न होने वाले अन्य पदार्थों का बाजार अधिक विस्तृत होता है।

माँग और पूर्ति से सम्बन्धित कारण

१. माँग और पूर्ति का विस्तार तथा निरन्तरता—विस्तृत बाजार के लिये यह आवश्यक है कि वस्तु की माँग और पूर्ति दोनों विस्तृत होनी चाहिये तथा दोनों निरन्तर होनी चाहिये। यदि माँग या पूर्ति का विस्तार किसी समय-विशेष तक सीमित होता है तो बाजार में अधिक विस्तृत होने की प्रवृत्ति नहीं पनपने पाती। अतएव यह आवश्यक है कि माँग नियमित रूप से हो तथा उसकी पूर्ति भी संभव हो।

२. परिवहन तथा संचार साधनों का विकास—परिवहन तथा संचार साधनों से

क्रेता-विक्रेता में निकट सम्पर्क स्थापित हो जाता है। तार, टेलीफोन, बेतार के तार, रेडियो जैसे संचार साधनों से क्रेता-विक्रेता वस्तु तथा उसके मूल्य से बराबर परिचित रहते हैं तथा वायुयान, जलयान जैसे द्रुतगामी परिवहन साधनों से वस्तु की पूर्ति किसी भी स्थान पर शीघ्र ही की जा सकती है। अतएव परिवहन एवम् संचार साधनों के विकास का बाजार के विस्तार पर विशेष प्रभाव पड़ता है।

३. **वैज्ञानिक उन्नति**—विज्ञान के नये-नये आविष्कार भी बाजारों का विस्तार बढ़ाने में सहायक होते हैं। उदाहरण के लिये विज्ञान के नये ढंगों से शीघ्र नष्ट होने वाले पदार्थ देर तक रखे जा सकते हैं तथा दूर तक भेजे जा सकते हैं। फसलें एक ऋतु से दूसरी ऋतु तक सुरक्षित रखी जा सकती हैं। इस प्रकार विज्ञान के नये नये आविष्कारों का प्रभाव बाजार का विस्तार बढ़ाने में सहायक ही हुआ है।

४. **शान्ति**—बाजार के विस्तार के लिये देश तथा विश्व में शान्ति का होना आवश्यक है। युद्ध की स्थिति में बाजार बन्द हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त देश के अन्दर शासन-व्यवस्था तथा सुरक्षा का ऐसा प्रबन्ध होना चाहिये कि वह क्रेताओं-विक्रेताओं में आवश्यक भरोसा उत्पन्न कर सके और वे क्रय-विक्रय के लिये उत्साहित एवम् प्रयत्नशील रहें।

५. **आर्थिक नीति**—आर्थिक नीति भी वस्तुओं के बाजार के विस्तार को प्रभावित करती है। यदि कोई देश विदेशों के सम्बन्ध में ऐसी आर्थिक नीति अपनाये जिसके फलस्वरूप आयात-निर्यात पर प्रतिकूल प्रभाव पड़े तो इससे वस्तु के बाजार का विस्तार सीमित हो जायगा। इसी प्रकार यदि देश के अन्दर उचित द्रव्य नीति नहीं अपनायी जाती तो मुद्रा का मूल्य अनिश्चित हो जायगा। परिणाम यह होगा कि क्रय-विक्रय के लिये परिस्थितियाँ अनुकूल न रह जाँयगी क्योंकि क्रेता को यह सन्देह रहेगा कि उसके द्वारा खरीदी वस्तुओं का मूल्य कहीं गिर न जाय। इस प्रकार बाजार के विस्तार के लिये उचित आर्थिक नीति भी आवश्यक है।

अध्याय २३

पूर्ण स्पर्धा में मूल्य निर्धारण

(PRICE DETERMINATION UNDER PERFECT COMPETITION)

अर्घ का सामान्य नियम (The Theory of Value–General Statement)

प्रो० मार्शल से पहले वस्तु के मूल्य निर्धारण के सम्बन्ध में मुख्यतया दो मत प्रचलित थे। कुछ अर्थशास्त्रियों का मत था कि वस्तु का मूल्य उसकी लागत द्वारा निश्चित होता है। उनके अनुसार कोई भी व्यक्ति उत्पादन की औसत लागत से कम मूल्य लेने के लिये तैयार नहीं होगा क्योंकि ऐसा करने पर उसे हानि होगी। अन्य अर्थशास्त्रियों (जैसे जेवन्स) का मत था कि वस्तु का मूल्य उपयोगिता पर निर्भर होता है। एक व्यक्ति किसी वस्तु को इसलिये खरीदता है कि उससे उपयोगिता प्राप्त होती है। वह वस्तु से प्राप्त उपयोगिता से अधिक मूल्य नहीं देना चाहेगा। अतः इनके अनुसार वस्तु का मूल्य उपयोगिता पर निर्भर होता है। वस्तु की लागत उसकी पूर्ति निश्चित करती है अतः पहले मत के अनुसार यह भी कहा जा सकता है कि वस्तु की पूर्ति उसका मूल्य निश्चित करती है। उपयोगिता वस्तु की माँग निश्चित करती है अतः दूसरे कथन के अनुसार यह भी कहा जा सकता है कि वस्तु की माँग उसका मूल्य निश्चित करती है। अर्थशास्त्र से जरा भी परिचित विद्यार्थी को यह कथन अपूर्ण प्रतीत होंगे। यह दोनों कथन आंशिक रूप से सत्य हैं। वस्तु की पूर्ति या लागत का उसके मूल्य पर बहुत प्रभाव होता है; परन्तु केवल पूर्ति ही वस्तु का मूल्य निश्चित नहीं कर सकती। इसी प्रकार वस्तु की माँग मूल्य को प्रभावित तो अवश्य करती है परन्तु अकेले ही मूल्य निश्चय नहीं कर सकती।

प्रो० मार्शल ने इन दोनों आंशिक सत्यों को मिलाकर अर्घ का एक सामान्य सिद्धान्त प्रस्तुत किया। उनके अनुसार वस्तु का अर्घ या मूल्य उसकी माँग और पूर्ति द्वारा निश्चित होता है। जिस मूल्य पर माँग और पूर्ति बराबर होते हैं वही मूल्य निश्चित होता है। यह सन्तुलन मूल्य (equilibrium price) है। यदि मूल्य इससे अधिक होगा तो वस्तु की माँग कम हो जायगी। कुछ विक्रेताओं को खरीदार ही नहीं मिलेंगे और इसलिये वे मूल्य कम करने लगेंगे। प्रतिस्पर्धा के कारण मूल्य गिरकर

फिर सन्तुलन मूल्य पर आ जायेगा। यदि मूल्य सन्तुलन मूल्य से कम है तो क्रेता वस्तु की माँग बढ़ा देंगे तथा अपनी माँग की पूर्ति के लिये अधिक मूल्य देने को प्रस्तुत हो जायेंगे और मूल्य बढ़कर फिर संतुलन मूल्य पर पहुँच जायगा। नीचे की सारिणी में माँग और पूर्ति को बराबर करने वाला मूल्य दिखाया गया है।

मूल्य (रु०में)	माँग (वस्तु की इकाइयाँ)	पूर्ति (वस्तु की इकाइयाँ)
५	१००	१५५
४	१३०	१३०
——	——	——
३	१५०	१००
२	१९०	१७०
१	२२५	३०

ऊपर की सारिणी में जब वस्तु का मूल्य चार रुपये प्रति इकाई है तब माँग और पूर्ति बराबर होती है। यही सन्तुलन मूल्य है। इस सन्तुलन मूल्य को हम चित्र द्वारा भी दिखा सकते हैं।

पहला चित्र एक फर्म का है। उसकी माँग की रेखा पूर्ण प्रतिस्पर्धा के कारण अनुभूमिक है। प प' उसकी पूर्ति की रेखा है। उसकी सन्तुलन स्थिति उस बिन्दु से निश्चित होती है जहाँ यह एक दूसरे को काटती हैं।

(फर्म) वस्तु की मात्रा
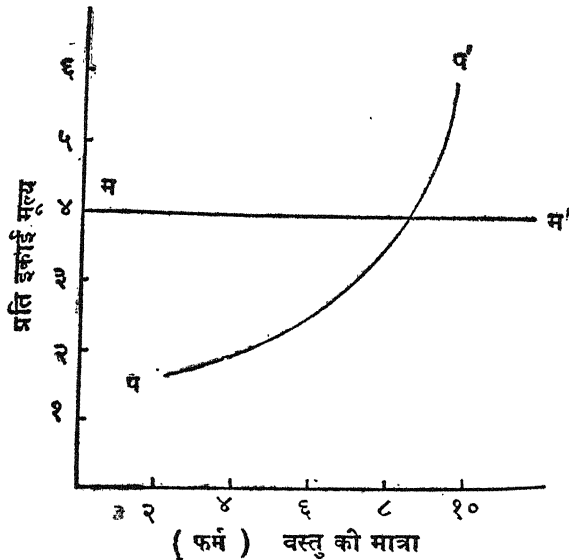
दूसरा चित्र उद्योग का है। प प' उद्योग की पूर्ति रेखा है। म म' माँग की रेखा

फर्मों की माँग के जोड़ से बनी है। उद्योग की पूर्ति रेखा प' उद्योग की विभिन्न फर्मों की पूर्ति-रेखाओं का जोड़ है। म म' उद्योग की माँग की रेखा है जो विभिन्न मूल्यों पर उद्योग की फर्मों की माँग की जोड़ से बनी है। उद्योग की माँग की रेखा विभिन्न मूल्यों पर व्यवसाय की कुल माँग को दिखाती है। मान लीजिये एक उद्योग

व्यवसाय का चित्र
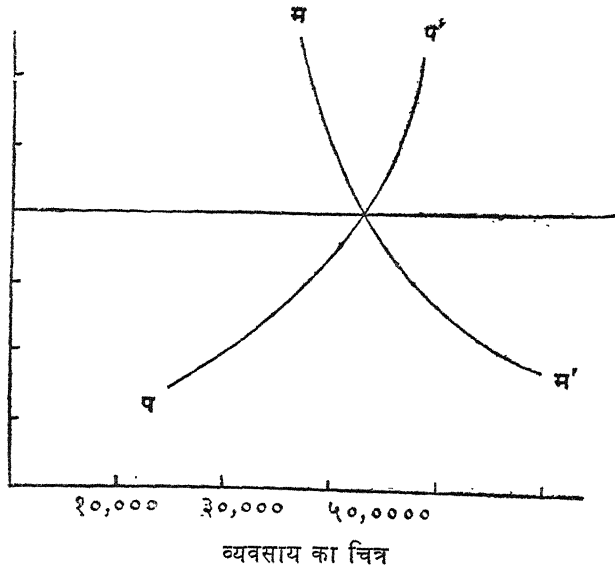
में तीन फर्में हैं, और विभिन्न मूल्यों पर उनकी माँग इस प्रकार है :

मूल्य (रु०में)	फर्म १	फर्म २	फर्म ३	व्यवसाय की माँग
		इकाइयाँ		इकाइयाँ
३	५०	६०	४०	१५०
२	७०	९०	६०	२२५
१	११०	१२०	१००	३३०

उद्योग की माँग मूल्य के गिरने के साथ ही बढ़ जाती है। जब मूल्य ३ रु० है तो उद्योग की माँग १५० इकाइयाँ है। जब मूल्य घटकर २ रु० और १ रु० हो जाता है तो उद्योग की माँग बढ़कर २२५ और ३३० इकाइयाँ हो जाती है। अतः उद्योग की माँग की रेखा दाहिनी ओर गिरती हुई होगी जैसा कि चित्र में म म' द्वारा दिखाया गया है। हम उद्योग की माँग की रेखा फर्मों की अनुभूमिक माँग-रेखाओं के जोड़ से नहीं जान सकते क्योंकि वे एक ही मूल्य पर माँग की स्थिति दिखाती हैं। माँग की

रेखा विभिन्न मूल्यों पर उद्योग की माँग दिखाती है। इसलिये विभिन्न मूल्यों पर फर्मों की माँग को जोड़ना होगा।

प्रो० मार्शल का यह नियम एक सामान्य नियम है। यह पूर्णस्पर्धा तक ही सीमित नहीं है। प्रो० मार्शल ने इसका प्रयोग स्पर्धामय बाजार के लिये किया था क्योंकि उनके समय तक अपूर्ण प्रतिस्पर्धा के विचार का समुचित विकास नहीं हुआ था।

पूर्ण स्पर्धा तथा स्थैतिक स्थिति में मूल्य निर्धारण

एक ऐसे उद्योग को लीजिये जिसके फर्मों में पूर्ण प्रतिस्पर्धा हो। यदि इस व्यवसाय की उत्पत्ति की मात्रा तथा खरीदारों की द्रव्य की मात्रा स्थिर मान ली जाय तो जो कुछ भी क्रय या विक्रय होगा वह केवल स्वामित्व परिवर्तन ही दिखायेगा। यदि चार मन गेहूँ बिकते हैं तो चार मन गेहूँ विक्रेता के स्थान पर क्रेता की सम्पत्ति हो जाते हैं तथा क्रेता द्वारा दिया हुआ मूल्य विक्रेता की सम्पत्ति हो जाता है। इसके अतिरिक्त और कोई परिवर्तन नहीं होता। यह परिस्थितियाँ स्थैतिक स्थिति की द्योतक हैं। वस्तु का मूल्य वहाँ निश्चय होगा जहाँ उसकी माँग और पूर्ति बराबर हैं। स्थैतिक स्थिति तथा पूर्ण स्पर्धा होने के कारण बाजार में यही मूल्य रहेगा क्योंकि वस्तु की विनिमय की हुई मात्रा आदि स्थिर रहती है। स्थैतिक स्थिति में अल्पकाल और दीर्घकाल का प्रश्न ही नहीं उठता। सन्तुलन मूल्य निश्चित होने पर वही मूल्य बना रहेगा जब तक कि परिस्थितियों में परिवर्तन न हो। प्रत्येक फर्म सन्तुलन की स्थिति में आ जायेगी और किसी भी फर्म को न लाभ होगा न हानि। प्रत्येक फर्म की सीमान्त लागत, सीमान्त आय, औसत लागत तथा औसत आय आपस में बराबर होगी। नीचे के चित्र में स्थैतिक स्थिति की दशा में उद्योग की विभिन्न फर्मों को दिखाया गया है।
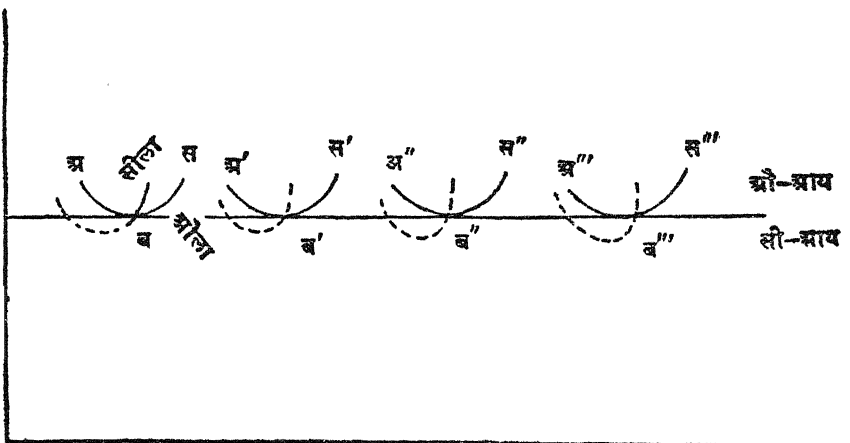
ब ब' ब" ब''' बिन्दुओं पर प्रत्येक फर्म सन्तुलन में है। ऐसा केवल स्थैतिक

स्थिति के कारण ही है क्योंकि परिवर्तन होने पर कुछ फर्में सन्तुलन में होंगी तथा कुछ असन्तुलन में। औसत तथा सीमान्त आय की अनुभूमिक रेखा पूर्ण प्रतिस्पर्धा दिखा रही है। बिन्दु वक्र सीमान्त लागत दिखा रहे हैं तथा अन्य वक्र औसत लागत दिखा रहे हैं। ब, ब', ब", ब''' बिन्दुओं पर प्रत्येक फर्म की,

सीमान्त लागत = सीमान्त आय = औसत लागत = औसत आय

अध्याय २४

पूर्ण प्रतिस्पर्धा तथा प्रवैगिक दशा

(PERFECT COMPETITION AND DYNAMIC STATE)

पिछले अध्याय में हम स्थैतिक स्थिति में मूल्य निर्धारण का अध्ययन कर चुके हैं। उस स्थिति में वस्तुओं की विनिमय की हुई मात्रा स्थिर थी। हम यह मानकर चले थे कि यदि किसी दिन क्रेताओं और विक्रेताओं के पास द्रव्य और गेहूँ की एक निश्चित मात्रा थी तो मूल्य किस प्रकार निर्धारित होगा। हमारा निष्कर्ष था कि माँग और पूर्ति की साधारण विधि सन्तुलन-मूल्य निश्चित करेगी। स्थैतिक स्थिति तथा पूर्ण स्पर्धा के कारण बाजार में एक ही मूल्य रहेगा। तथा प्रत्येक फर्म संतुलन की स्थिति में होगी क्योंकि प्रत्येक दिन वस्तु की उतनी ही मात्रा का विनिमय होगा और सभी फर्में अपने आपको सन्तुलन में ले आयेंगी। यहाँ एक प्रश्न उठता है कि यदि स्थैतिक स्थिति के स्थान पर प्रवैगिक दशा हो तो मूल्य निर्धारण का क्या स्वरूप होगा ?

प्रवैगिक दशा में वस्तु की विनिमय की हुई मात्रा में बराबर परिवर्तन होता रहेगा। फर्मों का उत्पादन भी बदलता रहेगा और इसलिये उद्योग का उत्पादन भी। बाजार में विनिमय के लिये आने वाली मात्रा तथा उसकी माँग में भी निरन्तर परिवर्तन होगा। यह सब इसीलिये होंगे क्योंकि जनसंख्या, आवश्यकताओं का रूप आदि बदलते जा रहे हैं। यही प्रवैगिक दशा का मुख्य लक्षण है। **ऐसी स्थिति में उद्योग तथा उसकी फर्में दोनों ही प्रवैगिक दशा में होंगी—दोनों में ही परिवर्तन होगा।** इस स्थिति में दीर्घकाल में मूल्य निर्धारण किस प्रकार होगा ? जो मूल्य आज है, चार महीने बाद परिस्थितियों के परिवर्तन के बावजूद भी वही मूल्य रहेगा, यह नहीं कहा जा सकता। इसके उत्तर में सामान्य मूल्य का विचार (The Concept of Normal Price) प्रस्तुत किया गया है। अतः हमारी पहली समस्या यह है :

(१) पूर्ण प्रतिस्पर्धा, प्रवैगिक दशा तथा दीर्घकाल में मूल्य अर्थात् सामान्य मूल्य का विचार (Price under Perfect Competition, Dynamic State and the Long Period or The Concept of Normal Price)

प्रवैगिक स्थिति एक दूसरा रूप भी ले सकती है। यह सम्भव है कि फर्मों के उत्पादन की मात्रा इस प्रकार से परिवर्तित हो रही हो कि उद्योग के कुल उत्पादन पर उसका कोई प्रभाव ही न पड़े। यह हो सकता है कि कुछ फर्मों का उत्पादन बढ़ रहा

हो तथा कुछ का उत्पादन घट रहा हो और इन सबका कुल प्रभाव उद्योग के उत्पादन को ज्यों का त्यों बना रहने दे। **इस स्थिति में उद्योग में सन्तुलन स्थैतिक दशा में होगा परन्तु उसकी फर्मों में प्रसार और संकुचन प्रवैगिक दशा में होगा।** ऐसी स्थिति में पूर्ण प्रतिस्पर्धा के कारण मूल्य तो एक ही होगा परन्तु वह किस प्रकार निश्चित होगा ? उद्योग की फर्मों में कुछ वृद्धिमान प्रत्युपलब्धि पा रही होंगी, कुछ ह्रासमान प्रत्युपलब्धि पा रही होंगी। कुछ को हानि हो रही होगी तथा कुछ को लाभ। अतः मूल्य-निर्धारण किस फर्म द्वारा किया जाय ? प्रो० मार्शल ने इसके उत्तर में प्रतिनिधि-फर्म (The Representative Firm) का विचार प्रस्तुत किया है। अतः हमारी दूसरी समस्या यह है :

(२) पूर्ण प्रतिस्पर्धा, प्रवैगिक दशा (उद्योग में सन्तुलन) तथा दीर्घकाल में मूल्य अर्थात् प्रतिनिधि फर्म [Price under Perfect Competition, Dynamic State (industry in equilibrium) and long Period or the Concept of the Representative Firm]

प्रवैगिक दशा और दीर्घकाल में मूल्यों की समस्या से एक दूसरी समस्या भी सम्बन्धित है और वह है अल्पकालीन मूल्यों की समस्या जिसे मार्शल ने बाजार मूल्य (Market Price) कहा है। अतः हमारी तीसरी समस्या यह है :

(३) पूर्ण प्रतिस्पर्धा, प्रवैगिक दशा तथा अल्पकाल में मूल्य अर्थात् बाजार मूल्य (Price under Perfect Competition, Dynamic State and Short Period or the Market Price)

हम बारी बारी से इन तीनों समस्याओं का अध्ययन करेंगे।

I

सामान्य मूल्य (The Normal Price)

व्यवहारिक जीवन में किसी बाजार में वस्तु की विनिमय की हुई मात्रा स्थिर नहीं रहती। वस्तु एक प्रवाह के रूप में आती तथा चली जाती है। वस्तुओं के यह समूह कहाँ से आते हैं ? इसका उत्तर है, उत्पादन से। किसान गेहूँ उगाता है, खान खोदनेवाला कोयला खोदता है इत्यादि। यह सभी क्रियायें धीरे-धीरे वस्तुओं की मात्रा में वृद्धि करती हैं। वस्तुओं के यह समूह केवल इकट्ठे ही नहीं होते रहते; उनका उत्पादन उन्हें जमा करने के लिये नहीं किया जाता। वस्तु समूह धीरे धीरे लुप्त भी होते जाते हैं। आखिर यह जाते कहाँ हैं ? इसका उत्तर है उपभोग। इस प्रकार उत्पादन तथा उपभोग के प्रवाह का क्रम चलता रहता है; परन्तु यह प्रभाव सदैव नियमित नहीं होता। कभी उत्पादन बहुत अधिक हो जाता है तथा कभी बहुत कम। हम कई

वर्षों के उत्पादन का निरीक्षण करके प्रतिवर्ष उत्पादन की दर मालूम कर सकते हैं। इसी प्रकार प्रतिवर्ष उपभोग की दर भी मालूम की जा सकती है।

दीर्घकाल में उत्पादन और उपभोग बराबर होने चाहिये। यदि उत्पादन उपभोग से अधिक है तो उत्पादन कम करने की कोशिश की जायगी क्योंकि उत्पादन के अधिक होने पर उसे खरीदने वाले ही नहीं मिलेंगे। इसी प्रकार उपभोग के अधिक होने पर उत्पादन की मात्रा बढ़ाई जायगी। यह सब परिवर्तन वस्तु के मूल्यों द्वारा किये जाते हैं।

साधारण तौर पर यह कहा जा सकता है कि मूल्य ऊँचे होने पर उत्पादन में वृद्धि होगी तथा उपभोग में कमी; मूल्य कम होने पर उत्पादन में कमी होगी तथा उपभोग में वृद्धि। प्रत्येक वस्तु के लिये एक ऐसा मूल्य अवश्य होगा जिस पर उत्पादन की दर उपभोग की दर के समान होगी। इस मूल्य को सामान्य मूल्य (Normal Price) कहा जाता है। यह मूल्य बाजार मूल्य के बराबर ही हो, ऐसा आवश्यक नहीं है। बाजार मूल्य इससे अधिक भी हो सकता है और कम भी। यदि बाजार मूल्य अधिक है तो उत्पादन में वृद्धि होगी तथा उपभोग में कमी। परिणाम यह होगा कि उत्पादन इतनी अधिक मात्रा में हो जायेगा कि उसे खरीदने वाले ही न मिलेंगे। तब बाजार मूल्य गिरने लगेगा। इसी प्रकार बाजार मूल्य के कम होने पर उपभोग में अधिक वृद्धि होगी तथा उत्पादन में कम। अंत में परिणाम यह होगा कि बाजार मूल्य बढ़ने लगेंगे। इसी बात को कभी कभी इस प्रकार भी कहा जाता है कि बाजार मूल्य सामान्य मूल्य के चारों ओर घूमते हैं।

नीचे दी हुई सारिणी में विभिन्न मूल्यों पर प्रतिवर्ष उत्पादन और उपभोग की दर दिखाई गई है।

मूल्य (रुपयों में) प्रति मन	प्रतिवर्ष उत्पादन की दर (मनों में)	प्रतिवर्ष उपभोग की दर (मनों में)
५०	१८०	६०
४५	१००	६६
४०	७०	७०
३५	५०	७४
३०	२०	७८
२५	१०	७०

उपर्युक्त सारिणी से यह स्पष्ट है कि जब गेहूँ का मूल्य ४० रुपये प्रति मन है तब उत्पादन और उपभोग की दर समान है, अतः यही सामान्य मूल्य है। उपर्युक्त सारिणी से हम सामान्य माँग की रेखा (Normal demand schedule) तथा सामान्य पूर्ति की रेखा (Normal supply schedule) मालूम कर सकते हैं। इन दोनों रेखाओं को चित्र में दिखाया जा सकता है तथा जहाँ वे एक दूसरे को काटती हैं वहीं सामान्य मूल्य निश्चित होता है।

नीचे के चित्र में क बिन्दु पर सामान्य माँग की रेखा तथा सामान्य पूर्ति की रेखा एक दूसरे को काटती है। क $क_1$ सामान्य मूल्य है।
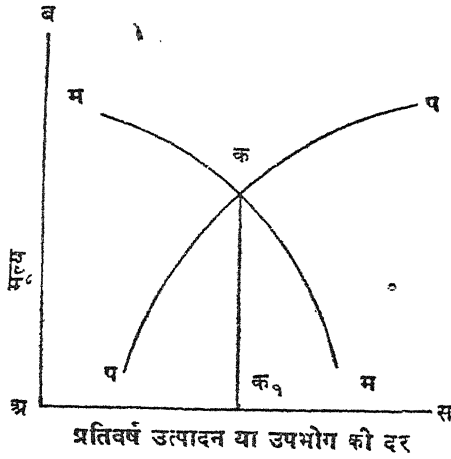
माँग और पूर्ति का सामान्य मूल्य पर प्रभाव

यदि वस्तु की माँग बढ़ जाती है तो इसका अर्थ यह होगा कि प्रत्येक मूल्य पर उपभोग की दर पहले की अपेक्षा अधिक होगी। अत: उपभोग के दर की रेखा माँग की वृद्धि होने पर दाहिनी ओर खिसक जायेगी तथा सामान्य मूल्य बढ़ जायगा। इसी प्रकार पूर्ति के घटने या बढ़ने पर उत्पादन की दर घट या बढ़ जायेगी। नीचे के चित्र में माँग और पूर्ति के परिवर्तन का प्रभाव दिखाया गया है।
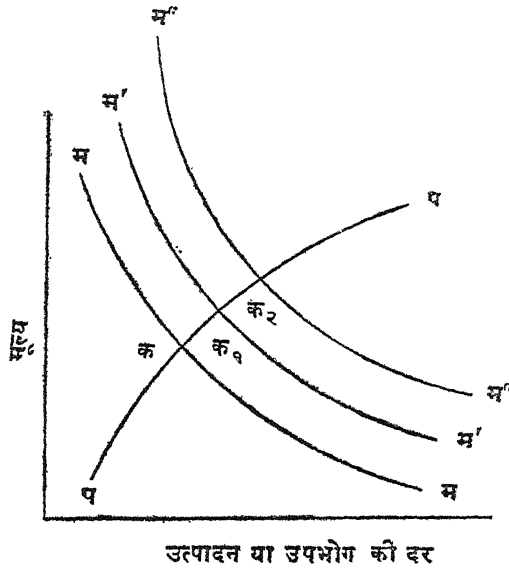
पहले चित्र में पूर्ति को अपरिवर्तित मान लिया गया है। माँग के घटने और

बढ़ने से मूल्य भी घटता और बढ़ता है। प्रारम्भ में मूल्य क बिन्दु पर निश्चित होता है। जब माँग घट जाती है और इसलिये माँग का वक्र (उपभोग की दर की रेखा) नीचे खिसक जाती है, तो मूल्य भी कम हो जाता है। इस दशा में मूल्य क बिन्दु पर निश्चित होगा। इसी प्रकार जब माँग बढ़ जाती है और इसलिये माँग की रेखा दाहिनी ओर खिसक जाती है तो मूल्य भी बढ़ जाता है। इस स्थिति में मूल्य क$_2$ बिन्दु पर निश्चित होगा।

उत्पादन या उपभोग की दर
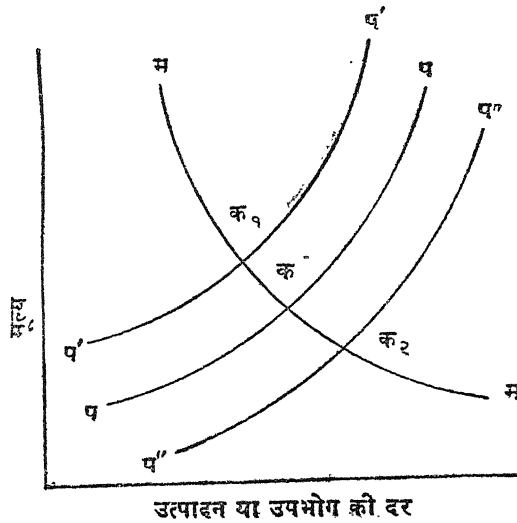
दूसरे चित्र में माँग को अपरिवर्तित मान लिया गया है। जब पूर्ति घट जाती है तो पूर्ति की रेखा (उत्पादन के दर की रेखा) बांई ओर खिसक जाती है और मूल्य बढ़ जाता है। इस दशा में मूल्य क$_1$ बिन्दु पर निश्चित होगा। यदि पूर्ति बढ़ जाती है तो पूर्ति की रेखा दाहिनी ओर खिसक जाती है और मूल्य कम हो जाता है। इस स्थिति में मूल्य क$_2$ बिन्दु पर निश्चित होगा।

सामान्य मूल्य एक दृष्टिकोण से काल्पनिक है क्योंकि वास्तविक जीवन में इसका अस्तित्व नहीं होता। बाजार का कोई भी प्रचलित मूल्य सिद्धान्त के सामान्य मूल्य के बराबर नहीं हो सकता। इसका अर्थ यह नहीं है कि सामान्य मूल्य का विचार निरर्थक है। विचार की दुनिया में उसका अस्तित्व बहुत ही महत्वपूर्ण है। (i) उत्पादकों की क्रियायें मुख्यतया सामान्य मूल्य से ही प्रभावित होती हैं। सामान्य मूल्य के आधार पर ही वे कम या अधिक उत्पादन का निर्णय करते हैं (ii) अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों में भी सामान्य मूल्य का एक महत्वपूर्ण स्थान है। अर्घ के सिद्धान्त के अनेक नियमों तथा आर्थिक शक्तियों के व्यवहार को सामान्य मूल्य द्वारा ही समझाया जाता है।

सामान्य मूल्य एक दीर्घकालीन विचार है और इसलिये सामान्य मूल्य को दीर्घ-कालीन मूल्य (Long Period Price) भी कहा जाता है। उत्पादन और उपभोग की दरों के परिवर्तन से यह स्पष्ट है कि वह प्रवैगिक दशा से ही सम्बन्धित है। बाजार मूल्य (Market price) को अल्पकालीन मूल्य (Short Period Price) कहा जाता है। बाजार मूल्य का अध्ययन तीसरी समस्या के अन्तर्गत किया जायगा। अब हम प्रवैगिक स्थिति के मूल्य-निर्धारण की दूसरी समस्या— प्रतिनिधि फर्म—पर विचार करेंगे।

II

प्रतिनिधि फर्म (Representative firm)

यदि उद्योग सन्तुलन की स्थिति में हो और उसकी फर्मों में पूर्ण प्रतिस्पर्धा हो तो सारे उद्योग में वस्तु का केवल एक ही मूल्य होगा। उद्योग की फर्में भिन्न-भिन्न प्रकार की होंगी—कुछ लाभ की स्थिति में होंगी, कुछ हानि उठा रही होंगी तथा कुछ सन्तुलन की स्थिति में होंगी जिन्हें न हानि होगी न लाभ। ऐसी स्थिति में जब कि

(१) उद्योग सन्तुलन में है अर्थात् समस्त फर्मों के हानि और लाभ मिलाकर उद्योग को न हानि हो न लाभ यानी न तो उद्योग में प्रसार हो न संकुचन तथा

(२) उद्योग की फर्मों में पूर्ण प्रतिस्पर्धा हो,

तो वस्तु का मूल्य, जो समस्त व्यवसाय के लिये एक ही होगा, किस फर्म द्वारा निश्चित किया जायगा ? इस प्रश्न का उत्तर प्रो० मार्शल ने इस प्रकार दिया है। इनके अनुसार वस्तु का मूल्य प्रतिनिधि फर्म द्वारा निर्धारित होगा।

यहाँ एक बात का स्पष्ट कर देना आवश्यक है। जिस स्थिति की हम चर्चा कर रहे हैं वह उद्योग के दृष्टिकोण से स्थैतिक है तथा फर्मों के दृष्टिकोण से प्रवैगिक है। उद्योग की स्थिति अपरिवर्तित रहती है। न उसमें प्रसार होता है न संकुचन। न उसमें हानि होती है न लाभ। अतः हम कह सकते हैं कि उद्योग स्थैतिक[1] दशा में है। परन्तु हमारे अध्ययन का विषय उद्योग की फर्में हैं जिनमें परिवर्तन हो रहा है। कुछ प्रसार की ओर अग्रसर हो रही है तथा कुछ संकुचन की ओर। कुछ को हानि हो रही है तथा कुछ को लाभ। अतः फर्मों की विशेषता उनका परिवर्तन है जो प्रवैगिक दशा का लक्षण है। फर्मों के लिये प्रवैगिक दशा ही विद्यमान है। हमें यही देखना है कि कौन सी फर्म किस प्रकार मूल्य निर्धारित करती है। हमारे लिये यह प्रवैगिक दशा, तथा (फर्मों में) पूर्णस्पर्धा की स्थिति में फर्म द्वारा उद्योग में मूल्य-निर्धारण की समस्या बन जाती है।

---

[1]यद्यपि उद्योग की फर्मों में परिवर्तन हो रहा है परन्तु सब फर्मों के परिवर्तन का कुल प्रभाव शून्य है। कुछ फर्मों का प्रसार अन्य फर्मों के संकुचन से, कुछ फर्मों का लाभ अन्य फर्मों की हानि से इस प्रकार संतुलित हो जाता है कि उद्योग अपरिवर्तित रहता है।

प्रो० मार्शल ने उद्योग की स्थैतिक दशा तथा उसकी फर्मों की प्रवैगिक दशा के परिवर्तन की तुलना एक वन के वृक्षों के परिवर्तन से की है। जिस प्रकार वन में कुछ वृक्ष अंकुरित होते रहते हैं, कुछ पूर्ण विकास को पहुँच जाते हैं तथा कुछ पुराने होकर जीर्ण-शीर्ण होने लगते हैं परन्तु वन की कुल स्थिति में कोई प्रभाव नहीं पड़ता; इसी प्रकार कुछ नई फर्में प्रसार की ओर अग्रसर होती है, कुछ इतनी विकसित हो जाती हैं कि उत्पत्ति की मितव्ययताओं को प्राप्त करती है तथा कुछ पुरानी होकर ह्रासोन्मुख हो जाती हैं। इस प्रकार व्यवसाय में तीन प्रकार की फर्मों की कल्पना की जा सकती है।

(१) वे फर्में जिन्हें लाभ हो रहा है

(२) वे फर्में जिन्हें न हानि हो रही है न लाभ तथा

(३) वे फर्में जिन्हें हानि हो रही है।

उद्योग का मूल्य पहले प्रकार की फर्मों द्वारा निश्चित नहीं किया जा सकता क्योंकि वे अपेक्षाकृत कम मूल्य पर बेचकर भी लाभ उठा सकती है और ऐसा होने पर शेष दो प्रकार की फर्में उद्योग छोड़ने को उद्यत हो जायेंगी तथा उद्योग में संकुचन की प्रवृत्ति आ जायेगी और वह सन्तुलन की स्थिति में नहीं रहेगी।

उद्योग के मूल्य को तीसरे प्रकार की फर्मों द्वारा भी निश्चित नहीं किया जा सकता क्योंकि वे इतने अधिक मूल्य पर बेचेंगी कि शेष दो प्रकार की फर्मों को अत्यधिक लाभ होगा जिसके कारण उद्योग में प्रसार की प्रवृत्ति आ जायेगी तथा उद्योग का सन्तुलन गड़बड़ हो जायेगा।
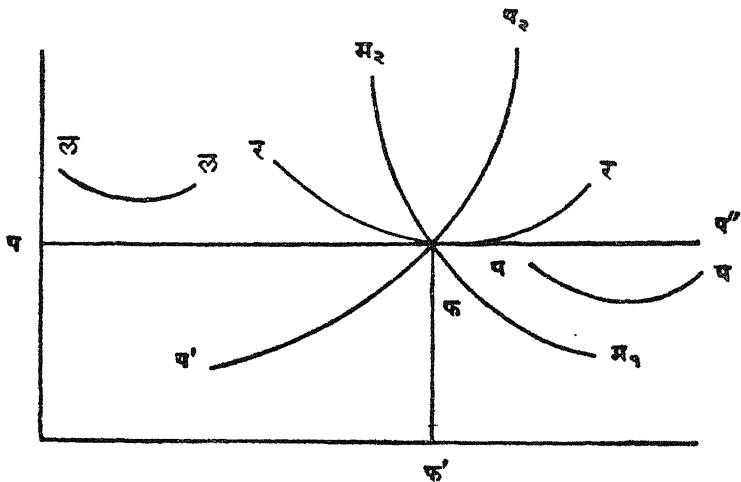
अतः उद्योग में मूल्य दूसरी प्रकार की फर्मों द्वारा ही निश्चित किया जा सकता है। व्यवसाय की स्थैतिक स्थिति तथा सन्तुलन को ध्यान में रखते हुए हम कह सकते हैं कि

उद्योग में प्रचलित मूल्य ऐसा होना चाहिये कि उद्योग की औसत लागत तथा मूल्य बराबर हो। ऐसा होने पर ही उद्योग सन्तुलन की स्थिति में होगा अर्थात् न लाभ होगा न हानि। दूसरे प्रकार की वह फर्म जिसकी औसत लागत उद्योग की औसत लागत के बराबर है, उद्योग के मूल्य का निर्धारण करेगी। ऊपर के चित्र में ऐसी फर्म को दिखाया गया है। ऐसी फर्म को प्रतिनिधि फर्म कहते हैं।

र र प्रतिनिधि फर्म की औसत लागत का वक्र है

प प'' फर्म की माँग की रेखा है

फ फ' फर्म और उद्योग की औसत लागत

ल ल हानि उठानेवाली फर्म का लागत वक्र

प प लाभ उठानेवाली फर्म का लागत वक्र

चित्र में $म_1$ $म_2$ उद्योग का माँग वक्र है तथा प' $प_2$ उद्योग का पूर्ति वक्र है। यह दोनों फ बिन्दु पर एक दूसरे को काटते हैं। यद्यपि उद्योग की माँग और पूर्ति की रेखायें खींचना काफी कठिन है (इसी कारण मार्शल ने प्रतिनिधि फर्म का सहारा लिया) फिर भी यदि हम इनकी कल्पना कर लें तो फ बिन्दु पर उद्योग का मूल्य निर्धारण होगा और इस बिन्दु पर उद्योग की औसत लागत मूल्य के बराबर होगी (क्योंकि उद्योग संस्थिति में है)। रफर फर्म की लागत भी फ बिन्दु पर ही मूल्य के बराबर है। वह इसी बिन्दु पर संस्थिति में है और इसीलिये उद्योग की संस्थिति का प्रतिनिधित्व कर रही है तथा मूल्य-निर्धारण भी। वह उद्योग की प्रतिनिधि फर्म है। जिस प्रकार उद्योग सन्तुलन में है—न उसमें लाभ होता है न हानि, न प्रसार होता है न सकुंचन—इसी प्रकार प्रतिनिधि फर्म में भी न लाभ होता है न हानि, न प्रसार होता है न सकुंचन। शेष फर्मों में इस प्रकार के परिवर्तन होते रहते हैं।

मार्शल ने इस फर्म की परिभाषा इस प्रकार दी हैं:

प्रतिनिधि फर्म उसे कहते हैं "जो **काफी समय** से चालू है जिसे **अच्छी सफलता** मिली है तथा एक दी हुई उत्पादन की मात्रा के लिये जिसकी व्यवस्था **सामान्य योग्यता** से की जाती है और जिसको **बाह्य और आन्तरिक मितव्ययतायें सामान्यतः** प्राप्त हैं।[1]

But our representative firm must be one which has a fairly long life, and fair success, which is managed with normal ability, and which has normal access to the economics, external and internal, which belong to that aggregate volume of production, account being taken of the class of goods produced, the conditions of marketing them and the economic environment generally.

—Marshall. —Principles of Economics, pp. 317.

मार्शल की परिभाषा के अनुसार प्रतिनिधि फर्म की निम्न विशेषतायें हैं। (i) वह काफी समय से चालू होती है अर्थात् वह दीर्घकालीन विचार है। (ii) उसे अच्छी सफलता प्राप्त होती है। (iii) उसका प्रबन्ध सामान्य योग्यता से होता है तथा (iv) उसे वाह्य एवम् आन्तरिक मितव्ययितायें प्राप्त होती हैं।

मार्शल की परिभाषा से यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है कि प्रतिनिधि फर्म प्रवैगिक **स्थिति** तथा **दीर्घकाल** में मूल्य-निर्धारण की समस्याओं का हल करती है। जिस संदर्भ में मार्शल ने यह परिभाषा दी है (वन के वृक्षों का उदाहरण) उससे फर्मों में परिवर्तन तथा इस प्रकार प्रवैगिक स्थिति की निहित मान्यता स्पष्ट है। दीर्घकाल के विषय में उनकी परिभाषा स्वयं-स्पष्ट उल्लेख करती है।

प्रतिनिधि फर्म की विशेषतायें

ऊपर के अध्ययन से प्रतिनिधि फर्म की विशेषतायें स्पष्ट हो जाती हैं। मार्शल की परिभाषा तथा प्रतिनिधि फर्म में निहित अर्थों से हम उसकी विशेषताओं को निम्न प्रकार से बता सकते हैं।

(१) यह एक ऐसी फर्म है जिससे उद्योग की स्थिति का सम्यक् ज्ञान हो सकता है। वह औद्योगिक व्यवस्था का प्रतिनिधित्व करती है।

(२) उद्योग की भाँति ही यह भी सन्तुलन या संस्थिति में होती है। प्रसार और सकुंचन तथा हानि और लाभ इन दोनों से यह फर्म मुक्त होती है।

(३) न यह एक अल्पकालीन फर्म है न अत्यन्त दीर्घकालीन।

(४) एक स्थिति में एक से अधिक प्रतिनिधि फर्म हो सकती है।

प्रतिनिधि फर्म की आलोचना (Criticism of the Representative Firm)

आलोचकों का कथन है कि मार्शल की प्रतिनिधि फर्म एक काल्पनिक विचार है जिसका व्यवहार में कोई अस्तित्व ही नहीं। यह आलोचना दोषपूर्ण है। वैज्ञानिक अध्ययनों में कल्पना और तर्क का ही आश्रय लिया जाता है। मार्शल ने तर्कपूर्ण कल्पना ही की है। इसके अतिरिक्त सर सिडनी चैपमेन (Sir Sydny Chapman) और ऐस्टन (Ashton) की सांख्यिकीय खोजों (Statistical researches) ने इस बात को भी प्रमाणित कर दिया है कि प्रतिनिधि फर्म व्यवहार में भी होती है।

प्रतिनिधि शब्द के अर्थ पर भी आपत्ति की गई है। प्रतिनिधि फर्म उत्पादन की प्राविधिक इकाई (technical unit) का प्रतिनिधित्व करती है या एक सांख्यिकीय (Statistical) औसत है ? मार्शल के तर्क का प्रवाह इस बात को बिलकुल स्पष्ट कर देता है कि प्रतिनिधि फर्म औद्योगिक संगठन का प्रतिनिधित्व करती है। अधिकतर ऐसी फर्म आकार का भी प्रतिनिधित्व करती है इसलिये मार्शल ने प्रतिनिधि फर्म को **इन दोनों का ही प्रतिनिधि माना है।**

श्रीमती जोन राबिन्सन का कहना है कि मार्शल ने प्रवैगिक स्थिति का विश्लेषण स्थैतिक-विधि (Static Method) से किया है। फर्मों की स्थिति प्रवैगिक है—उनमें बराबर परिवर्तन हो रहा है। इन फर्मों के लिये मूल्य निर्धारण प्रतिनिधि फर्म करती है जो परिवर्तन-शून्य है अर्थात् स्थैतिक स्थिति में है। प्रवैगिक दशा के विश्लेषण के लिये स्थैतिक विधि का प्रयोग अनुचित है। यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाय तो इसमें कोई दोष नहीं है। प्रवैगिक दशा अनेक स्थैतिक स्थितियों के योग से बनती है और इसका अध्ययन स्थैतिक विधि से करना उचित ही है।

दीर्घकाल में पूर्ण प्रतिस्पर्धा की स्थिति में सभी फर्में एक ही आकार की हो जायेंगी तब प्रतिनिधि फर्म की कोई आवश्यकता ही नहीं रहती। ऐसा तभी सम्भव हो सकता है जब पूर्ण प्रतिस्पर्धा स्थैतिक स्थिति की कल्पना की जाय। (देखिये, पिछले अध्याय में पूर्ण प्रतिस्पर्धा तथा स्थैतिक स्थिति में मूल्य निर्धारण)। किन्तु मार्शल का विचार तो फर्मों की प्रवैगिक स्थिति से सम्बन्धित है जहाँ फर्मों के आकार में विभिन्नता रहेगी। अतएव यह आलोचना भ्रमपूर्ण है।

मार्शल के विचार की सही आलोचना यह है कि उसकी प्रतिनिधि फर्म केवल संस्थिति की एक स्थिति से ही सम्बन्धित है। यदि पाँच रुपये प्रति इकाई के मूल्य पर औद्योगिक संस्थिति में 'अ' नाम की एक फर्म प्रतिनिधि फर्म है तो संस्थिति के इस स्तर के बदल जाने पर वह प्रतिनिधि फर्म नहीं रहेगी। यदि आठ रुपये प्रति इकाई के मूल्य पर औद्योगिक संस्थिति हो तो अ फर्म व्यवसाय का प्रतिनिधित्व नहीं करेगी और न मूल्य निर्धारण ही। इस स्थिति में एक दूसरी फर्म प्रतिनिधि फर्म हो जायगी। अतः मार्शल का विचार संस्थिति की एक स्थिति तक ही सीमित है। प्रो० पीगू (Prof. Pigou) ने मार्शल के विचार के इस दोष को दूर करने को प्रयत्न किया है। उन्होंने संस्थिति फर्म की अवतारणा की।

पीगू की संस्थिति फर्म (The Equilibrium Firm)

संस्थिति फर्म वह फर्म है जो उद्योग के विभिन्न संस्थिति के स्तरों पर संस्थिति में रहे। यदि पाँच रुपये प्रति इकाई के मूल्य पर उद्योग संस्थिति में है और 'अ' नाम की फर्म उसका प्रतिनिधित्व करती है तो संस्थिति के स्तर बदल जाने पर भी—यदि व्यवसायिक संस्थिति आठ रुपये प्रति इकाई के मूल्य पर हो —वही फर्म प्रतिनिधित्व करती रहेगी और संस्थिति में होगी। इसी फर्म को पीगू ने संस्थिति फर्म के नाम से पुकारा है। यह स्पष्ट ही है कि संस्थिति फर्म प्रतिनिधि फर्म का एक संशोधित रूप ही है।

प्रो० मेहता का मत

प्रो० पीगू और प्रो० मार्शल के विचार उद्योग की संस्थिति की दशाओं तक ही सीमित है। उद्योग में प्रसार और संकुचन दोनों ही हो सकते हैं तथा लाभ और हानि

भी हो सकती है। ऐसी स्थिति में मार्शल और पीगू के विचार निरर्थक सिद्ध होंगे। प्रो० मेहता ने उद्योग के प्रसार और संकुचन की प्रवृत्तियों को ध्यान में रखते हुए प्रतिनिधि फर्म की यह परिभाषा दी है।

प्रतिनिधि फर्म वह है जो उद्योग का पूरी तरह से प्रतिनिधित्व करती है। उद्योग के प्रसार के साथ उसमें भी प्रसार होता है तथा उद्योग के संकुचित होने पर वह भी संकुचित होती है। यह वह फर्म है जिसे देखकर उद्योग के बाहर के व्यक्ति उद्योग की स्थिति का अन्दाजा लगा लेते हैं।

निश्चय ही प्रो० मेहता का मत प्रो० मार्शल और प्रो० पीगू के मत से अधिक व्यापक है क्योंकि इसमें संस्थिति की दशा के अतिरिक्त प्रसार और संकुचन की दशाओं का भी समावेश किया गया है।

III

पूर्ण स्पर्धा तथा प्रवैगिक दशा में अल्पकालीन मूल्य (Short period price under perfect competition and dynamic state)

प्रवैगिक दशा का मुख्य लक्षण परिवर्तन है। अतः बाजार में विनिमय के लिए आई हुई वस्तु की मात्रा आदि बराबर बदलती रहती है। पूर्णस्पर्धा के कारण प्रतिदिन बाजार में एक ही मूल्य रहेगा। उस दिन के लिये मूल्य का निर्धारण बाजार की माँग और पूर्ति की शक्तियाँ करेगी। आगामी दिन में प्रवैगिक दशा के कारण माँग और
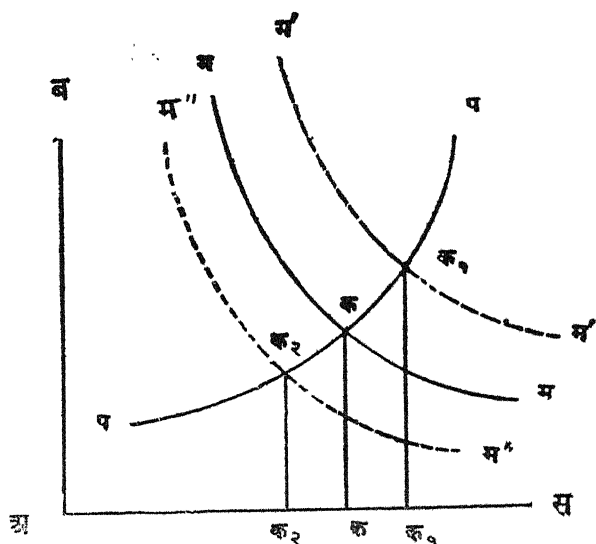
पूर्ति की परिस्थितियों में परिवर्तन हो जायेगा और इसलिए पहले दिन वाला मूल्य ही नहीं बना रहेगा। पूर्ण प्रतिस्पर्धा के कारण प्रत्येक उत्पादक या विक्रेता मूल्य को प्रभा-

वित नहीं कर सकेगा तथा उसे वस्तु को बाजार मूल्य पर ही बेचना होगा । अत: प्रवैगिक स्थिति, तथा पूर्णस्पर्धा की दशा में अल्पकालीन मूल्य बाजार की माँग और पूर्ति की शक्तियों द्वारा ही निर्धारित होगा ।

ऊपर के चित्र में बाजार के अल्पकालीन माँग तथा पूर्ति वक्र दिखाये गए हैं । यह एक दूसरे को क बिन्दु पर काटते हैं । यहीं माँग और पूर्ति बराबर हैं और इसलिए क क किसी एक दिन (या जो कुछ अल्पकाल की अवधि हो) बाजार में प्रचलित मूल्य दिखा रही है । उस दिन बाजार में केवल यही मूल्य रहेगा (क्योंकि पूर्ण प्रतिस्पर्धा की परिस्थितियाँ विद्यमान हैं) । प्रवैगिक स्थिति के कारण अन्य दिनों में बाजार का मूल्य क क से कम या अधिक होगा ।

अभी तक हमने बाजार की माँग और पूर्ति रेखाओं द्वारा मूल्य निर्धारण की चर्चा की है । यहाँ यह बता देना भी आवश्यक हैं कि अल्पकाल होने के कारण मूल्य निर्धारण में माँग बहुत महत्वपूर्ण होगी । यदि माँग बहुत अधिक होगी तो माँग की रेखा दाहिनी ओर खिसक जायेगी और अल्पकालीन मूल्य बढ़ जायेगा । चित्र में क$_1$क$_1$ माँग के अधिक होने से अल्पकाल के अपेक्षाकृत अधिक मूल्य को दिखा रही है । यदि माँग कम है तो मूल्य भी कम हो जायेगा कि क$_2$ क$_2$ मूल्य दिखा रहा है । इसका स्पष्ट कारण यह है कि अल्पकाल में वस्तु की पूर्ति सरलता से नहीं बदली जा सकती और इसलिये माँग महत्वपूर्ण हो जाती है ।

पूर्ण स्पर्धा युक्त प्रवैगिक दशा के ही अल्पकालीन मूल्यों को प्रो० मार्शल ने अल्पकालीन मूल्य या बाजार मूल्य (Short period price or Market price) कहा है । अब हम यह देखने की चेष्टा करेंगे कि प्रवैगिक दशा, पूर्ण स्पर्धा तथा अल्पकाल में विभिन्न उत्पादकों या फर्मों की क्या स्थिति होगी ?
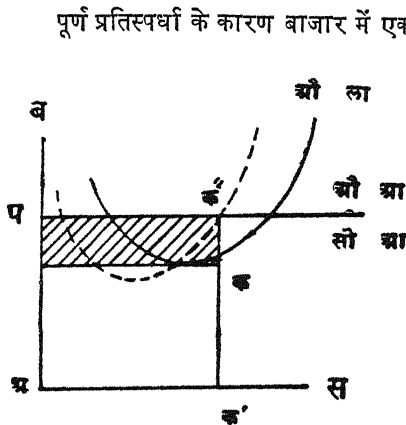
पूर्ण प्रतिस्पर्धा के कारण बाजार में एक ही मूल्य होगा परन्तु प्रवैगिक दशाओं के कारण यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक फर्म को लाभ ही हो रहा हो या प्रत्येक फर्म सन्तुलन में ही हो । यह सम्भव है कि कुछ फर्में लाभ उठा रहीं हों तथा कुछ अन्य फर्में सन्तुलन में हों तथा शेष फर्में हानि उठा रही हों । स्थैतिक स्थिति में ऐसा संभव नहीं था । वहाँ प्रत्येक फर्म सन्तुलन में थी । दिये हुए तीन चित्र अल्पकाल में प्रवैगिक तथा पूर्णस्पर्धी परिस्थितियों में फर्मों की दशा दिखा रहे हैं ।

पहले चित्र में फर्म की सीमान्त लागत और सीमान्त आय क″ बिन्दु पर बराबर है। अतः यह फर्म अ क′ इकाइयों का उत्पादन करेगी। अ क′ इकाइयों की औसत लागत क क′ है जो मूल्य से कम है। अतः इस फर्म को लाभ हो रहा है। रंगा हुआ भाग फर्म के लाभ को दिखा रहा है।
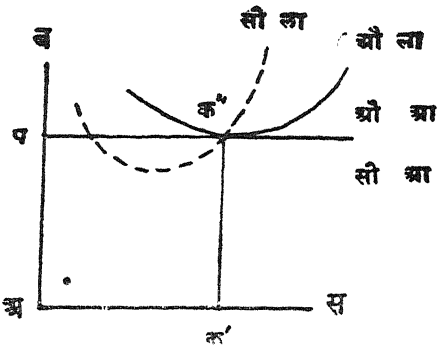
दूसरे चित्र की फर्म सन्तुलन में है क्योंकि क″ बिन्दु पर सीमान्त लागत और सीमान्त आय के बराबर होने के अलावा औसत लागत तथा औसत आय भी बराबर है। इस प्रकार इस फर्म को न लाभ होता है न हानि।
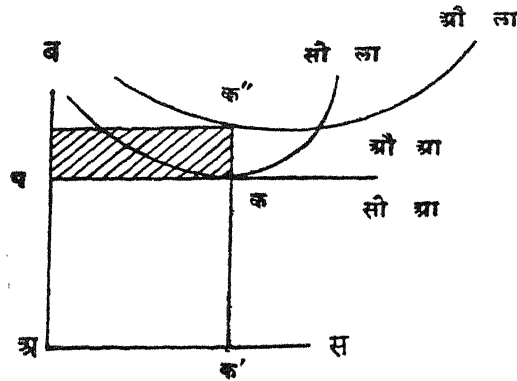
तीसरे चित्र में सीमान्त लागत और सीमान्त आय क बिन्दु पर बराबर है। अतः अ क′ इकाइयों का उत्पादन किया जायगा और इस उत्पादन की मात्रा पर औसत लागत क′ क″ होगी जो मूल्य से कहीं अधिक है। अतः इस फर्म को हानि हो रही होगी। रंगा हुआ भाग इस फर्म की हानि दिखा रहा है।

यहाँ प्रश्न किया जा सकता है कि जब किसी फर्म की हानि हो रही है तब वह उत्पादन क्षेत्र से बाहर क्यों नहीं चली जाती ? इसका कारण यह है कि अल्पकाल में एक फर्म भविष्य में अधिक लाभ उठाने की आशा से हानि उठा सकती है। कुछ वस्तुओं में इस प्रकार की हानि की अधिक सम्भावना होती है। उदाहरण के लिये शीघ्र नष्ट होने वाले पदार्थों पर उत्पादक अधिक सीमा तक हानि उठाने को तैयार होगा क्योंकि उनके नष्ट हो जाने के बाद उसे कुछ भी नहीं मिलेगा। दूध का

उदाहरण लीजिये, यदि पूर्णस्पर्धी बाजार में किसी दिन दूध की माँग एकदम कम हो जाय तो उत्पादक किस न्यूनतम मूल्य को स्वीकार करेगा ? सामान्यतः हम दूध पर लगी लागत को दो भागों में विभाजित कर सकते हैं। दूध में लगी हुई लागत तथा उसे बाजार में बेचने के लिये आवश्यक लागत जिसे हम विपणन लागत (Marketing Cost) कह सकते हैं। यदि माँग एकदम कम हो गई है तो नष्ट होने वाले पदार्थों के उत्पादक उसका न्यूनतम मूल्य विपणन लागत के बराबर लेंगे। विपणन लागत के न मिलने पर उत्पादक दूध बाजार में लाएगा ही नहीं। अतः नष्ट होने वाले पदार्थों के सम्बन्ध में उत्पादक विपणन लागत को छोड़कर शेष लागत की हानि उठा सकता है। यदि पदार्थ शीघ्र नष्ट होने वाले नहीं है तो उत्पादक इस सीमा तक हानि उठाने के लिये तैयार नहीं होगा। वह अपनी प्राथमिक अथवा प्रधान लागत अवश्य निकालना चाहेगा भले ही उसे अनुपूरक लागत न मिले। यदि उसे प्राथमिक लागत की भी हानि उठानी पड़ती हैं तब या तो वह उत्पादन के क्षेत्र को छोड़ देगा या वस्तु को भविष्य में अच्छे मूल्य पर बेचने के लिये रख लेगा।

संक्षेप में, प्रवैगिक स्थिति, पूर्णस्पर्धा तथा अल्पकाल में वस्तुओं का मूल्य उनकी माँग और पूर्ति से निश्चित होता है। प्रवैगिक दशा होने के कारण फर्मों को लाभ और हानि भी हो सकती है। अल्पकाल होने के कारण मूल्य निर्धारण में माँग का बहुत महत्वपूर्ण हाथ होता है। पूर्ण स्पर्धा स्थैतिक स्थिति के निष्कर्ष से इसकी तुलना कीजिये। उस दशा में सभी फर्मे सन्तुलन में होती है तथा इस दशामें ऐसा नहीं होता।

शीघ्र नष्ट होने वाले पदार्थ (Perishable Commodities)

ऊपर ऐसे पदार्थों की चर्चा आ चुकी है। इन पदार्थों का मूल्य निर्धारण भी उपर्युक्त रीति से ही होता है। अन्य पदार्थों की तुलना में अन्तर केवल इतना ही है कि इन पदार्थों पर उत्पादक अधिक सीमा तक हानि सहने को तैयार हो जाता है। ऊपर दूध के उदाहरण में यह सीमा भी बतायी जा चुकी है। शेष बातों में ये पदार्थ (मूल्य निर्धारण के दृष्टिकोण से) अन्य पदार्थों के समान ही है।

सामान्य मूल्य और बाजार मूल्य में अन्तर (The Difference between the Normal Price and the Market Price)

१ बाजार मूल्य किसी एक दिन या दिये हुए अल्पकाल में बाजार की माँग और पूर्ति द्वारा निश्चित किया हुआ मूल्य है। सामान्य मूल्य वह मूल्य है जिस पर उत्पादन और उपभोग की दरें बराबर होंगी।

२ बाजार मूल्य बदलता रहता है परन्तु सामान्य मूल्य में अपेक्षाकृत बहुत कम परिवर्तन होते हैं।

३ बाजार मूल्य सभी प्रकार की वस्तुओं का होता है—चाहे वह पुनरुत्पादनीय हों (Reproducible) या निरुत्पादनीय[१] (Non-Reproducible) जबकोई भी वस्तु बाजार में बिकती है तो उसका मूल्य अवश्य ही होगा; परन्तु निरुत्पादनीय वस्तुओं के बारे में सामान्य मूल्य की धारणा लगभग असम्भव है। जिन वस्तुओं का पुनः उत्पादन नहीं किया जा सकता, भविष्य में उनके उत्पादन और उपभोग की दर को समान करने वाले मूल्य की कल्पना, कल्पना ही होगी।

EXERCISES

1. Distinguish between "Market" and "NormalP rice." Explain how Normal Price is determined in the long period in a competitive market. Agra U. B. A. 1951

2. "We might as reasonably dispute whether it is the upper or under blade of a pair of scissors that cuts a piece of paper, as whether value is governed by utility or cost of production" Discuss fully this statement. Agra U. B. A. 1952

3. Write a short note on the Representative Firm.
Agra U. B. Com. 1953

4. Define a short period and show how prices are determined in the short period under competitive.conditions.
Allad. U. B. Com. I 1952

5. Show how the following two statements about the determination of price under competitive con litions can be reconciled·—

(a) Price is equal to the cost of productoin.

(b) Price is equal to marginal utility.

Allad. U. B. Com. I 1953

6. What is meant by 'Market' in Economics ? Distinguish between perfect market and an imperfect market. Allad. U. B. A. 1950

7. Explain the meaning of 'perfect competition ?' Show how prices are determined in the short and long period under competitive conditions. Allad. U. B. Com. I 1950

---

[१] निरुत्पादनीय वस्तुओं से तात्पर्य उन सीमित पदार्थों से है जो एक बार बनाये जाने के बाद दुबारा नहीं बनाये जा सकते। उदाहरण के लिये प्रसिद्ध चित्रकार रुफ-हल (Raphael) के चित्रों को फिर से नहीं बनाया जा सकता। अतः उसके बनाये हुए चित्रों को हम निरुत्पादनीय कह सकते हैं।

अध्याय २५

परिशिष्ट

(THE VALUE OF IRREPRODUCIBLE COMMODITIES)

निरुत्पादनीय वस्तुओं का मूल्य

वे वस्तुयें जिनकी पूर्ति फिर से उत्पन्न करके बढ़ाई नहीं जा सकती निरुत्पादनीय कहलाती है। इन वस्तुओं की पूर्ति किसी भी मूल्य पर बढ़ाई नहीं जा सकती। विक्रेता (sllers) प्रत्येक मूल्य पर ऐसी वस्तु की उपलब्ध मात्रा ही प्रस्तुत कर सकता है। यह मात्रा सर्वथा स्थिर (fixed) है। अतः इन वस्तुओं की पूर्ति रेखा शीर्षाकार (vertical) होगी। इस शीर्षाकार पूर्ति-रेखा से यह न समझ लेना चाहिए कि विक्रेता उसे किसी भी निम्न मूल्य (low price) पर बेच देगा। वास्तव में विक्रेता एक निश्चित मूल्य के बराबर या अधिक मूल्य मिलने पर ही वस्तु को बेचने के लिए उद्यत होगा। ऐसीदशा में वस्तु के मूल्य की दो सीमायें होंगी—विक्रेता का निम्नतम मूल्य जिससे कम पर वह वस्तु को नहीं बेचेगा तथा क्रेता Buyer) का अधिकतम मूल्य जिससे अधिक मूल्य देने के लिए वह प्रस्तुत नहीं होगा। वास्तविक मूल्य इन दोनों में से किसी एक सीमा पर या दोनों सीमाओं के अन्दर निश्चित होगा। मूल्य निम्नतम सीमा पर तभी निश्चित होगा जब कि विक्रेता एकदम प्रभावहीन हों परन्तु ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि निरुत्पादनीय वस्तुओं की सीमित पूर्ति के कारण विक्रेता मूल्यों को बहुत प्रभावित कर सकते हैं। अतः वस्तु का मूल्य निम्नतम सीमा पर निश्चित होने की सम्भावना तभी हो सकती है जब कि क्रेताओं का अधिकतम मूल्य भी इसी के बराबर हो। सामान्यतया मूल्य क्रेता के अधिकतम मूल्य (जो विक्रेता के निम्नतम मूल्य से अधिक होगा) पर ही निश्चित होगा। इनके
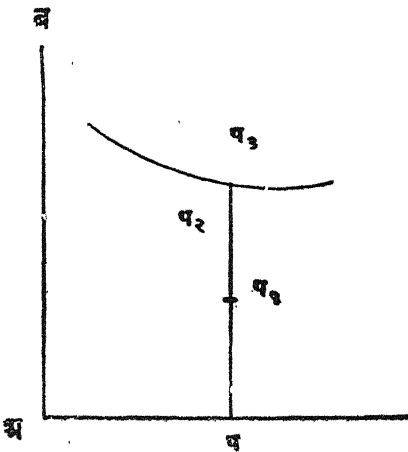
बीच मूल्य निर्धारित होने की सम्भावना तभी हो सकती है जब कि क्रेता बड़ी

चतुराई से अपने वास्तविक अधिकतम मूल्य को न बताकर विक्रेता को उससे कम मूल्य को ही अधिकतम होने का विश्वास दिला दे। परन्तु ऐसा सामान्यतः सम्भव नहीं है क्योंकि इन वस्तुओं के विक्रय में विक्रेता (वस्तु की सीमित पूर्ति के कारण) अधिक प्रभावशाली होता है और वह क्रेता का वास्तविक अधिकतम मूल्य पता लगा ही लेगा। अतः इन वस्तुओं का मूल्य विक्रेता के निम्नतम मूल्य से ऊपर तथा क्रेता के अधिकतम मूल्य के बराबर होता है।

उपर्युक्त चित्र में पप$_3$ शीर्षाकार रेखा निरुत्पादनीय वस्तु की पूर्ति रेखा है। प$_1$ विक्रेता का निम्नतम मूल्य है जिससे कम मूल्य पर विक्रेता बेचने को प्रस्तुत नहीं होगा। वक्राकार रेखा क्रेता की माँग की रेखा है। वस्तुओं की इस पूर्ति को ध्यान में रखते हुए वह वस्तु का अधिकतम मूल्य पप$_2$ दे सकता है। यही वस्तु का मूल्य है। यदि क्रेता इससे भी अधिक मूल्य देने के लिए प्रस्तुत हो अर्थात् माँग की रेखा और भी ऊपर हो तो वस्तु का मूल्य पप$_2$ से भी अधिक होगा। वस्तु का मूल्य पप$_1$ से कम नहीं हो सकेगा, यह ध्यान रखना चाहिए। वस्तुओं की पूर्ति एकदम सीमित होने के कारण विक्रेता अधिक प्रभावपूर्ण स्थिति में होंगे और इसीलिए किसी भी मूल्य पर बेचने के लिए उन्हें बाध्य नहीं किया जा सकता।

निरुत्पादनीय वस्तुओं के मूल्य निर्धारण की समस्या पूर्णस्पर्धा के अन्तर्गत नहीं है। वस्तुओं की अत्यन्त सीमित पूर्ति और इसलिए विक्रेताओं (sellers) की अल्प संख्या आदि होने के कारण इन वस्तुओं को बेचने के लिए पूर्ण प्रतिस्पर्धा नहीं होती। इस कारण इनके मूल्य-निर्धारण का अध्ययन पूर्णस्पर्धा में मूल्य निर्धारण के अन्तर्गत न करके एक अलग परिशिष्ट में किया गया है।

अध्याय २६

अपूर्ण या एकाधिकारिक प्रतिस्पर्धा में मूल्य

(PRICE UNDER IMPERFECT OR MONOPOLISTIC COMPETITION)

'पृष्ठभूमि' के अध्याय में हम अपूर्ण प्रतिस्पर्धा का अर्थ स्पष्ट कर चुके हैं। क्लासिकल अर्थशास्त्रियों ने पूर्ण या स्वतन्त्र प्रतिस्पर्धा के अनुमान पर ही समस्याओं का विश्लेषण किया था। उनका विचार था कि स्वतन्त्र प्रतिस्पर्धा एक अनुमान ही नहीं है वरन् व्यवहारिक जगत की वस्तु है। सन् १९२६ के बाद अर्थशास्त्रियों का ध्यान अपूर्ण प्रतिस्पर्धा की ओर आकर्षित हुआ। उन्होंने देखा कि व्यवहार जगत की वस्तु तो अपूर्ण प्रतिस्पर्धा है। पूर्ण प्रतिस्पर्धा तो एक अपवादमात्र है।

अपूर्ण स्पर्धा व्यवहार जगत की वस्तु है, व्यवहार जगत परिवर्तनशील होता है। अत: यह कहने की आवश्यकता नहीं कि अपूर्ण प्रतिस्पर्धा का मूल्य निर्धारण प्रवैगिक स्थिति और अल्पकाल से सम्बन्धित है। अपूर्ण प्रतिस्पर्धा का कारण उन चारों बातों का अभाव है जिनकी चर्चा हम पूर्ण स्पर्धा के लिए आवश्यक शर्तों के रूप में कर चुके हैं अर्थात् क्रेता और विक्रेताओं की संख्या में कमी, वस्तु की विभिन्नता, पारस्परिक लगाव, निकट सम्पर्क का अभाव आदि कारण अपूर्ण प्रतिस्पर्धा को जन्म देते हैं। इन कारणों से अपूर्ण प्रतिस्पर्धा में एक वस्तु के लिए एक ही मूल्य नहीं होता। विक्रेता की मूल्य प्रभावित करने की शक्ति, उपभोक्ता का लगाव (Attachment) आदि के कारण अपूर्ण प्रतिस्पर्धा में प्रत्येक फर्म का अपना अलग मूल्य होता है। अत: यहाँ मूल्य निर्धारण की समस्या फर्म द्वारा मूल्य निर्धारण करने की समस्या है। हम यहाँ प्रत्येक फर्म के लिये एक ही बाजार मूल्य की कल्पना नहीं कर सकते। क्योंकि अपूर्ण प्रतिस्पर्धा में प्रत्येक फर्म का अपना अलग मूल्य होगा। अत: हमें यह देखना चाहिये कि फर्म मूल्य निर्धारण किस प्रकार करती है ?

अपूर्ण प्रतिस्पर्धा में मूल्य निर्धारण का वही सिद्धान्त लागू होता है जिसे हम 'पृष्ठभूमि' में स्पष्ट कर चुके हैं। किसी एक फर्म का उत्पादन वहाँ निश्चित होगा जहाँ उसकी सीमान्त आय और सीमान्त लागत बराबर है। उत्पादन की इसी मात्रा पर फर्म का लाभ अधिकतम होगा और इसी मात्रा से सम्बन्धित औसत आय द्वारा फर्म का मूल्य निश्चित होगा। अपूर्ण प्रतिस्पर्धा में औसत आय की रेखा दाहिनी ओर गिरती

हुई होगी। सीमान्त आय की रेखा भी दाहिनी ओर गिरती हुई होगी। सीमान्त लागत और औसत लागत को मालूम करके हम अपूर्ण प्रतिस्पर्धा में मूल्य निर्धा-रण इस प्रकार करते हैं।
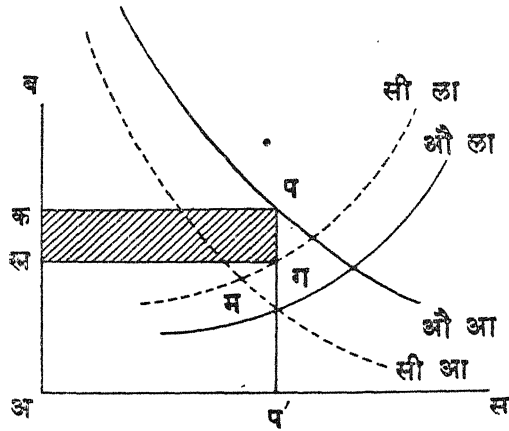
ऊपर के चित्र में औ आ तथा सी आ फर्म की औसत तथा सीमान्त आय की रेखायें हैं। औ ला और सी ला औसत तथा सीमान्त लागत की रेखायें हैं। म बिन्दु पर सीमान्त लागत और सीमान्त आय की रेखायें एक दूसरे को काटती हैं अर्थात् उत्पादन की अ प' इकाइयों पर सीमान्त आय और सीमान्त लागत बराबर है। अतः अपने लाभ को अधिकतम करने के लिये फर्म अ प' इकाइयाँ उत्पन्न करेगी तथा उत्पादन की इस मात्रा पर उपलब्ध औसत आय प प' को वस्तु का मूल्य निश्चित करेगी तभी उसका लाभ अधिकतम होगा। औसत आय तथा मूल्य में कोई अन्तर नहीं होता जैसा कि हम 'पृष्ठभूमि' में समझा चुके हैं। उत्पादन की अ प' मात्रा पर वस्तु की लागत ग प' तथा मूल्य प प' है। अतः फर्म की कुल आय अ प' प क आयत दिखाता है तथा कुल लागत अ प' ग ख आयत दिखाता है। इन दोनों का अन्तर रंगा हुआ भाग फर्म का अतिरिक्त या लाभ दिखा रहा है।

उपर्युक्त चित्र में हमने ह्रासमान प्रत्युपलब्धि की दशा में वस्तु का मूल्य निर्धा-रण किया है। इसीलिये औसत लागत और सीमान्त लागत की रेखायें क्रमशः दाहिनी ओर उठती हुई है। यदि फर्म को स्थिर प्रत्युपलब्धि प्राप्त हो रही हो तब मूल्य किस प्रकार निश्चित होगा ? इस दशा में औसत लागत तथा सीमान्त लागत एक ही अनु-

भूमिक रेखा द्वारा दिखाई जायेंगी क्योंकि उत्पादन की प्रत्येक मात्रा पर औसत लागत तथा सीमान्त लागत समान रहती हैं।
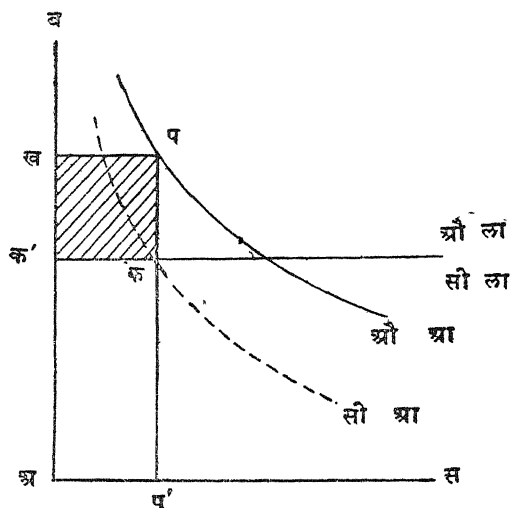
चित्र में दाहिनी ओर गिरती हुई औसत तथा सीमान्त आय की रेखा अपूर्ण प्रतिस्पर्धा की द्योतक है। स्थिर प्रत्युपलब्धि नियम (The law of constant
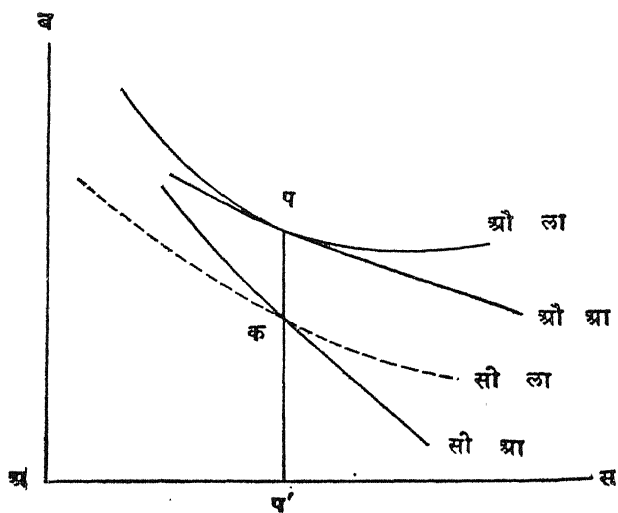
return) के कारण औसत और सीमान्त लागत एक ही अनुभूमिक रेखा द्वारा दिखाई गई हैं। यह अनुभूमिक रेखा सीमान्त आय को क बिन्दु पर काटती है। सीमान्त

आय तथा सीमान्त लागत बराबर है। अतः फर्म अ प′ इकाइयों का उत्पादन करेगी क्योंकि उत्पादन की इस मात्रा पर ही सीमान्त आय और सीमान्त लागत समान होती है। इस मात्रा पर फर्म प प′ मूल्य निश्चित करेगी। कुल आय तथा कुल लागत का अन्तर अर्थात् फर्म का अतिरिक्त या लाभ रंगे हुए भाग द्वारा दिखाया गया है।

यदि फर्म को वृद्धिमान प्रत्युपलब्धि प्राप्त हो रही हो तब मूल्य निर्धारण किस प्रकार होगा ? इस दशा में कोई निश्चित उत्तर देना सम्भव नहीं है। ऐसी दशा में हम दो स्थितियों की कल्पना कर सकते हैं। एक तो यह कि फर्म की वृद्धिमान प्रत्युपलब्धि दिखाती हुई लागत की रेखा औसत आय की रेखा से इस प्रकार ऊपर हो कि उसे स्पर्श करके फिर ऊपर ही रहे।

ऊपर के चित्र में औ आ तथा सी आ औसत तथा सीमान्त आय की रेखायें हैं। औसत लागत की रेखा औ ला औसत आय की रेखा से ऊपर है तथा प बिन्दु पर उसे स्पर्श करके फिर औसत आय के ऊपर ही रहती है। सीमान्त लागत की रेखा सी ला सीमान्त आय की रेखा को क बिन्दु पर, जो प बिन्दु के ठीक नीचे है, काटती है।
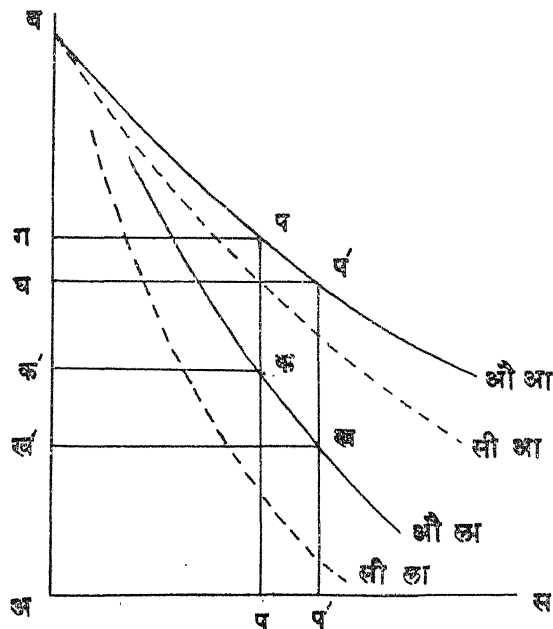
अतः अ प′ इकाइयों का उत्पादन किया जायगा क्योंकि इसी मात्रा पर सीमान्त आय और सीमान्त लागत बराबर हैं। इस मात्रा पर फर्म प प′ मूल्य निश्चित करेगी। उसे कोई लाभ नहीं होगा क्योंकि उसकी प्रति इकाई लागत भी प प′ है।

यदि वृद्धिमान प्रत्युपलब्धि इस प्रकार से प्राप्त हो रही हो कि औसत लागत की रेखा एकदम दाहिनी ओर नीचे गिरती चली आ रही है अर्थात् उत्पादन की वृद्धि के साथ साथ लागत लगातार कम होती जा रही है, तब सीमान्त आय और सीमान्त लागत की समानता के आधार पर मूल्य निश्चित नहीं होगा। उस समय फर्म उस मात्रा का उत्पादन करेगी जहाँ पर औसत आय तथा लागत का अन्तर ऐसा हो कि उसका कुल लाभ अधिकतम हो। सीमान्त लागत और सीमान्त आय की समानता वाली उत्पत्ति से इस दशा में लाभ अधिकतम हो, यह आवश्यक नहीं है।

ऊपर के चित्र में औसत तथा सीमान्त लागत वृद्धिमान प्रत्युपलब्धि के कारण एकदम दाहिनी ओर गिरती हुई हैं। इस स्थिति में फर्म को ऐसा मूल्य तलाश करना पड़ेगा जहाँ उसका लाभ अधिकतम हो। वह एक बार प प मूल्य निश्चित करके देखेगी कि उसका अतिरिक्त क प ग क' है। दूसरी बार वह प'प' मूल्य निश्चित करेगी तथा अपने लाभ ख प' घ ख को देखेगी। यदि दूसरे मूल्य से प्राप्त लाभ शेष सभी मूल्यों से प्राप्त लाभों की तुलना में अधिक है तो फर्म प'प' मूल्य ही निश्चित करेगी। ऐसी दशा में हम निश्चियात्मक रूप से एकबारगी नहीं कह सकते कि फर्म की उत्पादन की मात्रा तथा मूल्य क्या होगा।

एकाधिकार में मूल्य निर्धारण

पूर्ण प्रतिस्पर्धा की चर्चा करते समय हम कह चुके हैं कि उस स्थिति में कोई उत्पादक या फर्म उत्पादन की मात्रा या वस्तु के मूल्य को प्रभावित नहीं कर सकता। पूर्ण एकाधिकार में केवल एक ही उत्पादक या फर्म होती है और वह मूल्य तथा पूर्ति को पूरी तरह प्रभावित कर सकती है। पूर्ण प्रतिस्पर्धा में माँग की रेखा अनुभूमिक होती है तथा पूर्ण एकाधिकार में माँग की रेखा शीर्षाकार (Vertical) होती है। व्यवहारिक जीवन में पूर्ण एकाधिकार नहीं पाया जाता। प्रत्येक वस्तु के एक से अधिक उत्पादक होते हैं तथा वस्तु की पूर्ति और मूल्य को वह थोड़ा बहुत ही प्रभावित कर सकते हैं। व्यवहार में आंशिक एकाधिकार ही पाया जाता है या यों कहना चाहिए कि एकाधिकार या प्रतिस्पर्धा का मिश्रण पाया जाता है। आधुनिक अर्थशास्त्री उदाहरणार्थ श्रीमती जोन रोबिन्सन (Mrs. Joan Robinson) और श्री चेम्बरलिन (Chamberlin) एकाधिकार शब्द का प्रयोग इस मिली-जुली स्थिति के लिये ही करते हैं। एकाधिकार का अर्थ पूर्ण एकाधिकार नहीं होता। अतः आधुनिक अर्थशास्त्रियों के अनुसार एकाधिकार में मूल्य निर्धारण उसी प्रकार से होता है जिस प्रकार से अपूर्ण या एकाधिकारिक प्रतिस्पर्धा में। इसका विस्तृत वर्णन हम कर चुके हैं और इसे दुहराना आवश्यक नहीं है।

यहाँ हम एकाधिकार मूल्य को निश्चित करने के बारे में प्रो० मार्शल का मत व्यक्त करेंगे। प्रो० मार्शल के अनुसार एकाधिकारी अपनी एकाधिकारिक आय को अधिक-

तम करना चाहता है। प्रो० मार्शल ने वास्तविक एकाधिकारिक आय (Net mono poly revenue) शब्द का प्रयोग किया है। वास्तविक एकाधिकारिक आय कुल आय तथा कुल लागत का (जिसमें प्रबन्धक का प्रतिफल भी शामिल है) अन्तर है। प्रश्न यह उठता है कि वह इसे अधिकतम किस प्रकार करें।

एकाधिकारी की शक्तियाँ सीमित है। वह वस्तु का उत्पादन उपभोक्ताओं के लिये करता है। उनकी माँग पर उसका प्रभावपूर्ण अधिकार नहीं है। यदि वह अधिक ऊँचा मूल्य लेने का प्रयत्न करेगा तो यह सम्भव है कि उपभोक्ताओं की माँग कम हो जाय और उसकी वास्तविक एकाधिकारिक आय अधिकतम न हो सके। संक्षेप में उसके मूल्य निर्धारण पर वस्तु की माँग की लोच का बहुत प्रभाव पड़ता है। यदि माँग की लोच बहुत कम है तब उत्पादक अधिक मूल्य लेने में समर्थ हो सकेगा। अधिक लोचदार माँग वाली वस्तुओं का मूल्य अधिक ऊँचा नहीं किया जा सकता।

जहाँ एक ओर एकाधिकारी की मूल्य लेने की शक्तियाँ माँग की परिस्थितियों पर निर्भर है वहाँ दूसरी ओर वस्तु की पूर्ति उसकी उत्पादन लागत पर निर्भर है। यदि उसे वृद्धिमान प्रत्युपलब्धि प्राप्त हो रही हो तो वह वस्तु की अधिक मात्रा बाजार में ला सकेगा क्योंकि अधिक उत्पादन से उसकी लागत कम हो जाती है। दूसरी ओर यदि उसे ह्रासमान प्रत्युपलब्धि प्राप्त हो रही है तो वह वस्तु की अपेक्षाकृत कम पूर्ति प्रस्तुत करेगा। यदि उसे स्थिर प्रत्युपलब्धि प्राप्त हो रही है तो उसका मुख्य ध्यान उपभोक्ताओं की माँग की प्रकृति—माँग की कम या अधिक लोच होना—पर होगा।
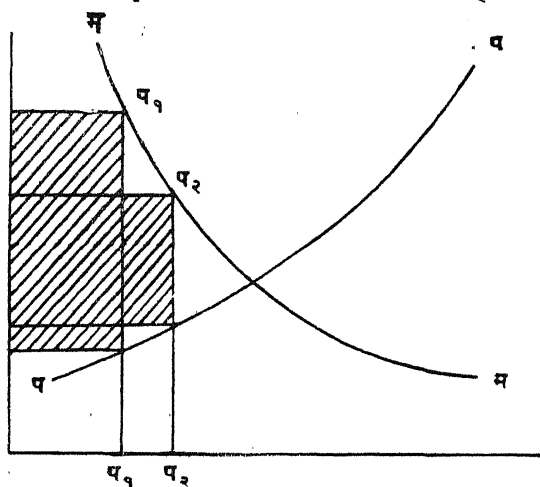
इन दोनों बातों को ध्यान में रखते हुये एकाधिकारी उस मूल्य को निश्चित करेगा जहाँ उसकी वास्तविक एकाधिकार आय अधिकतम हो। वह विभिन्न मूल्यों पर तथा

उनसे सम्बन्धित उत्पादन की मात्रा को ध्यान में रखकर वास्तविक एकाधिकार आय का अनुपात लगायेगा तथा वही मूल्य और उत्पादन की मात्रा निश्चित करेगा जहाँ उसकी वास्तविक एकाधिकार आय अधिकतम हो।

नीचे दिये हुए दो चित्रों में एकाधिकारी विभिन्न मूल्यों को निश्चित करके यह देखने की कोशिश करेगा कि उसकी वास्तविक आय कहाँ अधिकतम है। पिछले पृष्ठ के चित्र में यदि एकाधिकार-आय प१प१ पर अधिकतम है तो यही मूल्य निश्चित किया जायगा। इस चित्र में ह्रासमान प्रत्युतलब्धि के कारण पूर्ति रेखा दाहिनी ओर उठती हुई है। यह अनुमानविधि शेष दो दशाओं में भी, जब उसे वृद्धिमान या स्थिर प्रत्युपलब्धि प्राप्त हो रही हो, लागू होगी। उस दशा में चित्र इस प्रकार के होंगे।
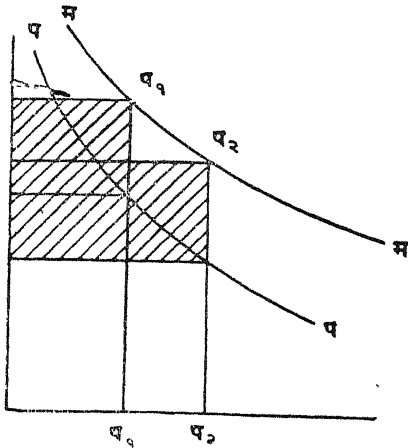
पहला चित्र

पहले चित्र में वृद्धिमान प्रत्युपलब्धि के कारण पूर्ति रेखा प प दाहिनी ओर गिरती हुई है। दूसरे चित्र में स्थिर प्रत्युपलब्धि के कारण प प एक अनुभूमिक रेखा है। दोनों स्थितियों में मूल्य उसी विधि से निश्चित किया जायगा।

हम अधिकतम वास्तविक एकाधिकार आय को दूसरी प्रकार से भी जान सकते हैं। यदि हम कुल आय तथा कुल लागत की रेखायें खींचें तो उत्पादन की जिस मात्रा पर इनका अन्तर अधिकतम होगा वही मात्रा उत्पन्न की जायगी और कुल आय को उस मात्रा से भाग देने पर मूल्य मालूम हो जायगा (कुल आय ÷ उत्पादन की मात्रा = औसत आय = मूल्य) कुल आय तथा कुल लागत का अन्तर अधिकतम होने के कारण उत्पादन की इसी मात्रा पर वास्तविक एकाधिकार आय अधिकतम होगी।
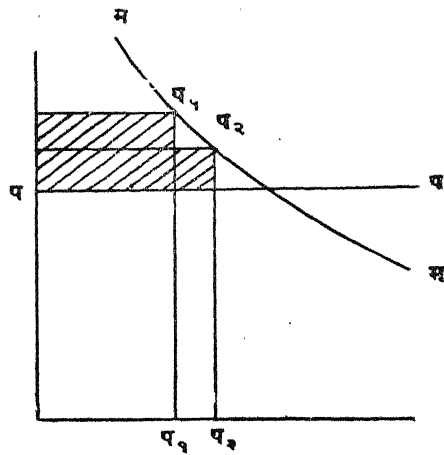
दूसरा चित्र

नीचे के चित्र में कु० आ० कुल आय की रेखा है तथा कु० ला० कुल लागत की रेखा है। इन दोनों के बीच खींची हुई शीर्ष रेखायें कुल आय और कुल लागत का अन्तर दिखा रही है। अ प उत्पादन की मात्रा पर यह अन्तर अधिकतम है और इसलिये अ प मात्रा ही उत्पन्न की जायगी क्योंकि इसी मात्रा पर वास्तविक एकाधि-

कार आय अधिकतम होगी। यदि अ प उत्पादन की सौ इकाइयाँ हैं तथा इस उत्पादन पर कुल आय एक हजार रुपये है तो एकाधिकार मूल्य
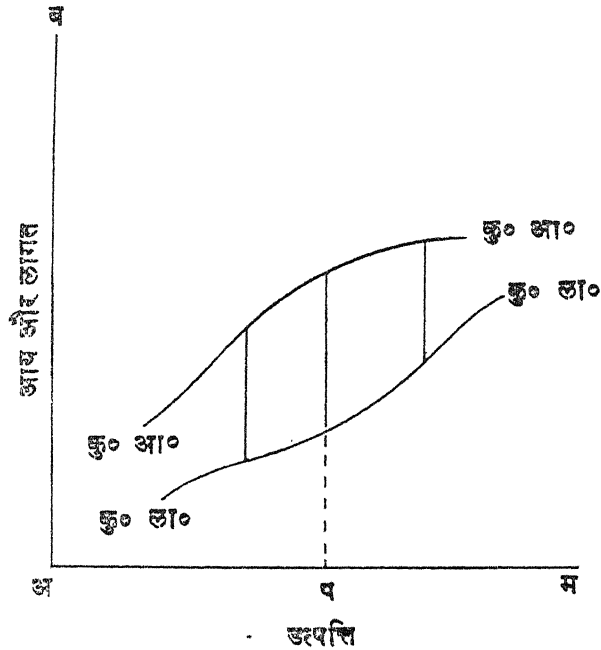
$$= \frac{\text{कुल आय}}{\text{उत्पादन की मात्रा}}$$

$$= \frac{\text{१००० रुपये}}{\text{१००}}$$

$$= \text{१०) रुपये प्रति वस्तु}$$

यदि इस मात्रा पर कुल लागत सात सौ रुपये हो तो वास्तविक एकाधिकार आय १०००) रुपये—७००) रुपये = ३००) रुपये होगी।

मार्शल की एकाधिकार मूल्य निकालने की विधि अनुमान-विधि (Trial and Error Method) है। इस विधि में हम निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते कि उत्पादन की मात्रा कितनी होगी। अनुभव के आधार पर ही एकाधिकार मूल्य तथा उत्पादन की मात्रा निश्चित की जा सकेगी। आधुनिक अर्थशास्त्री अपूर्ण या एकाधिकारिक प्रतिस्पर्धा और एकाधिकार मूल्य में कोई अन्तर नहीं करते। वे सीमान्त लागत और

सीमान्त आय की समानता द्वारा शीघ्र ही एकाधिकारिक उत्पादन की मात्रा तथा एकाधिकार मूल्य बता सकते हैं।

हम ऊपर कह चुके हैं कि एकाधिकार मूल्य वस्तु की माँग की लोच से प्रभावित होता है। कभी-कभी अलग-अलग बाजारों में माँग की लोच इतनी भिन्न होती है कि एकाधिकारी अलग-अलग बाजारों में अलग-अलग मूल्य भी ले सकता है। इस प्रकार के एकाधिकार को विवेचनात्मक एकाधिकार कहते हैं। अब हम विवेचनात्मक एकाधिकार में मूल्य निर्धारण करने की समस्या पर विचार करेंगे।

विवेचनात्मक एकाधिकार (Discriminating Monopoly)

एकाधिकार के सम्बन्ध में हम कह चुके हैं कि एकाधिकारी मूल्यों को प्रभावित कर सकता है। जब एकाधिकारी एक ही वस्तु के लिये ग्राहकों से अलग-अलग मूल्य लेने में समर्थ है तो इसे विवेचनात्मक एकाधिकार कहते हैं।

विवेचनात्मक एकाधिकार सफल होने के लिये यह आवश्यक है कि जिन ग्राहकों या ग्राहक-समुदायों के बीच मूल्य-विवेचन किया जा रहा है उनकी माँग की लोच अलग-अलग होनी चाहिए। यदि माँग की लोच समान हो तो विवेचन सम्भव नहीं होगा। इसके अतिरिक्त उन बाजारों को जिनमें कि मूल्य-विवेचन किया जाता है एक दूसरे से अलग होना चाहिये। यदि ऐसा न होगा तो उपभोक्ता सस्ते मूल्य वाले बाजार से वस्तुयें खरीद लेगा और मूल्य-विवेचन नहीं हो सकेगा।

कुछ परिस्थितियाँ मूल्य-विवेचन के लिए बहुत अनुकूल होती हैं। उदाहरण के लिए वस्तु की प्रकृति को लीजिये। एक डाक्टर की सेवायें गरीब मरीजों को कम फीस में प्राप्त हो सकती हैं तथा अमीर मरीजों को अधिक मूल्य पर। इस दशा में कोई अमीर आदमी सस्ते में इलाज प्राप्त करने के लिये अपने बदले में किसी गरीब आदमी को नहीं भेज सकता। इसलिये डाक्टर के लिये मूल्य-विवेचन करना अत्यन्त सरल है। यदि वस्तुयें उपभोक्ताओं के आदेश पर बेची जाती हैं तो, जैसा कि श्रीमती जोन रोबिन्सन ने कहा है, मूल्य-विवेचन सरलता से सम्भव है क्योंकि एक उपभोक्ता को यह नहीं मालूम होता कि अन्य उपभोक्ताओं ने क्या मूल्य दिया है। यदि हम विभिन्न वस्तुओं के लिए समान सेवा के प्रार्थी हैं तब भी विवेचन सम्भव है। रेलवे कम्पनी समान दूरी के लिए विभिन्न पदार्थों के लिए विभिन्न भाड़ा लेती है। यातायात के व्यय तथा सरकारी नियम भी मूल्य-विवेचन को सरल बना देती है। उदाहरण के लिए यातायात व्यय के कारण विभिन्न बाजारों का भौगोलिक विभाजन सम्भव हो जाता है।

मूल्य-विवेचन के कई प्रकार होते हैं।

(१) वैयक्तिक

(२) स्थानीय या भौगोलिक

(३) व्यापारिक

वैयक्तिक विवेचन उस समय होता है जब विभिन्न ग्राहकों से उनकी इच्छा की तीव्रता के अनुसार या उनकी आर्थिक स्थिति के अनुसार विभिन्न मूल्य लिये जाते हैं।

स्थानीय या भौगोलिक विवेचन उस समय होता है जब एकाधिकारी एक स्थान पर कम तथा दूसरे पर अधिक मूल्य लेता है।

व्यापारिक विवेचन उस समय होता है जब एकाधिकारी एक व्यापार में कम तथा दूसरे में अधिक मूल्य लेता है। उदाहरण के लिए बिजली की कम्पनी व्यवसायिक कार्यों के लिए विद्युत् शक्ति कम दामों पर देती है तथा घरेलू कामों के लिए अधिक दामों पर।

प्रो० पीगू ने मूल्य-विवेचन का इस प्रकार से वर्गीकरण किया है।

(१) प्रथम श्रेणी का मूल्य-विवेचन

(२) द्वितीय श्रेणी का मूल्य-विवेचन

(३) तृतीय श्रेणी का मूल्य-विवेचन

पहले प्रकार का विवेचन बहुत ही प्रभावपूर्ण है। इस विवेचन में वस्तु या सेवा की प्रत्येक इकाई के लिए अलग-अलग मूल्य लिया जाता है। डाक्टर, वकील आदि द्वारा किया हुआ मूल्य-विवेचन इसी प्रकार का होता है।

दूसरे प्रकार के मूल्य-विवेचन में बाजारों को विभिन्न वर्गों में विभाजित किया जाता है। प्रत्येक वर्ग में वह मूल्य लिया जाता है जो उस वर्ग का कोई भी व्यक्ति दे सकता हो।

तीसरे प्रकार का विवेचन वस्तु की माँग की लोच के आधार पर किया जाता है। जिन व्यक्तियों की माँग की लोच कम होगी उनसे अधिक मूल्य लिया जायेगा तथा जिन व्यक्तियों की माँग की लोच अधिक होगी उनसे कम मूल्य लिया जायेगा।

प्रो० पीगू का यह वर्गीकरण एक दृष्टिकोण से त्रुटिपूर्ण है। उन्होंने केवल वस्तुओं या सेवाओं के बीच ही मूल्य-विवेचन किया है। व्यक्तियों या खरीदारों में भी विवेचन किया जाता है, जिस पर उन्होंने कोई ध्यान नहीं दिया।

विवेचनात्मक एकाधिकार में मूल्य-निर्धारण

एकाधिकारी अपने एकाधिकार-लाभ (monopoly gain) को अधिकतम करना चाहता है। विभिन्न बाजारों में माँग की लोच के अनुसार वह विभिन्न मूल्य लेगा। एक ही बाजार की स्थिति में सीमान्त आय और सीमान्त लागत को बराबर करके वस्तु का ऐसा मूल्य मालूम किया जा सकता था जहाँ एकाधिकार लाभ अधिकतम

हो; परन्तु एक से अधिक बाजार होने पर प्रश्न यह उठता है कि प्रत्येक बाजार की सीमान्त आय को सीमान्त लागत के बराबर किया जाय या सभी बाजारों की सीमान्त आयें के योग को (Aggregate marginal revenue) सीमान्त लागत के बराबर किया जाय ?

एकाधिकारी सारे बाजारों के लिए एक साथ ही उत्पादन कर रहा है। अतएव वह कुल उत्पादन की सीमान्त लागत को बाजारों की सीमान्त आय के योग के बराबर ही करेगा। तभी उसका एकाधिकार-लाभ अधिकतम होगा।

नीचे के चित्र में औ आ पहले बाजार की माँग की रेखा है जो दूसरे बाजार के माँग की रेखा औ $आ_2$ से कम लोचदार है। सी०आ०यो० दोनों बाजारों की सीमान्त आय, सी $आ_1$ और सी $आ_2$ का योग दिखा रही है। उदाहरण के लिये पहले
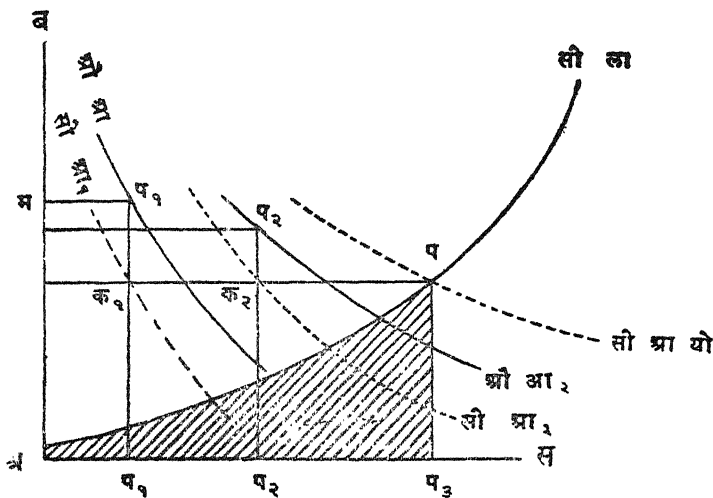
बाजार की अ $प_1$ उत्पत्ति तथा दूसरे बाजार की अ $प_2$ उत्पत्ति की सीमान्त आय क्रमशः $प_1$ $क_1$ तथा $प_2$ $क_2$ है जो एक दूसरे के बराबर हैं। (यहाँ $प_1$ या $प_2$ से अ स अक्ष पर स्थित बिन्दुओं से अभिप्राय है)। इसी सीमान्त आय को दिखाने वाली रेखा $क_1$ $क_2$ से होती हुई गुजरती है जो अ स अक्ष के समानान्तर है। कुल उत्पादन अ $प_1$ + अ $प_2$ = अ $प_3$ है। अतः अ $प_3$ की सीमान्त आय प $प_3$ है। इस विधि से हम कुल उत्पादन की विभिन्न मात्राओं की सी. आ. जान कर सी. आ. यो. रेखा खींचते हैं। सी ला कुल उत्पत्ति की सीमान्त लागत है। प बिन्दु पर सी ला और सी० आ०यो० एक-दूसरे को काटती है। अतः यहाँ सीमान्त लागत तथा सीमान्त आय का योग बराबर है। एकाधिकारी अ $प_3$ इकाइयों का उत्पादन

करेगा। प बिन्दु से अ स के समानान्तर रेखा पहले तथा दूसरे बाजार की सीमान्त आय रेखा को $क_1$ तथा $क_2$ बिन्दु पर काटती है। इन बिन्दुओं से होती हुई शीर्ष रेखायें दोनों बाजारों के मूल्यों को दिखा रही हैं। पहले बाजार का मूल्य $प_1$ $प_1$ है तथा दूसरे का $प_2$ $प_2$। पहले बाजार में अ $प_1$ इकाइयाँ बेची जायँगी तथा दूसरे बाजार में अ $प_2$ इकाइयाँ बेची जायँगी जो प $प_3$ के बराबर हैं। पहले बाजार की माँग की लोच कम होने के कारण उसमें लिया हुआ मूल्य दूसरे बाजार के मूल्य से अधिक है।

रंगा हुआ भाग कुल लागत दिखा रहा है क्योंकि यह अ $प_3$ इकाइयों सीमान्त लागत का जोड़ है। अ $प_1$ $प_1$ म आयत पहले बाजार की तथा अ $प_2$ $प_2$ म दूसरे बाजार की सीमान्त आय है। इन दोनों के योग से रंगा हुआ भाग घटा देने पर हमें एकाधिकार लाभ मालूम हो जायगा।

मूल्य-विवेचन का औचित्य

बहुधा प्रश्न किया जाता है, क्या मूल्य-विवेचन उचित है? इसके उत्तर में हम केवल इतना कह सकते हैं कि कुछ परिस्थितियों में यह अवश्य ही लाभदायक तथा आवश्यक है।

(i) मूल्य-विवेचन में साधारणतया एकाधिकार की तुलना में अधिक लाभ प्राप्त होता है। अतः यह सम्भव है कि मूल्य-विवेचन के न होने पर उत्पत्ति ही न की जाय। इस दृष्टिकोण से मूल्य-विवेचन उचित है। उदाहरण के लिये मूल्य-विवेचन न होने पर यदि रेलें नहीं बनायी जायेंगी, एक डाक्टर डाक्टरी भी नहीं शुरू करेगा तो ऐसी दशा में मूल्य-विवेचन उचित है क्योंकि एकाधिकारी की औसत आय उपभोक्ता की औसत उपयोगिता से अधिक नहीं हो सकती।

(ii) जब दो बाजारों में मूल्य-विवेचन किया जाता है तो यह कहना कठिन होता है कि वह हानिप्रद है अथवा लाभप्रद। फिर भी इतना कहा जा सकता है कि यदि विवेचन से गरीबों को लाभ (क्योंकि उनके बाजार में मूल्य कम है) होता है, तो विवेचन क्षम्य है। यदि देशी और विदेशी बाजार के बीच मूल्य-विवेचन किया जा रहा है तो यह उस समय लाभप्रद है जब देशी बाजार की माँग अधिक लोचदार हो।

(iii) समाज के दृष्टिकोण से यह कहना लगभग असम्भव है कि मूल्य-विवेचन वाञ्छनीय है या नहीं। यदि साधारण एकाधिकार की अपेक्षा विवेचनात्मक एकाधिकार में वस्तु की अधिक मात्रा का उत्पादन होता है तो हम उसे वाञ्छनीय भले ही कह लें परन्तु यह नहीं भूलना चाहिये कि उसके कारण साधनों का विभिन्न प्रयोगों के बीच दुर्वितरण (maldistribution) होता है।

EXERCISES

1. What is monopoly ? How does it arise ? Are monopoly conditions more favourable to the consumer than competitive conditions ? Give reasons for your answer. Allad. U. B. Com. I 1952

2. What is 'monopoly net revenue' ? Why does a monopolist charge that price at which this net revenue is maximum ?

Allad. U. B. Com. I 1949

3. What are the considerations that a monopolist must bear in mind in fixing the price of his commodity ? Is monopoly price necessarily higher than the price under competition ?

Allad. U. B. A. 1953

4. Define 'monopoly'. Show how prices are determind under monopoly conditions. Allad. U. B. Com. I 1953

5 What is 'discriminating monopoly' ? State the conditions under which price discrimination by a monopolist is possible and profitable. Allad. U. B. A. 1950

6. Explain the Law of Monopoly Revenue and show how the amount of the output would vary according to (a) Elasticity of Demand (b) the particular Law of Production, which may be operating. Agra U. B. A. 1953

7. "The prima facie interest of the owner of a monopoly is clearly to adjust ihe supply to the demand, not in such a way that the price at which he can sell his commodity shall just cover its expenses of production, but in snch a way as to afford him the greatest possible total Net Revenue" (Marshall)

Explain fully the above statement either with the help of a diagram or a monopoly Revenue schedule. Agra U. B A. 1951

8. Show how Monopoly price is affected by the Elasticity of Demand for a commodity and the law of returns to which its production is subject. Just mention the factors that tend to keep it above or below the theoretical level. Agra U. B. Com. 1950

9. Write a short note on Discriminating Monopoly.

Agra U. B. Com. 1949

10 .Discuss how price is determined under Monopoly conditions.

Rajputana U. B. A 1951

अध्याय २७

परस्पर निर्भर मूल्य

(INTERDEPENDENT PRICES)

अर्घ के सिद्धान्त का अध्ययन करते समय हम अभी तक ऐसी वस्तुओं का मूल्य-निर्धारण करते आये हैं जिनका अस्तित्व अन्य वस्तुओं से अलग है और इसलिए इनके मूल्य भी एक दूसरे से अलग हैं। व्यवहारिक जीवन में ऐसे पदार्थों के मूल्य-निर्धारण की समस्या भी महत्वपूर्ण होती है जो अन्य पदार्थों से भी सम्बन्धित होते हैं। इनके मूल्य भी परस्पर सम्बन्धित होते हैं। यहाँ हम ऐसे पदार्थों के मूल्य-निर्धारण का अध्ययन करेंगे।

सम्मिलित पूर्ति या सम्मिलित उत्पत्ति वाले पदार्थ (Joint Supply or Joint Product)

जब दो या अधिक वस्तुयें एक ही सम्मिलित लागत से इस प्रकार बनाई जाती हैं कि एक के उत्पादन से दूसरे का उत्पादन स्वाभाविक होता है तो इन वस्तुओं की सम्मिलित पूर्ति होती है। प्रो० मार्शल के अनुसार सम्मिलित वस्तुयें वे हैं जिनका अलग-अलग उत्पादन सरलता से नहीं किया जा सकता; परन्तु उनका उद्गम एक ही है जैसे मांस और खाल, गेहूँ और भुस।

सम्मिलित पूर्ति वाली वस्तुओं की कुल लागत को तो हम जान सकते हैं परन्तु उनकी अलग-अलग लागत को जानना सम्भव नहीं है। इस स्थिति में उनका मूल्य किस प्रकार निर्धारित किया जाय? भेड़ के गोश्त और ऊन को ही लीजिये। यह दोनों सम्मिलित पूर्ति की वस्तुयें हैं। इनमें से किसी एक का मूल्य जानने के लिए उसकी माँग और लागत मालूम होनी चाहिए। प्रश्न यह है कि सम्मिलित पूर्ति के इस उदाहरण में किसी एक वस्तु की लागत कैसे जानी जाय?

कुछ अर्थशास्त्री सम्मिलित पूर्ति की वस्तुओं को दो भागों में विभाजित करते हैं:

(१) वह वस्तुयें जिनके सापेक्षिक अनुपात बदले जा सकते हैं तथा

(२) वह वस्तुयें जिनके सापेक्षिक अनुपात नहीं बदले जा सकते।

हर्ष की बात है कि वैज्ञानिक प्रगति के कारण उपर्युक्त विभाजन निरर्थक हो गया है क्योंकि अब सम्मिलित पूर्ति की वस्तुओं के अनुपात साधारणतया बदले जा सकते हैं। इससे मूल्य-निर्धारण का कार्य सरल हो जाता है। भेड़ के गोश्त और ऊन का

की माँग इसी प्रकार की है। श्रम का प्रयोग किसी भी वस्तु के उत्पादन में हो सकता है। भूमि (जमीन) का प्रयोग खेती करने, बाग लगाने या मकान बनाने आदि के लिए हो सकता है।

सम-सीमान्त उपयोगिता नियम तथा प्रतिस्थापन नियम में हम यह देख चुके हैं कि एक वस्तु या साधन को विभिन्न प्रयोगों से इस प्रकार नियोजित किया जाता है कि प्रत्येक प्रयोग में सीमान्त उपयोगिता उसके मूल्य के बराबर हो। यदि किसी प्रयोग में अधिक सीमान्त उपयोगिता मिल रही हो, तो उस प्रयोग में वस्तु या साधन की मात्रा बढ़ जायेगी तथा सीमान्त उपयोगिता मूल्य के बराबर हो जायगी। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि संग्रथित माँग की वस्तुयें अनेक प्रयोगों में इस प्रकार लाई जायेंगी कि प्रत्येक प्रयोग में उनकी सीमान्त उपयोगिता बराबर हो। उनका मूल्य इस सीमान्त उपयोगिता के बराबर होगा।

संग्रथित पूर्ति (Composite Supply)

जब किसी वस्तु की माँग अनेक साधनों से सन्तुष्टि की जा सकती है तो उस आवश्यकता के लिये इन साधनों की पूर्ति संग्रथित कही जाती है। एक दूसरे के लिए प्रतिस्थापित होने वाली वस्तुयें संग्रथित पूर्ति का अच्छा उदाहरण है। उदाहरण के लिए चाय और कहवा पेय वस्तु की माँग के लिए संग्रथित पूर्ति प्रस्तुत करती है। श्रम और पूँजी भी संग्रथित पूर्ति का उदाहरण है क्योंकि किसी वस्तु को बनाने के लिए एक दूसरे का प्रतिस्थापन किया जा सकता है।

प्रतिस्थापन नियम के कारण इन वस्तुओं का प्रयोग भी उसी सीमा तक होगा जहाँ इनकी सीमान्त उपयोगिता या उत्पादकता उनके मूल्यों के बराबर हो। संग्रथित वस्तु की प्रत्येक वस्तु का मूल्य उसकी सीमान्त उत्पत्ति के बराबर होगा। संग्रथित पूर्ति वाली वस्तुओं के मूल्य एक ही नहीं होते। ऐसा तभी हो सकता है जब वस्तुओं का पूर्ण प्रतिस्थापन सम्भव हो। यह असम्भव है।

उपर्युक्त चार समस्याओं—सम्मिलित माँग सम्मिलित पूर्ति, संग्रथित माँग और संग्रथित पूर्ति का विशेष महत्व है। उत्पादन के प्रत्येक क्षेत्र में इनका अस्तित्त्व है। इसके अतिरिक्त इनके अध्ययन से वस्तुओं तथा उनके मूल्यों का पारस्परिक सम्बन्ध भी स्पष्ट हो जाता है।

वितरण

DISTRIBUTION

अध्याय २८

वितरण

(DISTRIBUTION)

परिचय (Introduction)

वितरण के अन्तर्गत दो मुख्य समस्याओं का अध्ययन किया जाता है।

(१) राष्ट्रीय आय समाज के विभिन्न वर्गों में किस प्रकार बँटी हुई है तथा,

(२) उत्पादन के साधनों का प्रतिफल किस प्रकार निश्चित किया जाता है।

राष्ट्रीय आय दिये हुए समय में उत्पादित वस्तुओं और सेवाओं के परिमाण का वह माप है जिसमें दोहरी गणना न हो।*

राष्ट्रीय आय की गणना मुख्यतया सांख्यिकी की समस्या है। सांख्यिकी विशेषज्ञ राष्ट्रीय आय की गणना के लिये तीन प्रकार की विधियाँ अपनाते हैं।

(१) उत्पत्ति की गणना (Census of Production Method)

इस विधि में देश की उत्पत्ति का अनुमान लगाकर राष्ट्रीय आय मालूम की जाती है।

(२) आय की गणना (Census of Income Method)

देश की समस्त जनसंख्या की आय की गगना से भी राष्ट्रीय आय मालूम की जा सकती है।

(३) व्यवसायिक गणना (Census of Occupation Method)

विभिन्न व्यवसायों में काम करने वालों की आय मालूम कर, उसके योग से राष्ट्रीय आय मालूम की जा सकती है।

राष्ट्रीय आय किसी भी प्रकार से मालूम की जा सकती है। वितरण का इससे कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। हमारे अध्ययन का विषय इस राष्ट्रीय आय का समाज के विभिन्न भागों में वितरित होना तथा उसके परिणामों का अध्ययन करना है।

---

*A national income estimate measures the volume of commodities and services turned out during a given period, counted without duplication—First Report of The National Income Committee pp. 6)

अनुमान किया गया है कि पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में ३० प्रतिशत व्यक्ति ६० प्रतिशत राष्ट्रीय आय के अधिकारी होते हैं तथा शेष ७० प्रतिशत व्यक्ति ४० प्रतिशत आय में अधिकारी होते हैं जिससे आर्थिक असमानतायें बहुत बढ़ जाती हैं।

वितरण की दूसरी समस्या उत्पादन के साधनों का प्रतिफल निश्चित करना है। उत्पादन के लिए समस्त साधनों के सहयोग की आवश्यकता होती है। अतः कुल उत्पादन में प्रत्येक साधन का भाग होता है। प्रश्न यह उठता है कि प्रत्येक साधन का भाग किस प्रकार निश्चित किया जाय ? सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से वितरण में इसी समस्या का अध्ययन मुख्य है। हम इस पर विस्तार से विचार करेंगे।

वितरण और अर्घ का सिद्धान्त (Distribution and the Theory of Value)

वितरण का सिद्धांत वास्तव में अर्घ के सिद्धान्त का ही विशेष रूप है। अर्घ के सिद्धान्त के अन्तर्गत हम वस्तुओं के मूल्य-निर्धारण का अध्ययन करते हैं; वितरण के अन्दर हम साधनों के मूल्य-निर्धारण का अध्ययन करते हैं। जिस प्रकार वस्तुओं का मूल्य-निर्धारण उनकी माँग और पूर्ति पर निर्भर होता है उसी प्रकार साधनों का मूल्य भी उनकी माँग और पूर्ति पर निर्भर रहता है। सीमान्त आय और सीमान्त लागत के बराबर होने पर वस्तु का मूल्य निश्चित हो जाता है। इसी प्रकार सीमान्त उत्पादकता तथा सीमान्त त्याग के बराबर होने पर साधन का मूल्य भी निश्चित हो जाता है। माँग और पूर्ति के परिवर्तन दोनों ही के मूल्यों पर एक सा ही प्रभाव डालते हैं। यदि पूर्ति की अपेक्षा माँग बढ़ जाती है तो वस्तु की तरह ही साधन का मूल्य भी बढ़ जायगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि वितरण और अर्घ के सिद्धान्त में बहुत कुछ समानता है।

इन समानताओं के बावजूद भी वितरण के सिद्धान्त में कुछ ऐसी विशेषतायें हैं जिसके कारण हम साधनों के मूल्य-निर्धारण का अध्ययन अर्घ के सिद्धान्तों में न करके अलग से करते हैं। साधनों के मूल्य-निर्धारण में माँग-पक्ष उतना सीधा सादा नहीं है जितना कि वस्तुओं का माँग-पक्ष होता है। एक साधन की माँग केवल उसकी सीमान्त उत्पादकता पर ही निर्भर नहीं होती। उसकी माँग पर वस्तुओं की माँग का भी प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार साधनों की माँग दो बातों से प्रभावित होती है; उनकी सीमान्त उत्पादकता तथा उनकी उत्पादित वस्तुओं की माँग। साधनों की पूर्ति भी वस्तुओं की पूर्ति के समान घटाई-बढ़ाई नहीं जा सकती। यदि किसी समय श्रमिकों की माँग बढ़ जाती है तो उनकी पूर्ति एकदम नहीं बढ़ सकती क्योंकि जनसंख्या की वृद्धि कुछ समय हो में होगी। इसी प्रकार माँग कम हो जाने पर वर्तमान श्रमिकों की संख्या को एकदम कम नहीं किया जा सकता।

इन विभिन्नताओं के अतिरिक्त वितरण के सिद्धान्तों के अध्ययन में अनेक महत्व-पूर्ण समस्यायें उत्पन्न होती हैं जिनका अध्ययन विशेष दृष्टिकोण से करना पड़ता है। उचित मजदूरी की समस्या, श्रम का शोषण, लगान का औचित्य आदि ऐसी ही समस्यायें हैं। इन्हीं सब कारणों से हम वितरण के सिद्धान्त का, यद्यपि वे अर्घ-सिद्धान्त का एक विशेष रूप ही है, अलग से अध्ययन करते हैं।

अब हम वितरण के सिद्धांत की चर्चा करेंगे।

क्लासिकल सिद्धान्त (Classical Theory)

क्लासिकल[1] अर्थशास्त्रियों के अनुसार उत्पादन में विभिन्न साधनों का भाग इस प्रकार निश्चित होता है।

कुल उत्पादन में से सबसे पहला भाग भूस्वामी का होता है। कुल उत्पादन में से उस पर लगाई हुई लागत निकाल लेने के बाद जो कुछ बचता है वह लगान के रूप में भूस्वामी को मिलता है। यदि भूमि से २०० मन गेहूँ की उत्पत्ति हुई हो जिसमें से १२५ मन उसके उत्पादन के लागत के व्यय के बराबर हो तो ७५ मन गेहूँ भूस्वामी का लगान होगा। शेष १२५ मन गेहूँ में अन्य साधनों का भाग है। श्रम को जीवन-निर्वाह के आधार पर मजदूरी दी जायगी; यह मजदूरी किस प्रकार निश्चित होगी इसके बारे में कोई एक सिद्धान्त निश्चित रूप से नहीं दिया गया। सामान्यतः उत्पादक एक मजदूरी-निधि रख लेगें, जिसे श्रमिकों की संख्या से भाग देने पर प्रत्येक व्यक्ति की मजदूरी निकल आयेगी। यदि मजदूरी से श्रमिकों की जनसंख्या बढ़ने लगती है तो वह जीवन-निर्वाह से अधिक है और यदि घटने लगती है तो वह जीवन-निर्वाह से कम है। इस प्रकार अन्दाज से मजदूरी निश्चित हो जायगी। यदि श्रम का भाग १०० मन गेहूँ के बराबर है तो शेष २५ मन गेहूँ उत्पादक को लाभ (Profit) के रूप में मिलते हैं। क्लासिकल अर्थशास्त्रियों ने पूँजी के प्रतिफल—ब्याज पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया क्योंकि जिन परिस्थितियों में उन्होंने अपने विचार प्रगट किये उनमें पूँजी की कोई विशेष महत्ता न थी। साथ ही पूँजीपति और जोखिम उठानेवाला व्यक्ति एक ही होता था।

वितरण का क्लासिकल सिद्धान्त दोषपूर्ण है।

इस सिद्धांत में प्रत्येक साधन के भाग को निश्चित करने के लिये एक अलग विधि का प्रयोग किया गया है। यह समीचीन नहीं है। सभी साधनों के भाग को

---

[1]क्लासिकल परम्परा के अर्थशास्त्रियों द्वारा दिये हुये मतों को मिलाकर हम एक क्लासिकल वितरण सिद्धान्त की कल्पना करते हैं; अन्यथा किसी एक अर्थशास्त्री के नाम से वितरण का क्लासिकल सिद्धान्त सम्बन्धित नहीं किया जा सकता।

एक ही सिद्धांत से निर्णय करना चाहिये । क्लासिकल अर्थशास्त्रियों ने प्रत्येक साधन के भाग के लिये अलग-अलग सिद्धांतों का प्रयोग किया है ।

श्रम का भाग निश्चित करने की विधि भी दोषपूर्ण एवं अवैज्ञानिक है । अन्दाज से मजदूरी निधि के आधार पर मजदूरी निश्चित करने को कौन उचित कह सकता है ?

लाभ को बचा हुआ भाग माना गया है । वास्तव में लाभ मजदूरी ब्याज सभी एक ही विधि से निश्चित होने चाहिये ।

लगान एक अतिरिक्त है । अत: लगान का निश्चय सब से बाद में होना चाहिये । क्लासिकल अर्थशास्त्रियों ने इसका निश्चय सबसे पहले किया है ।

इनके अतिरिक्त इस सिद्धांत का सब से बड़ा दोष यह है कि प्रत्येक साधन द्वारा किये हुए उत्पादन को अलग अलग नहीं किया जा सकता और इसलिये उनके पारिश्रमिक को भी उचित रूप से निश्चित नहीं किया जा सकता ।

वितरण की सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त (The Theory of Imputation or the Marginal Productivity Theory of Distribution)

वितरण के क्लासिकल सिद्धांत के दोषों को—विशेषकर उसके अन्तिम दोष को—दूर करने के लिये कुछ अर्थशास्त्रियों ने वितरण के सीमान्त उत्पादकता सिद्धांत की चर्चा की । इसके अनुसार जब तक हम प्रत्येक साधन द्वारा किया हुआ उत्पादन अलग-अलग न जान लें तब तक साधनों का पारिश्रमिक निश्चित नहीं हो सकता । श्रमिकों का पारिश्रमिक निश्चित करने के लिये हमें उनकी सीमान्त उत्पादकता मालूम करनी होगी । एक साधन की मात्रा में थोड़ा-सा परिवर्तन करने पर, अन्य साधनों की मात्रा स्थिर रखते हुए, उत्पादन में जो वृद्धि होगी वही उस साधन की सीमान्त उत्पादकता है । उत्पादन की यह वृद्धि उस साधन के कारण हुई है और इसलिये उसका पारिश्रमिक उसकी सीमान्त उत्पादकता के बराबर होना चाहिये ।

वितरण का यह सिद्धान्त एक आंशिक सत्य को स्पष्ट करता है । उत्पादक साधन को उसकी सीमान्त उत्पादकता से अधिक नहीं दे सकते । सीमान्त उत्पादकता साधन का माँग पक्ष है और केवल माँग से ही उनका मूल्य निर्धारित नहीं किया जा सकता । साधनों का मूल्य-निर्धारण करने में हमें उनके पूर्ति पक्ष को भी ध्यान में रखना होगा । जहाँ साधन का सीमान्त त्याग उसकी सीमान्त उत्पादकता के बराबर होगा वहीं मूल्य निश्चित हो जायगा । यह सच है कि सन्तुलन की स्थिति में साधन का पारिश्रमिक और सीमान्त उत्पादकता बराबर होगी परन्तु इसके आधार पर हम यह नहीं कह सकते कि साधन का मूल्य सीमान्त उत्पादकता द्वारा निश्चित होता है ।

अर्घ का आस्ट्रियन सिद्धांत, जिसके अनुसार वस्तु का मूल्य उसकी उपयोगिता से निश्चित होता है, का ही परिवर्तित रूप वितरण के क्षेत्र में सीमान्त उत्पादकता सिद्धांत है।

वितरण का सही सिद्धान्त (The Correct Theory of Distribution)

वितरण का सही सिद्धान्त माँग और पूर्ति का सिद्धान्त है जिसके अनुसार साधनों का मूल्य उसकी माँग और पूर्ति पर निर्भर होता है। यह सिद्धान्त सभी साधनों के प्रतिफल को निश्चित करने में लागू होता है। साधनों की माँग उनकी सीमान्त उत्पादकता पर निर्भर होती है। उत्पादक किसी भी साधन को उसकी सीमान्त उत्पादकता से अधिक नहीं देगा क्योंकि ऐसा करना उसके हित के विरुद्ध होगा। दूसरी ओर साधन ऐसा पारिश्रमिक चाहेगा जो उसके सीमान्त त्याग के बराबर हो। पारिश्रमिक उस जगह निश्चित होगा जहाँ उसका सीमान्त त्याग और सीमान्त उत्पादकता बराबर होगी।

यही वितरण का सही सिद्धान्त है। अर्घ के सामान्य सिद्धान्त से भी इसका सामंजस्य है। माँग और पूर्ति दोनों पक्षों को प्रधानता देने के कारण यह एक सन्तुलित सिद्धान्त है। अगले अध्यायों में हम श्रम, पूँजी तथा सहसोद्यम—सभी के प्रतिफल को इसी सिद्धान्त द्वारा निश्चित करेंगे।

वितरण के सही सिद्धान्त के अनुसार किसी भी साधन का पारिश्रमिक उस जगह निश्चित होगा जहाँ उसका सीमान्त त्याग* और सीमान्त उत्पादकता बराबर हो। यह सिद्धान्त माँग और पूर्ति का सिद्धान्त है।

EXERCISES

1. 'All problems in Distribution are problems in Value', If so, why should there be a separate division in economics, called 'Distribution'? Allad. U. B. A. 1951

2. Discuss the importance of the theory of marginal productivity in problems of 'Distribution.' Allad. U. B. A. 1952

***साधन सीमान्त त्याग के बराबर ही पारिश्रमिक चाहेगा। ज्यों-ज्यों वह अधिक काम करेगा उसका त्याग बढ़ता जायगा। वह अपने सीमान्त त्याग, जो पहले समय के त्याग से अधिक है, के बराबर ही प्रतिफल माँगेगा। यदि वह पहले समय के त्याग के बराबर प्रतिफल माँगेगा तो बाद के समय में किया हुआ त्याग प्रतिफल से अधिक होगा जो उसके हित के सर्वथा प्रतिकूल है।**

अध्याय २६

मजदूरी
(WAGES)

मजदूरी श्रम के त्याग का प्रतिफल है। यह दो प्रकार की होती है।

१. नकद मजदूरी (Nominal Wages)

२. वास्तविक मजदूरी (Real Wages)

नकद मजदूरी रुपयों की वह रकम है जो मजदूरी के रूप में दी जाती है अर्थात् श्रमिक की सेवाओं के बदले में जो रुपए (द्रव्य) दिये जाते हैं वह उसकी नकद मजदूरी है।

वास्तविक मजदूरी उन समस्त सन्तुष्टियों का समूह है जो कि उसे अपनी सेवाओं के प्रतिफल के बदले में प्राप्त होता है। यह सम्भव है कि एक स्थान पर श्रमिक की नकद मजदूरी अधिक हो परन्तु वास्तविक मजदूरी कम हो, तथा दूसरे स्थान पर श्रमिक की वास्तविक मजदूरी अधिक और नकद मजदूरी कम हो। ऐसी स्थिति में श्रमिक दूसरी जगह काम करना अधिक पसन्द करेगा। श्रमिक की वास्तविक मजदूरी बहुत ही महत्वपूर्ण है और वह अनेक कारणों पर निर्भर है। इन कारणों में सबसे महत्वपूर्ण कारण श्रमिक का व्यक्तित्त्व है क्योंकि सन्तुष्टि व्यक्ति से ही सम्बन्धित है। एक ही व्यवसाय में और एक ही दशा में दो मजदूरों की वास्तविक मजदूरी भिन्न-भिन्न होगी। फिर भी कुछ ऐसे सामान्य कारण हैं जो वास्तविक मजदूरी को प्रभावित करते हैं और उसे निश्चित करने में हमारी मदद करते हैं।

वास्तविक मजदूरी को प्रभावित करने वाले कारण (Factors Affecting Real Wages)

१. द्रव्य की क्रय शक्ति (Purchasing Power of Money)

वास्तविक मजदूरी द्रव्य की क्रय शक्ति पर बहुत कुछ निर्भर है। यदि द्रव्य की क्रय शक्ति अधिक हो तो अपेक्षाकृत थोड़ी मजदूरी से भी अधिक सन्तुष्टि मिल सकती है। द्रव्य की क्रय शक्ति सामान्य मूल्य-स्तर (General Price Level) से देखी जाती है। यह सम्भव है कि सामान्य मूल्य-स्तर घट गया हो जिसके कारण द्रव्य की क्रय शक्ति बढ़ गई हो परन्तु फिर भी मजदूरों की सन्तुष्टि में कोई अन्तर न हो। ऐसा उस स्थिति में होगा जब सामान्य मूल्य-स्तर ऐसी वस्तुओं के मूल्य

घट जाने से कम हुआ हो जो श्रमिक से अधिक सम्बन्धित नहीं है। बहुधा ऐसा होता है कि मुद्रा प्रसार के कारण देश में मूल्यों में सामान्य वृद्धि हो जाती है और श्रमिकों की नकद मजदूरी भी बढ़ा दी जाती है। परन्तु उनकी वास्तविक मजदूरी में कोई वृद्धि नहीं होती क्योंकि मूल्यों की सामान्य वृद्धि के कारण द्रव्य की क्रय-शक्ति बहुत कम हो जाती है।

२. कार्य से सम्बन्धित अन्य प्राप्य लाभ (Other Benefits Related with the work)

दूसरी बात जो वास्तविक मजदूरी को प्रभावित करती है वह किसी जगह काम करने में प्राप्त सुविधायें हैं। इन सुविधाओं में अनेक बातें शामिल हैं। उदाहरण के लिये निम्न बातें विशेष प्रभाव डालती हैं।

(अ) **कार्य की अवधि**: नकद मजदूरी समान होने पर भी यदि एक स्थान पर दूसरे स्थान की अपेक्षा काम थोड़ी देर करना पड़ता हो तो पहले स्थान पर वास्तविक मजदूरी अधिक होगी। यदि कार्य की अवधि भी समान हो परन्तु एक स्थान पर दूसरे स्थान की अपेक्षा छुट्टियों आदि की अधिक सुविधा हो तब भी इस कार्य में वास्तविक मजदूरी अधिक होगी।

(ब) यदि नकद मजदूरी के अतिरिक्त एक व्यवसाय में श्रमिकों को रहने के लिये मकान तथा इलाज के लिये डाक्टरी सहायता आदि मुफ्त हो तो ऐसे व्यवसाय की वास्तविक मजदूरी अधिक होती है।

(स) यदि व्यवसाय ऐसा है कि श्रमिक मजदूरी करने के बाद अपनी आय बढ़ाने के लिये कुछ और काम भी कर सकता है जिससे कि उसकी द्राव्यिक आय बढ़ जाय तो यहाँ वास्तविक मजदूरी अधिक होगी। इसी प्रकार ऐसे व्यवसाय में भी वास्तविक मजदूरी अधिक होती है जहाँ श्रमिक को न केवल खुद ही काम मिलता है वरन् उसके परिवार के अन्य सदस्य भी काम पा जाते हैं।

३. रोजी की निश्चितता (Security of Employment)

ऐसे व्यवसाय में जहाँ श्रमिक की नौकरी अधिक सुरक्षित और नियमित है वास्तविक मजदूरी अधिक होगी भले ही नकद मजदूरी क्यों न कम हो। यही कारण है कि हमारे देश में सामान्यतः लोग सरकारी नौकरियों की ओर दौड़ते हैं क्योंकि वहाँ नौकरी अधिक सुरक्षित समझी जाती है।

४. कार्य की प्रकृति (Nature of Work)

ऐसे कार्य जो विशेष रूप से कष्टप्रद और अरुचिकर होते हैं उनकी वास्तविक मजदूरी नकद मजदूरी के अधिक होने पर भी कम होती है। उदाहरण के लिये रेल के इन्जिन के ड्राइवर की नौकरी ऐसी ही है। उसके बराबर तनखाह पाने वाले अन्य काम जैसे क्लर्की आदि में वास्तविक आय अधिक होगी।

५. भावी उन्नति की आशा (Hope for Future Progress)

जिस व्यवसाय में श्रमिक को उन्नति करने के अधिक अवसर प्राप्त होते हैं वहाँ भी उसकी वास्तविक आय अधिक होती है। इसके विपरीत ऐसे व्यवसाय में, जहाँ उन्नति का कोई अवसर न हो और जीवन भर एक ही पद पर काम करना पड़े, वास्तविक आय कम होगी।

६. प्रो० मार्शल का कहना है कि श्रमिक की वास्तविक मजदूरी जानने के लिये हमें उसकी आय में से व्यापार के चालू व्यय (Current Trade Expenses) निकाल देने चाहिये। उदाहरण के लिये एक बढ़ई की आय से औजारों आदि पर किये हुये व्यय को घटा कर ही उसकी वास्तविक आय जानी जा सकती है। इत्यादि।

वास्तव में वास्तविक मजदूरी को प्रभावित करने वाले कारण व्यक्ति से ही घनिष्ट रूप से संबंधित है। अतः उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त अन्य अनेक कारण भी उसकी वास्तविक आय को प्रभावित करते हैं। उदाहरण के लिये एक धार्मिक अभिरुचि के व्यक्ति की वास्तविक आय धार्मिक स्थान पर काम मिलने से अधिक होगी। इसी प्रकार स्थान-विशेष का आकर्षण, विशेष सुविधायें जिन्हें एक व्यक्ति बहुत महत्व देता हो, उसकी वास्तविक आय को प्रभावित करती हैं।

वास्तविक आय और नकद आय का सम्बन्ध

यदि अन्य बातें समान रहें तो नकद आय बढ़ने से एक व्यक्ति की वास्तविक आय भी बढ़ जायगी; परन्तु अन्य बातों के समान न होने पर यह नहीं कहा जा सकता। उदाहरण के लिये यदि मुद्रा प्रसार के कारण नकद मजदूरी बढ़ गई हो परन्तु मूल्यों के वृद्धि के कारण द्रव्य की क्रय शक्ति अपेक्षाकृत कम हो गई हो तो वास्तविक आय में कोई वृद्धि नहीं होगी। ऐसी स्थिति में नकद मजदूरी और वास्तविक मजदूरी एक दूसरे के विपरीत होती हैं। अतः हमें नकद मजदूरी और वास्तविक मजदूरी के इस संबंध को ध्यान में रखना चाहिये। उनकी वृद्धि अनुकूल और प्रतिकूल दोनों दिशाओं में सम्भव है।

श्रम की विशेषतायें (Peculiarities of Labour)

'श्रम' के अध्याय में हम उसकी विशेषताओं की चर्चा विस्तार से कर चुके हैं। यहाँ हम केवल उन मुख्य विशेषताओं की चर्चा भर करेंगे जो उसकी मजदूरी पर प्रभाव डालती हैं। इन विशेषताओं में निम्न मुख्य हैं।

१. श्रमिक को स्वयं निर्दिष्ट स्थान पर जाकर काम करना पड़ता है। अतः जिन परिस्थितियों में वह काम करता है वे उसके लिये बहुत महत्वपूर्ण हैं।

२. श्रमिकों की पूर्ति धीरे-धीरे घटती-बढ़ती है। श्रमिकों को शिक्षा-दीक्षा में काफी समय लगता है और इसलिये अनायास ही उनकी पूर्ति नहीं बढ़ाई जा सकती। इसका प्रभाव उनकी मजदूरी पर भी पड़ता है। यदि किसी समय श्रमिकों की माँग कम हो तो श्रमिकों की पूर्ति के शीघ्रता से न बदलने के कारण उनकी मजदूरी कम हो जायगी।

३. श्रम क्षय होने वाली वस्तु है। एक वस्तु बाजार में न बिकने पर अगले दिन के लिये रखी जा सकती है परन्तु श्रमिक काम न मिलने पर एक दिन की मजदूरी खो देता है। इसका परिणाम यह होता है कि श्रमिक न्यूनतम मजदूरी पर काम करने को तैयार हो जाता है। इसी से संबंधित श्रम की चौथी विशेषता है।

४. श्रमिकों की मोल-भाव करने की शक्ति कम होती है। इसका एक कारण तो उसका क्षयशील होना है। इसके अतिरिक्त उनकी निर्धनता, संगठन का अभाव, अशिक्षा तथा जनसंख्या की वृद्धि है।

५. श्रमिक श्रम को बेचता है परन्तु उसका स्वामित्व नहीं खोता। इसका प्रभाव भी उसकी मजदूरी पर पड़ता है। उत्पादक साधारणतया श्रमिक की शिक्षा-दीक्षा पर व्यय करना नहीं पसन्द करते क्योंकि उन्हें सदैव यह भय रहता है कि कार्य-कुशल होने पर वह अन्यत्र, जहाँ अच्छी मजदूरी मिल रही हो, चला जायगा। इत्यादि।

उपर्युक्त विशेषताओं का श्रमिक की मजदूरी पर बहुत महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। उसकी क्षयशील प्रकृति, मोलभाव करने की शक्ति भी बहुधा उसकी मजदूरी पर प्रतिकूल प्रभाव डालती है। उसे स्वयं अपनी सेवाओं को निजी रूप से देना पड़ता है इसलिये कार्य करने की परिस्थितियों का प्रभाव भी प्रमुख हो उठता है।

अब हम उन सिद्धान्तों का अध्ययन करेंगे जिनके अनुसार मजदूरी निश्चित की जाती है। इससे यह न समझ लेना चाहिये कि व्यवहार में दी जाने वाली मजदूरी सिद्धांत द्वारा निश्चित मजदूरी के बराबर होगी। इसका मुख्य कारण यह है कि व्यवहार में अन्य अनेक कारण भी मजदूरी की दर को प्रभावित करते हैं परन्तु सिद्धांत के अनुमानों में इन सब बातों का समावेश नहीं होता।

मजदूरी के सिद्धान्त
(THEORIES OF WAGES)

माँग और पूर्ति का सिद्धान्त (Demand and Supply Theory)

श्रम का पारिश्रमिक उसकी माँग और पूर्ति पर निर्भर होता है। मजदूरी की विभिन्न दरों पर श्रम की विभिन्न मात्रा की माँग की जायगी तथा पूर्ति भी भिन्न-भिन्न होगी। श्रम की माँग उसकी सीमान्त उत्पादकता पर निर्भर है। दी हुई मजदूरी पर श्रमिक को रखने या न रखने का निर्णय श्रम की सीमान्त उत्पादकता से ही होता है क्योंकि एक व्यक्ति उतने ही श्रमिक रक्खेगा ताकि श्रम की सीमान्त उत्पादकता और मजदूरी बराबर हो जाय। इस प्रकार सीमान्त उत्पादकता के आधार पर उत्पादनकर्त्ता श्रमिकों को विभिन्न मजदूरी देने को प्रस्तुत होते हैं। श्रमिक अपने सीमान्त त्याग के अनुसार विभिन्न मजदूरी माँगते हैं। जहाँ उत्पादनकर्त्ता द्वारा दी हुई मजदूरी श्रमिकों द्वारा माँगी हुई मजदूरी के बराबर होती है अर्थात् जहाँ श्रम की सीमा-

न्त उत्पादकता तथा सीमान्त त्याग बराबर होता है वहीं मजदूरी निश्चित की जाती है। इस सिद्धान्त के माँग और पूर्ति पक्ष पर हम अलग-अगग विचार करेंगे।

पूर्ति-पक्ष (Supply-Side)

श्रम की पूर्ति के सम्बन्ध में दो दशायें सम्भव हैं। एक तो यह है कि श्रम को पाने के लिये उत्पादकों में पूर्ण प्रतिस्पर्धा हो। ऐसा होने पर जहाँ कहीं जरा भी अधिक मजदूरी मिलेगी, सभी श्रमिक वहीं चले जायेंगे। इस दशा में उत्पादक मजदूरी पर कोई प्रभाव नहीं डाल सकेंगे और सम्पूर्ण व्यवसाय में मजदूरी की एक ही दर होगी।
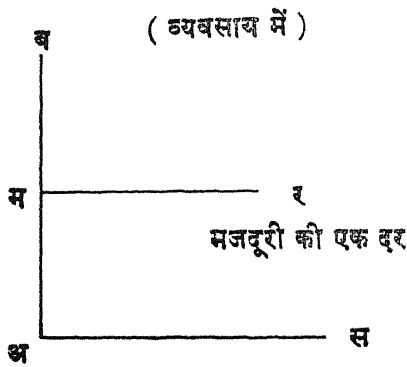
यदि उत्पादकों में श्रमिकों को पाने के लिये पूर्ण प्रतिस्पर्धा नहीं है परन्तु उत्पादक-एकाधिकारी या आंशिक एकाधिकारी हैं और मजदूरी की दर पर प्रभाव डाल सकते हैं तो व्यवसाय में मजदूरी की एक ही दर नहीं होगी। मजदूर विभिन्न दरों पर काम करने के लिये उद्यत होंगे। श्रम की पूर्ति की इन दशाओं को हम चित्र द्वारा भी दिखा सकते हैं।

पहले चित्र की अनुभूमिक रेखा म र पूर्ण प्रतिस्पर्धा की द्योतक है क्योंकि व्यवसाय में मजदूरी की एक ही दर है। दूसरे चित्र की म र रेखा दाहिनी ओर ऊपर उठती हुई है जो इस बात को बताती है कि अपूर्ण प्रतिस्पर्धा के कारण मजदूरी की दरें भिन्न-भिन्न होंगी तथा ज्यों-ज्यों मजदूरी बढ़ती जायगी श्रमिकों की पूर्ति भी बढ़ती जायगी। ये दोनों चित्र व्यवसाय की किसी एक फर्म के लिये श्रम की पूर्ति दिखा रहे हैं। पहले चित्र में पूर्णस्पर्धा के कारण एक ही मजदूरी पर श्रमिक किसी संख्या में मिल सकते हैं। दूसरा चित्र अपूर्ण प्रतिस्पर्धा का है। इस दशा में अधिक मजदूरों के लिए फर्म को मजदूरी बढ़ानी पड़ती है।
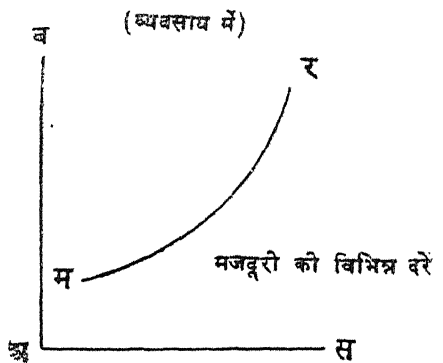
मजदूरी की कोई भी दर श्रमिक को तभी मान्य होगी जब वह उसके सीमान्त त्याग के बराबर हो। उत्पादक मजदूरी की इस दर पर श्रमिकों को तभी रक्खेगा जबकि उसका सीमान्त उत्पादन भी मजदूरी के बराबर हो। अतः सन्तुलन के लिए यह आवश्यक है कि

मजदूरी की दर = श्रम का सीमान्त त्याग
= श्रम की सीमान्त उत्पादकता।

माँग-पक्ष (Demand Side)

हम ऊपर कह चुके हैं कि श्रमिकों की माँग उनकी सीमान्त उत्पादकता के कारण होती है। श्रमिक की सीमान्त उत्पादकता वस्तु की इकाइयों में होती है परन्तु उसे मजदूरी रुपयों में दी जाती है। अतः हमें सीमान्त उत्पादकता को रुपयों में बदलना चाहिए। सीमान्त उत्पादकता रुपयों में श्रम की सीमान्त उत्पत्ति से प्राप्त आय के बराबर होगी। यदि श्रम की सीमान्त उत्पत्ति एक इकाई है तो इस एक इकाई से आय में जो वृद्धि होती है वही श्रम की (रुपयों में) सीमान्त उत्पादकता है। यदि श्रम की सीमान्त उत्पत्ति वस्तु की एक इकाई से अधिक हो, तब भी उन सब इकाइयों के फलस्वरूप हुई आय की वृद्धि श्रम की सीमान्त उत्पादकता होगी अर्थात् सीमान्त उत्पत्ति की प्रत्येक इकाई की सीमान्त आय (Marginal Revenue) का जोड़ होगी।

सीमान्त उत्पादकता (रुपयों में) पर वस्तु के बाजार की दशा का भी प्रभाव पड़ता है। यदि वस्तु के बाजार में पूर्ण प्रतिस्पर्धा हो तो उस समय उत्पादन की प्रत्येक इकाई की सीमान्त आय मूल्य के समान होगी। इसलिए श्रम की सीमान्त उत्पत्ति को रुपयों में बदलने के लिए हमें सीमान्त उत्पत्ति की इकाइयों को वस्तु के मूल्य से गुणा करना होगा। यह सीमान्त उत्पादकता **सीमान्त उत्पत्ति का मूल्य** (Value of Marginal Product) कहलाती है। यदि वस्तु के बाजार में अपूर्ण प्रतिस्पर्धा हो तो सीमांत उत्पत्ति को रुपयों में बदलने के लिए हमें सीमान्त उत्पत्ति की इकाइयों से प्राप्त सीमान्त आय को जोड़ना होगा। इस प्रकार से प्राप्त उत्पादकता को **सीमान्त-आय-उत्पत्ति** (Marginal Revenue Product) कहते हैं। संक्षेप में,

१. वस्तु के बाजार में पूर्ण प्रतिस्पर्धा होने पर श्रम की माँग सीमान्त उत्पत्ति के मूल्य (Value of Marginal Product) से निश्चित होगी।

२. वस्तु के बाजार में अपूर्ण प्रतिस्पर्धा होने पर श्रम की माँग सीमान्त आय उत्पत्ति (Marginal Revenue Product) से निश्चित होगी।

नीचे के चित्रों में श्रम की सीमान्त उत्पत्ति तीन इकाई मानकर सीमान्त उत्पत्ति का मूल्य तथा सीमान्त आय उत्पत्ति के निकालने की विधि को स्पष्ट किया गया है।

पहले चित्र में पूर्ण प्रतिस्पर्धा के कारण सीमान्त आय स्थिर है इसलिये श्रम की सीमान्त उत्पत्ति की तीन इकाइयाँ क ख, ख ग, ग घ से बराबर सीमान्त आय प्राप्त

होगी। यह सीमान्त आय मूल्य के बराबर है इसलिए, यदि मूल्य २) रुपया प्रति इकाई है, सीमान्त उत्पत्ति का मूल्यः

वस्तु के बाजार में पूर्ण प्रतिस्पर्धा
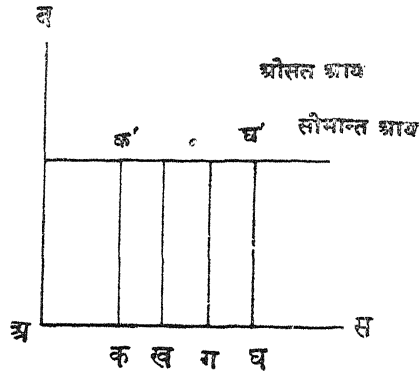
सीमान्त उत्पत्ति की इकाइयाँ × मूल्य =(३×२)= ६) = क क' घ घ' आयत

दूसरे चित्र में अपूर्ण प्रतिस्पर्धा के कारण श्रम की सीमान्त उत्पत्ति की इकाइयाँ क ख, ख ग, ग घ से प्राप्त सीमान्त आय बराबर नहीं है जैसा कि इन बिंदुओं पर खड़ी शीर्ष

वस्तु के बाजार में अपूर्ण प्रतिस्पर्धा
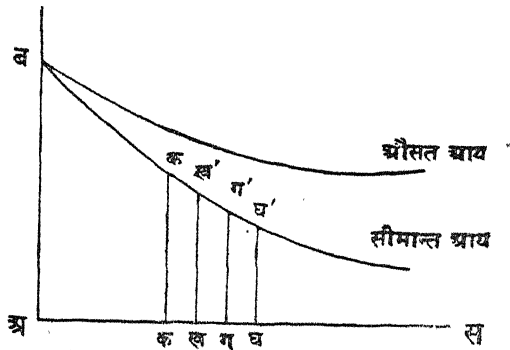
रेखाओं से ज्ञात होता है। इस दशा में सीमांत आय उत्पत्ति श्रम की सीमान्त उत्पत्ति की इकाइयों की सीमान्त आय का जोड़ होगी अर्थात् क क' घ' घ होगी जो तीनों इकाइयों की सीमान्त आय क क ख ख, ख' ग' ग, ग ग' घ' घ का जोड़ है।

श्रम की माँग की रेखा वस्तु के बाजार की अवस्था के अनुसार श्रम की इकाइयों से प्राप्त सीमान्त आय उत्पत्ति या सीमान्त उत्पत्ति के मूल्य द्वारा मिलती है। यह रेखा माँग की अन्य रेखाओं के समान ऊपर से दाहिनी ओर गिरती हुई होगी। इसकी इस आकृति का कारण स्पष्ट है।

१. जब हम सीमान्त आय उत्पत्ति की रेखा खींचते हैं तो श्रम की सीमान्त उत्पादकता (ह्रासमान प्रत्युपलब्धि नियम के कारण) घटती जाती है। साथ ही वस्तु की सीमान्त आय भी घटती जाती है जैसा कि ऊपर दी हुई अपूर्ण प्रतिस्पर्धा (दूसरे चित्र) की सीमान्त आय की रेखा से ज्ञात होता है। इस प्रकार सीमान्त उत्पत्ति की इकाइयाँ और उनसे प्राप्त सीमान्त आय का जोड़ क्रमश: कम होता जाता है और सीमान्त आय उत्पत्ति की रेखा दाहिनी ओर गिरती जाती है।

२. सीमान्त उत्पत्ति के मूल्य की रेखा भी दाहिनी ओर गिरती जाती है क्योंकि श्रम की सीमान्त उत्पत्ति ह्रासमान प्रत्युपलब्धि नियम के कारण कम होती जाती है और इसलिए सीमान्त उत्पत्ति का मूल्य जो सीमान्त उत्पत्ति और वस्तु के मूल्य का गुणनफल है, भी कम होता जाता है।

इन दोनों दशाओं में हम श्रम की माँग की रेखा निम्न प्रकार से खींच सकते हैं।
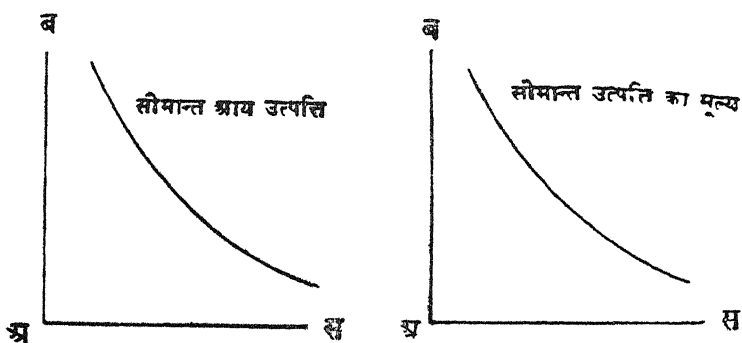
(क) वस्तु के बाजार में पूर्ण प्रतिस्पर्धा (ख) वस्तु के बाजार में अपूर्ण प्रतिस्पर्धा

उपर्युक्त अध्ययन के पश्चात् हम श्रम की माँग और पूर्ति की रेखाओं को खींचने में समर्थ हैं। जहाँ माँग और पूर्ति की रेखाएँ एक-दूसरे को काटेंगी वहीं मजदूरी निश्चित की जायगी। मजदूरी निश्चित करने के लिए चार परिस्थितियाँ सम्भव हैं।

१. वस्तु तथा श्रम के बाजार में पूर्ण प्रतिस्पर्धा

२. वस्तु के बाजार में पूर्ण प्रतिस्पर्धा, तथा श्रम के बाजार में अपूर्ण प्रतिस्पर्धा।

३. वस्तु के बाजार में अपूर्ण प्रतिस्पर्धा तथा श्रम के बाजार में पूर्ण प्रतिस्पर्धा।

४. वस्तु और श्रम के बाजार में अपूर्ण प्रतिस्पर्धा ।

इन चारों स्थितियों में मजदूरी की दरें निम्न प्रकार से निश्चित होगी।
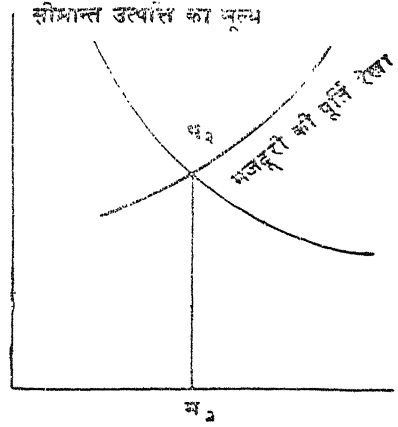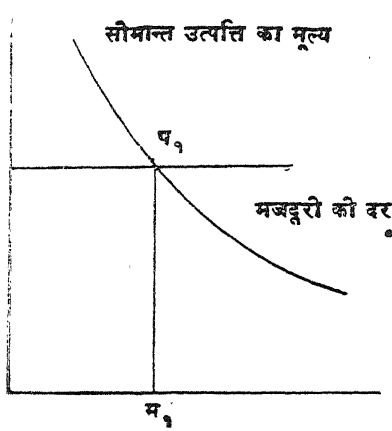
प्रत्येक स्थिति में मजदूरी की दर उपर्युक्त चित्रों द्वारा दिखाई गई है। वस्तु के बाजार में पूर्ण प्रतिस्पर्धा होने पर श्रम की माँग की रेखा सीमान्त उत्पत्ति के मूल्य द्वारा मिलती है तथा अपूर्ण प्रतिस्पर्धा होने पर सीमान्त आय उत्पत्ति के द्वारा मिलती है। इसी प्रकार श्रम के बाजार में पूर्ण प्रतिस्पर्धा होने पर श्रम की पूर्तिरेखा एक
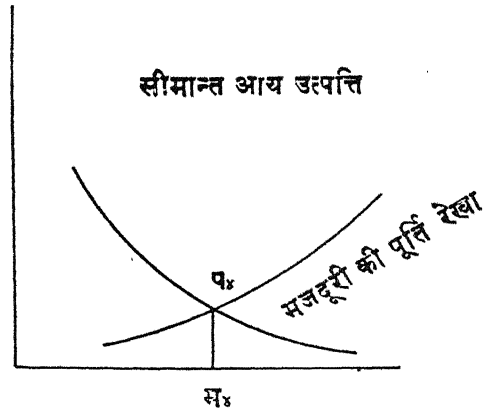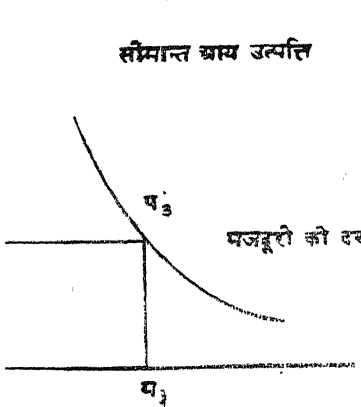
अनुभूमिक रेखा है जो मजदूरी की एक ही दर की द्योतक है। श्रम के बाजार में अपूर्ण प्रतिस्पर्धा होने पर श्रम की पूर्ति रेखा दाहिनी ओर ऊपर उठती हुई होगी। उपर्युक्त चित्रों मे प१म१, प२म२, प३म३, प४म४ मजदूरी की चारों दरें दिखा रहे हैं। तीसरे चित्र के बारे में कहा जा सकता है कि वह तर्क-संगत प्रतीत नहीं होता। इस चित्र

में वस्तु के बाजार में अपूर्ण प्रतिस्पर्धा है तथा श्रम के बाजार में पूर्ण प्रतिस्पर्धा है। इसका अर्थ यह है कि उत्पादक वस्तुओं के मूल्यों को प्रभावित कर सकते हैं परन्तु श्रम की मजदूरी को नहीं। यह अनुपयुक्त प्रतीत होता है। यदि उत्पादक वस्तु के मूल्यों को प्रभावित कर सकते हैं तो यह अधिक सम्भव है कि वे श्रम की मजदूरी को भी प्रभावित करें परन्तु इस स्थिति में यह मान लिया गया है कि श्रम की पूर्ति पर उत्पादक कोई प्रभाव नहीं डाल सकते। यही बात दूसरे चित्र के सम्बन्ध में लागू होती है। सिद्धान्त के दृष्टिकोण से इन आलोचनाओं का कोई महत्व नहीं है। सिद्धान्त में हम ऐसी परिस्थिति की कल्पना कर सकते हैं और यही उनके समर्थन के लिये काफी है।

उपर्युक्त चित्रों में चौथा चित्र व्यवहार के अधिक निकट है और सबसे महत्वपूर्ण है। इस परिस्थिति में उत्पादक वस्तुओं के मूल्यों पर प्रभाव डाल सकते हैं और साथ ही श्रम की मजदूरी पर भी। इस स्थिति में मजदूरी की दर उत्पादकों की एकाधिकार शक्ति पर निर्भर होगी। यदि वे आंशिक एकाधिकारी हैं तो श्रम की मजदूरी को एक निश्चित सीमा तक ही प्रभावित कर सकते हैं परन्तु यदि वे पूर्ण एकाधिकारी है तो वे श्रम की मजदूरी को प्रत्येक श्रमिक के साथ प्रभावित कर सकते हैं। दिये हुए चित्र में प प' मजदूरी की दर है। आंशिक एकाधिकारी होने के कारण उत्पादक इस दर को प्रभावित नहीं कर सकते क्योंकि उससे कम मजदूरी देने पर श्रमिक अन्य उत्पादकों के पास चले जायेंगे।
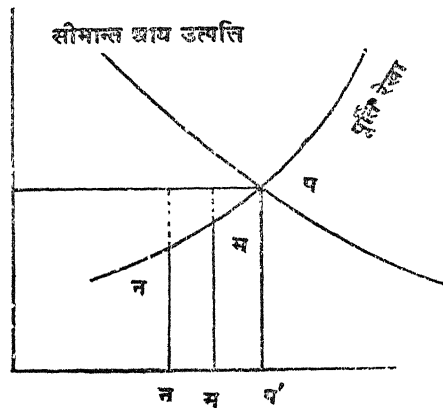
ऊपर के चित्र में प प' श्रमिक की मजदूरी है क्योंकि प बिन्दु पर श्रम का सीमान्त त्याग और उत्पादकता बराबर है। आंशिक एकाधिकारी होने के कारण उत्पादकों को प्रत्येक श्रमिक को यही मजदूरी देनी पड़ेगी। यदि उत्पादक एक पूर्ण एकाधिकारी है, तो वह प्रत्येक श्रमिक को दी हुई मजदूरी को भी प्रभावित करेगा अर्थात् वह प्रत्येक मजदूर को उसके सीमान्त त्याग के बराबर मजदूरी देगा। इस दशा में प्रत्येक मजदूर को प प' मजदूरी नहीं मिलेगी वरन् सीमान्त श्रमिक को प प' मिलेगी क्योंकि उसका सीमान्त त्याग प प' के बराबर है। उससे पहले के श्रमिकों को भी मजदूरी उनके सीमान्त त्याग के बराबर दी जायगी अर्थात् म म, न न इत्यादि श्रमिकों की मजदूरी होगी। व्यवहार में ऐसा करना सदैव सम्भव नहीं होता।

मजदूरी निश्चित करने के लिए माँग और पूर्ति का यह सिद्धान्त सर्वश्रेष्ठ है। यह एक सन्तुलित सिद्धान्त है जिसमें माँग और पूर्ति दोनों पक्षों के प्रभावों पर पूरा ध्यान दिया गया है। अन्य सिद्धान्तों की तरह, जैसा कि आगे चलकर विदित होगा, यह एकांगी नहीं है। इसके अतिरिक्त अर्घ के सामान्य सिद्धान्त से इसका सामंजस्य भी हो जाता है। अब हम मजदूरी निश्चित करने के कुछ अन्य सिद्धान्तों पर विचार करेंगे।

मजदूरी का जीवन-निर्वाह या "लौह" सिद्धान्त (The Subsistence Theory or the Iron Law of Wages)

कृषिवादी और वाणिज्यवादी अर्थशास्त्री (Physiocrats and Mercantilists) दोनों ही मजदूरी के बारे में एक मत थे। दोनों के अनुसार श्रमिक की मजदूरी उसके जीवन-निर्वाह स्तर द्वारा निश्चित होती है। वाणिज्यवादी अर्थशास्त्रियों ने मजदूरी का कोई निश्चित सिद्धान्त नहीं बनाया। विदेशी व्यापार तथा कर के सम्बन्ध में उनकी रचनाओं से उपर्युक्त सिद्धान्त स्पष्ट होता है। कृषिवादी विचारकों ने इस सिद्धान्त को अधिक उचित रूप से कहा। क्वेस्ने (Quesnay) का विश्वास था कि श्रमिकों की मजदूरी केवल जीवन-निर्वाह भर के लिए होती है क्योंकि प्रतिस्पर्धा इनकी मजदूरी को न्यूनतम स्तर पर ले आती है। टुरगौट (Turgot) का कहना है कि व्यवसाय के मजदूर को केवल उतनी ही मजदूरी मिलती है जितनी कि उसके जीवन-निर्वाह के लिये आवश्यक है।

एडम स्मिथ ने भी जीवन-निर्वाह सिद्धान्त को स्वीकार किया है परन्तु उनके अनुसार इस सिद्धान्त में थोड़ा वहुत परिवर्तन सम्भव है। मजदूरों के रहने का निम्न-स्तर उनकी कम मजदूरी का परिणाम है। मूलतः श्रमिक और उसके परिवार का जीवन-निर्वाह ही मजदूरी की निम्नतम सीमा निश्चित करता है। ऊँची मजदूरी मिलने पर श्रमिकों की संख्या बढ़ जाती है और कम मजदूरी होने पर घट जाती है। अन्त में मजदूरी का स्तर जीवन-निर्वाह पर ही स्थिर होता है। लासेल (Lassalle) ने इस सिद्धान्त को 'लौह' सिद्धान्त (Iron Law of Wages) कहा है।

रिकार्डो (Ricardo) ने इस सिद्धान्त में केवल इतना सुधार किया कि उन्होंने मजदूरी की दो दरों—प्राकृतिक दर तथा बाजार की दर—की चर्चा की। मजदूरी की प्राकृतिक दर (Natural Wage) वह है जो कि श्रमिकों के जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक है। यह जीवन-निर्वाह की दर समाज के विभिन्न स्तरों के लिए विभिन्न होती है। श्रमिकों की पूर्ति में परिवर्तन या वस्तु की माँग के परिवर्तन से मजदूरी की बाजार की दर बदल सकती है परन्तु दीर्घकाल में वह मजदूरी की प्राकृतिक दर के बराबर ही होगी। वास्तव में रिकार्डो ने अपने अर्घ के सामान्य सिद्धान्त को मजदूरी के सिद्धान्त में भी उतार दिया है।

समाजवादियों ने रिकार्डो के सिद्धान्त को अपना आधार बनाया। रिकार्डो ने कहा था कि मजदूरी जीवन-निर्वाह के स्तर के बराबर ही होती है। समाजवादी विचारधारा यहीं से आगे बढ़ती है। उनका कहना है कि मजदूर एक अच्छे रहन-सहन के लिए पर्याप्त उत्पादन करते हैं जिसमें से उन्हें मजदूरी के रूप में जीवन-निर्वाह भर के लिए मिलता है। शेष भाग उन व्यक्तियों के पास चला जाता है जिनका उस पर कोई अधिकार ही न था। अतः इस शोषण का अन्त करना चाहिये। इस प्रकार यह "लौह" सिद्धान्त समाजवादी विचारधारा की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है।

यह सिद्धान्त दोषपूर्ण है। यह कहना कि मजदूरी बढ़ने के साथ श्रमिकों की संख्या भी बढ़ जाती है समीचीन प्रतीत नहीं होता। साधारणतया जीवन-स्तर की वृद्धि के साथ जनसंख्या में वृद्धि नहीं होती। यह सिद्धान्त जीवन-स्तर की वृद्धि के साथ जनसंख्या की वृद्धि आवश्यक मानकर चलता है।

इसके अतिरिक्त इस सिद्धान्त में मजदूरी का कार्य-क्षमता से कोई सम्बन्ध नहीं दिखाया गया है। यदि मजदूरी सदैव जीवन-निर्वाह के स्तर के बराबर ही रहे तो सम्भवतया मजदूरों की कार्य-क्षमता में कोई वृद्धि नहीं होगी। मजदूरी और कार्य-क्षमता का घनिष्ट सम्बन्ध है जिसे इस सिद्धान्त में भुला दिया गया है। यह सिद्धान्त विभिन्न व्यवसायों में श्रमिकों की मजदूरी की विभिन्न दरों का कोई कारण नहीं बता सकता क्योंकि इसके अनुसार मजदूरी जीवन-निर्वाह के बराबर होगी और जीवन-निर्वाह सभी व्यवसायों में लगभग समान ही होगा।

इस सिद्धान्त की अन्तिम कमी यह है कि यह केवल पूर्ति पक्ष पर ही आधारित है। श्रम के माँग पक्ष को इसमें भुला दिया गया है।

मजदूरी का रहन-सहन स्तर का सिद्धान्त (Standard of Living Theory of Wages)

यह सिद्धान्त उपर्युक्त सिद्धान्त का ही एक परिवर्तित रूप है। इसके अनुसार मजदूरी रहन-सहन के स्तर के बराबर होनी चाहिए। इतनी मजदूरी मिलने पर श्रमिकों को वे सब वस्तुयें प्राप्त हो सकेंगी जिनके कि वे अभ्यस्त हैं और इस प्रकार उनकी कार्य-क्षमता भी बढ़ जायगी। इस अर्थ में यह सिद्धान्त जीवन-निर्वाह के सिद्धान्त से अच्छा है। इसके अतिरिक्त कुछ सीमा तक मजदूरी की दरों की विभिन्नता भी इस सिद्धान्त से स्पष्ट हो सकती है। परन्तु इस सिद्धान्त को मानने में कई कठिनाइयाँ हैं।

इस सिद्धान्त में इस बात का निर्णय करना बहुत कठिन है कि कौन किसका कारण है। श्रमिक को मिलने वाली मजदूरी ही उसका जीवन-स्तर निर्धारित करती है और श्रमिक जीवन-स्तर को बनाये रखने के लिए आवश्यक मजदूरी—

माँगता है। इस दशा में यह सिद्धान्त, मजदूरी कैसे निश्चित की जाती है, का कोई उचित उत्तर नहीं देता।

जीवन-स्तर के लिए आवश्यक मजदूरी की माँग श्रमिकों द्वारा की जाती है, अत: यह उनका त्याग है और इसलिए यह सिद्धान्त पूर्व सिद्धान्त की तरह ही श्रमिकों के त्याग या उनकी पूर्ति पर निर्भर है।

जीवन-स्तर में बार-बार परिवर्तन नहीं होते। रहन-सहन का जो स्तर श्रमिक अपना लेता है वह शीघ्र ही नहीं बदलता परन्तु मजदूरी की दर बहुधा बदलती रहती है। इस विरोध को यह सिद्धान्त स्पष्ट नहीं करता।

मजदूरी-निधि का सिद्धान्त (J. S. Mill's Wages Fund Theory)

रहन-सहन स्तर के सिद्धान्त के पूरक या स्थानापन्न एक दूसरा सिद्धान्त बनाने का श्रेय मिल (J. S. Mill) को है। यह सिद्धान्त मजदूरी-निधि का सिद्धान्त कहलाता है। मजदूरी के इस सिद्धान्त की ओर सबसे पहला संकेत एडम स्मिथ ने किया था। उनका यह कथन कि मजदूरी देने के लिए उत्पादकों के पास एक अलग निधि (Fund) होती है, इस सिद्धान्त का प्रारम्भ है। जेम्स मिल (James Mill), सीनियर (Senior), माल्थस (Malthus) और रिकार्डो (Ricardo)—सभी ने इस विचार को स्वीकार किया कि मजदूरी-निधि ही मजदूरी के स्तर का कारण है।

इस सिद्धान्त के प्रारम्भिक रूप के अनुसार मजदूरी, जनसंख्या तथा श्रमिकों को रखने के लिए प्राप्य पूँजी के सम्बन्ध पर निर्भर है। मिल को विवश होकर जनसंख्या और पूँजी के अर्थ में परिवर्तन करने पड़े। जनसंख्या से उनका तात्पर्य उस जन-समूह से था जो पारिश्रमिक के बदले अपनी सेवाओं के बेचने को तैयार था, तथा पूँजी से तात्पर्य उस धनराशि से था जिसका प्रयोग मजदूरों की मजदूरी तथा उसी से सम्बन्धित कार्यों के भुगतान के लिए होता था। इस प्रकार दिये हुए समय पर मजदूरी-निधि निश्चित या स्थिर होती थी। मजदूरी बढ़ाने का एकमात्र उपाय मजदूरों की संख्या में कमी या मजदूरी-निधि में वृद्धि थी। इस सिद्धान्त का श्रम संघ और मजदूरी सम्बन्धी कानून पर विशेष प्रभाव पड़ा, क्योंकि इसके अनुसार कुल दी जानेवाली मजदूरी में कोई वृद्धि नहीं हो सकती। मजदूरी का भाग श्रमिकों के एक समूह से दूसरे समूह को हस्तान्तरित भर हो सकता है।

इस सिद्धान्त का जीवन-निर्वाह के सिद्धान्त से कोई मौलिक विरोध नहीं है। जीवन-निर्वाह के सिद्धान्त के समर्थकों द्वारा इसे बिना किसी आलोचना के स्वीकार किया जाना इस बात का स्पष्ट प्रमाण है। उनके अनुसार मजदूरी-निधि का अन्तिम निश्चय जीवन-निर्वाह सिद्धान्त के आधार पर होता है।

मजदूरी-निधि सिद्धान्त की आलोचना अनेक प्रकार से की गई है। सिद्धान्त के अन्तिम कथन से कई दशाब्दि पहले एफ० बी० वान० हरमेन (F. B. Von Hermann) ने इसकी आलोचना की थी। बाद में वाकर (Walker), लोन्ज (Longe), और थोर्नटन (Thornton) ने उसमें ऐसी गलतियाँ और अव्यवहारिकता दिखाई कि सिद्धान्त ही समाप्त हो गया। इन लेखकों का कहना था कि श्रम की माँग उपभोक्ताओं द्वारा निश्चित होती है। श्रमिकों को मजदूरी चालू आय तथा पूँजी दोनों से ही दी जाती है, केवल पूँजी से ही नहीं, जैसा कि मजदूरी-निधि सिद्धान्त में मान लिया गया है। उत्पादन में प्रयुक्त निधियों से मजदूरी-निधि अलग नहीं की जा सकती। मिल को इन सब आलोचनाओं का ज्ञान था। इन आलोचनाओं के प्रभाव से धीरे-धीरे इस सिद्धान्त की सामान्य स्वीकृति समाप्त हो गई, केवल उसके मूल कथन ही शेष रहे।

उपर्युक्त अर्थशास्त्रियों की आलोचनाओं के अतिरिक्त मजदूरी-निधि सिद्धान्त में कुछ अन्य दोष भी हैं। उदाहरण के लिए इस सिद्धान्त में मान लिया गया है कि मजदूरी-निधि निश्चित होती है। इस दशा में श्रम की माँग का, जो इस सिद्धान्त के अनुसार पूँजी द्वारा निर्धारित होती है, कोई महत्वपूर्ण हाथ नहीं रह जाता। मजदूरी केवल श्रम की पूर्ति से ही निश्चित होने लगती है। इस प्रकार यह सिद्धान्त एकांगी है।

विभिन्न देशों में मजदूरी की दरों की विभिन्नता इस सिद्धान्त द्वारा उचित रूप से नहीं समझाई जा सकती। उदाहरण के लिए नये देशों में पुराने देशों की अपेक्षा पूँजी कम होती है परन्तु फिर भी मजदूरी अधिक होती है।

इस के सिद्धान्त अनुसार, जैसा कि जीवन-निर्वाह के सिद्धांत के समर्थकों का कहना है, मजदूरी मजदूरी-निधि को श्रमिकों की संख्या से भाग देने पर मालूम होती है। मजदूरी-निधि को पहले निश्चित कर लेना और फिर मजदूरी निकालना एकदम अवैज्ञानिक है। होना यह चाहिए कि हम पहले श्रमिक की मजदूरी मालूम कर लें और तब मजदूरी-निधि का पता लगायें।

अविशिष्ट स्वत्व सिद्धान्त (The Residual Claimant Theory)

मिल के मजदूरी-निधि के सिद्धान्त के मुकाबले में मजदूरी का अविशिष्ट स्वत्व सिद्धान्त प्रस्तुत किया गया। सन् १८६२ में विलियम स्टेनली जेवन्स (William Stanely Jevons) ने सबसे पहले इस सिद्धान्त को प्रस्तुत किया, परन्तु सामान्यतः यह सिद्धान्त फ्रान्सिस वाकर (Francis Walker) के नाम से सम्बन्धित है जिन्होंने २० साल बाद इसका विश्लेषण किया। इस सिद्धान्त का तथ्य यह है कि उत्पत्ति में से पहले लगान, ब्याज और लाभ दे दिये जाते हैं जो कुछ शेष बचता है वह मजदूरों

का भाग है। यदि जमीन के पाँच टुकड़ों से हुई उत्पत्ति की कुल आय एक हजार रुपये हो तो वाकर के अनुसार मजदूरी निम्न प्रकार मे निश्चित होगी। यदि सीमान्त भूमि पर सौ रुपये की लागत हो तो सबसे पहले लगान दिया जायगा जो १०००) रुपये — ५००)* रुपये = ५००) रुपये होगा। शेष ५००) रुपयों में से पूँजी का ब्याज, मान लो वह ५०) रुपये है, दिया जायगा। लाभ भी एक प्रकार का लगान है और उसी की तरह लाभ का भाग निश्चित किया जायगा। यदि लाभ का भाग १५०) रुपये है तो शेष ३००) रुपये मजदूरी का भाग है।

वाकर के इस सिद्धान्त का आधार दो तथ्य है।

१. मजदूरी को छोड़कर ब्याज, लगान, लाभ आदि अलग-अलग निश्चित किये जा सकते हैं।

२. इन लाभ, लगान और ब्याज की आयें सीमित है। यदि ऐसा न हो तो यह सम्भव है कि लाभ, लगान और ब्याज के भुगतान के वाद मजदूरों के लिए कुछ भी शेष न रहे।

इन अनुमानों के आधार पर वाकर का कहना है कि ज्यों-ज्यों उत्पादन की मितव्ययतायें बढ़ती जायेंगी मजदूरों का अविशिष्ट भाग भी बढ़ता जायगा और मजदूरी भी बढ़ती जायगी।

यह सिद्धान्त भी दोषपूर्ण है। प्रो० वाकर के तर्क के अनुसार हम लाभ, लगान या ब्याज किसी को भी अविशिष्ट स्वत्व के अनुसार निकाल सकते हैं। यह ताज्जुब की बात है कि वाकर लाभ को अविशिष्ट स्वत्व नहीं मानते वरन् श्रम के भाग को अविशिष्ट कहते हैं।

श्रम की माँग और पूर्ति को भुला दिया गया है जो कि मजदूरी निश्चित करने के मुख्य आधार हैं।

श्रम संघ बहुधा माँग की अपेक्षा पूर्ति में कृत्रिम कमी करके मजदूरी पर प्रभाव डालते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार श्रम संघ और मजदूरी का सम्बन्ध स्पष्ट ही नहीं होता।

मजदूरी का सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त (The Marginal Productivity Theory of Wages)

इस सिद्धान्त के अनुसार मजदूरी श्रम की सीमान्त उत्पादकता से निश्चित होती है। यह एक अपूर्ण कथन है क्योंकि श्रम की सीमान्त उत्पादकता उसकी माँग दिखाती

---

* सीमान्त भूमि की लागत १००) है। अतः जमीन के पाँचों टुकड़ों पर लगी हुई लागत १०० × ५रु० = ५००) है।

है। केवल माँग से ही किसी भी वस्तु का मूल्य निश्चित नहीं हो सकता। मजदूरी श्रम का मूल्य है तब वह केवल सीमान्त उत्पादकता, जो उसकी माँग है, से निश्चित नहीं हो सकती। इस कथन में इतनी सच्चाई अवश्य है कि सन्तुलन बिन्दु पर श्रमिक को मिलने वाली मजदूरी उसकी सीमान्त उत्पादकता के बराबर होती है। एक सिद्धान्त के रूप में यह अपूर्ण है और इस लिए इसे स्वीकृति नहीं प्राप्त हुई। इसके अतिरिक्त यदि उत्पादन के "प्राविधिक गुणक" (Technical Coeffcient) अपरिवर्ती हों तो सीमान्त उत्पादकता का सिद्धान्त लागू भी नहीं हो सकेगा।

श्रम की वास्तविक सीमान्त उत्पत्ति (Marginal Net Product of Labour)

कुछ लोगों का कहना है कि श्रमिक की मजदूरी उसकी वास्तविक सीमान्त उत्पत्ति के बराबर होती है। वास्तविक सीमान्त उत्पत्ति सीमान्त उत्पादकता से उस भाग को घटा देने से मिलती है जो श्रम की एक इकाई की वृद्धि के फलस्वरूप उत्पादन के अन्य साधनों के बढ़ने से उत्पत्ति में हुई वृद्धि है। उदाहरण के लिए यदि एक स्थान पर दस श्रमिक काम कर रहे हों और एक श्रमिक को और लगा लिया जाय तो उत्पादन के अन्य साधनों—पूँजी, संगठन, साहसोद्यम—में भी कुछ न कुछ वृद्धि अवश्य होगी। अन्य साधनों के बढ़ने से हुई उत्पत्ति की वृद्धि को हम उत्पत्ति में हुई वृद्धि से घटा देते हैं। यदि ग्यारहवें श्रमिक की नियुक्ति के बाद उत्पत्ति कुल दस इकाई बढ़ जाती है परन्तु अन्य साधनों की वृद्धि भी होती है जिसके कारण उत्पत्ति एक इकाई बढ़ती है, तो इस दशा में

श्रम की वास्तविक सीमान्त उत्पत्ति[1] = १० इकाई – १ इकाई
= ९ इकाई

कुछ अर्थशास्त्रियों का कहना है कि मजदूरी वास्तविक सीमान्त उत्पत्ति के बराबर होनी चाहिये क्योंकि वही श्रम की यथार्थ सीमान्त उत्पत्ति है। यह ठीक है परन्तु यदि हम सीमान्त उत्पादकता के आधुनिक अर्थ को ध्यान में रक्खें तो मजदूरी को सीमान्त उत्पादकता के बराबर कहने में कोई दोष नहीं होगा। प्रो० हिक्स (Prof. Hicks) के अनुसार सीमान्त उत्पादकता एक और श्रमिक को रखने के कारण हुई वह वृद्धि है जब कि फर्म का संगठन इस प्रकार से व्यवस्थित कर लिया जाता है कि

---

[1] **वास्तविक सीमान्त उत्पत्ति के बारे में श्रीमती जोन रोबिन्सन का कहना है :**
"Marginal net productivity is the marginal net increment of value of output caused by employing an additional man. It is the marginal gross productivity caused by employing an additional man with the appropriate addition to other factors less the addition to the cost of the factors."

उसका शेष संगठन आदि अपरिवर्तित रहते हैं।[१] सीमान्त उत्पादकता के इस अर्थ के अनुसार हमें यह कहने की आवश्यकता नहीं रहती कि श्रमिक की मजदूरी उसकी वास्तविक सीमान्त उत्पत्ति के बराबर होती है।

टासिग का सिद्धान्त (Taussig's Theory of Discounted Marginal Productivity)

प्रो० टासिग के अनुसार मजदूरी चल पूँजी में से दी जाती है। मजदूर को यह मजदूरी प्रारम्भ में ही दे दी जाती है यद्यपि उत्पादित वस्तु से आय (उत्पादक को) कुछ समय बाद प्राप्त होती है। इस समय में यदि मजदूरी के रूप में दी जाने वाली पूँजी को उधार दिया जाता तो उससे उत्पादक को ब्याज की प्राप्ति होती। मजदूरी पहले ही दे देने के कारण उत्पादक को यह ब्याज नहीं मिल पाता। अतः टासिग के अनुसार उत्पादक श्रमिक की मजदूरी से ब्याज के बराबर कटौती कर लेगा; अर्थात् सीमान्त उत्पादकता कटौती काटने के बाद मजदूरी के रूप में दी जायगी।

प्रो० टासिग के इस सिद्धान्त की काफी आलोचना की गई है। मजदूरी के भुगतान और वस्तु के विक्रय के बीच कुछ समय अवश्य लगता है। यदि यह समय स्थिर हो तो टासिग का सिद्धान्त सही हो सकता है। इस दशा में एक भी श्रमिक अधिक रखने के लिये उसे मजदूरी के भुगतान करने वाली चल पूँजी की मात्रा बढ़ानी होगी अतः इस श्रमिक को वह तभी रक्खेगा जब कि उसकी सीमान्त उत्पत्ति, उसकी मजदूरी और बढ़ाई हुई पूँजी के व्याज के बराबर हो जाय अर्थात् मजदूरी ब्याज की कटौती के बाद दी जायगी। प्रो० हिक्स का कहना है कि व्यवहार में श्रम की मात्रा को बढ़ाने के साथ उत्पादन की अवधि कम हो जाती है तथा मजदूरी के भुगतान और वस्तु के विक्रय की अवधि भी कम हो जाती है इसलिये मजदूरी में से कटौती काटने की कोई आवश्यकता नहीं। टासिग का यह अनुमान कि वस्तु के विक्रय और मजदूरी के भुगतान की अवधि स्थिर होती है, सही नहीं है। इसलिये उनका मजदूरी का सिद्धान्त भी सही नहीं उतरता।

---

[१] "The marginal product which measures the actual return which a factor of production must get in a state of equilibrium is the addition which is made to the product of a firm when a small unit is added to the supply of that factor available to that firm and the organisation of the firm is adjusted to the new supply so that it is used in the most economical way but when the rest of the organisation of the industry including the general system of prices remains unchanged." Theory of Wages pp. 239.—J. R. Hicks.

सापेक्षिक मजदूरी का अन्तर (The differance in relative wages)

व्यवहार में विभिन्न उद्योगों में एक ही मजदूरी नहीं दी जाती। भिन्न-भिन्न व्यवसायों की मजदूरी में सापेक्षिक अन्तर होता है। इस अन्तर के अनेक कारण होते हैं।

१. प्रत्येक व्यवसाय के लिये आवश्यक योग्यता में अन्तर होता है। इस अन्तर के कारण मजदूरी में भी अन्तर हो जाता है।

२. जिस व्यवसाय में कुशल श्रमिकों की अधिक आवश्यकता होती है वहाँ अपेक्षाकृत अधिक मजदूरी मिलती है क्योंकि कुशल श्रमिकों की पूर्ति कम होती है।

३. उद्योग का भविष्य भी मजदूरी पर प्रभाव डालता है। एक उन्नतिशील उद्योग में मजदूर प्रारम्भ में कम मजदूरी पर काम करना स्वीकार कर लेंगे क्योंकि उन्हें यह आशा रहती है कि उद्योग के उन्नतिशील होने पर उनकी मजदूरी में वृद्धि हो जायगी।

४. श्रमिकों की गतिशीलता बहुत कम होती है। इस कारण भी भिन्न-भिन्न व्यवसायों में साधारण कार्यों पर नियुक्त श्रमिकों की मजदूरी में अन्तर होता है।

५. अरुचिपूर्ण व्यवसायों में श्रमिकों को आकर्षित करने के लिये अधिक मजदूरी दी जाती है।

स्त्रियों की कम मजदूरी

साधारणतया पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों को कम मजदूरी दी जाती है। इसके अनेक कारण हैं।

१. जहाँ तक अकुशल कार्यों का सम्बन्ध है, स्त्रियाँ पुरुषों की अपेक्षा अधिक शारीरिक परिश्रम नहीं कर सकतीं और इसलिये दिये हुए समय में उनके काम की मात्रा भी कम होती है। परिणाम यह होता है कि उन्हें पुरुषों के बराबर मजदूरी नहीं दी जाती।

२. अधिकतर स्त्रियाँ पारिवारिक आय को पर्याप्त करने के लिये ही काम करती हैं। इस कारण एक विशेष मजदूरी पर ही काम करने का दृढ़ निश्चय उनमें नहीं होता। सामान्यत: उन्हें जो कुछ भी दे दिया जाता है, वे उसे स्वीकार कर लेती हैं

३. मिल मालिक भी इन्हें अधिक मजदूरी देने के लिये तैयार नहीं होते क्योंकि स्त्रियाँ सामान्यत: शादी के पश्चात् नौकरी छोड़ देती हैं।

४. कुछ गिने-चुने व्यवसायों में ही स्त्रियाँ काम कर सकती हैं। इन व्यवसायों में उनकी माँग की अपेक्षा पूर्ति अधिक हो जाती है और इसलिये मजदूरी कम हो जाती है।

५. इसके अतिरिक्त मजदूरी के सम्बन्ध में स्त्रियों में भी संगठन का अभाव है। वे सामान्यत: श्रम-संघों की सदस्या नहीं होतीं जो मजदूरी को बढ़ाने के लिये प्रयत्न-शील रहते हैं।

श्रम-संघ और मजदूरी (Trade Unions and Wages)

श्रम संघ श्रमिकों के हितों की सुरक्षा के लिये बनाये जाते हैं। किसी व्यसवाय में श्रमिकों की मजदूरी को कम न होने देना और उसे बढ़ाने के लिये प्रयत्नशील रहना इसका मुख्य कार्य है। ऐसा करने के लिये इन्हें ऐसा नीति अपनानी होती है ताकि श्रमिकों की माँग कम न होने पायें और पूर्ति का आधिक्य भी न हो। इनकी नीति के मुख्य आधार दो तथ्य हैं।

१. जिस अनुपात में श्रम का पूँजी के साथ प्रयोग किया जाता है वह लगभग निश्चित होता है। अत: श्रमिकों की माँग बनाये रखने के लिये यह आवश्यक है कि श्रम और पूँजी के अनुपात में कोई अन्तर न हो ताकि श्रमिक उतनी ही संख्या में काम करते रहें। साथ ही वस्तु की माँग भी कम न होने पाये क्योंकि श्रमिकों की माँग वस्तु की माँग पर निर्भर होती है। इन दोनों बातों को ध्यान में रखकर श्रम-संघ ऐसी नीति अपनाते हैं ताकि माँग की ओर से मजदूरी पर कोई प्रतिकूल प्रभाव न पड़े।

२. मजदूरी को कम न करने के लिये इस तर्क का भी आश्रय लिया जाता है कि मजदूरी कुल लागत का बहुत थोड़ा सा भाग होती है। उदाहरण के लिये बढ़ई की मजदूरी में ४०% कमी करने पर मकान की लागत में मुश्किल से १% कमी होगी। इसी तर्क के आधार पर मजदूरी की वृद्धि की भी माँग की जाती है। व्यवसाय के उन्नतिशील होने पर मजदूरी बढ़ाने से उसकी लागत में कोई वृद्धि नहीं होगी।

माँग को बनाये रखने के लिये श्रम-संघ निम्न नीति का अनुसरण करते हैं।

१. विदेशों से माल मँगाने का विरोध।

इसका कारण यह है कि देश में वस्तु का ऊँचा मूल्य श्रमिकों के हित में होता है और विदेशी आयात उनके हितों के विरुद्ध होते हैं। अमेरिका में श्रम-संघों ने इस नीति को अपनाया है।

२. उत्पादन के प्राविधिक (Technical) परिवर्तन का विरोध।

श्रम-संघ उत्पादन के प्राविधिक परिवर्तन का भी विरोध करते हैं क्योंकि प्राविधिक परिवर्तन से यह सम्भव है कि एक मशीन पर श्रमिकों की कम संख्या की आवश्य-कता हो। इससे श्रमिकों की माँग कम हो जायगी तथा उनमें बेरोजगारी भी फैलेगी। अमेरिका में रंगसाजों (Painters) ने अनेक शहरों में Paint Sprayers का

विरोध किया, बढ़इयों ने कुछ विशेष प्रकार के कार्यों को मिल में किये जाने से रुकवा दिया।

३. उत्पादन पर अधिकार।

अधिक मजबूत श्रम-संघ उत्पादन के कुछ क्षेत्रों पर अपना अधिकार जमा लेते हैं और इस प्रकार श्रमिकों की माँग पर नियंत्रण रखते हैं। इत्यादि।

माँग की पूर्ति की ओर से श्रम-संघों को यह ध्यान रखना पड़ता है कि उस व्यवसाय में जिसमें मजदूरी की दर अधिक है मजदूर अधिक संख्या में न आ जायें। उन्हें इस बात का प्रयत्न करना पड़ता है कि व्यवसाय में ऐसी मजदूरी दी जाय ताकि श्रमिकों को दी जाने वाली कुल मजदूरी (Total Wage Bill) अधिकतम हो।

उपर्युक्त प्रकार की नीति अपना कर श्रम-संघ मजदूरी को प्रभावित कर सकते हैं। प्रश्न यह उठता है, क्या श्रम-संघ सदैव के लिये मजदूरी की दर बढ़ा सकते हैं? इसका स्पष्ट उत्तर 'ना' में है। श्रम की माँग को बेलोचदार मानने का अनुमान (वह पूँजी के साथ एक निश्चित अनुपात में ही प्रयुक्त होगी) दीर्घकाल में अशुद्ध सिद्ध होता है। श्रम और पूँजी का अनुपात बदलता रहता है, वैज्ञानिक खोज इसे और भी सम्भव कर देती है। इस प्रकार दीर्घकाल में श्रम की माँग लोचदार हो जायगी। इसके अतिरिक्त श्रम-संघ की नीति की सफलता की भी सीमा होती है। उत्पादकों का संगठन, राजनीतिक परिस्थितियाँ आदि मजदूरी की दर हमेशा बढ़ी नहीं रहने देगी। यदि जनसंख्या की वृद्धि के कारण श्रम की पूर्ति बढ़ जाय तो श्रम-संघों के पास पूर्ति को नियंत्रित करने का कोई प्रभावपूर्ण साधन नहीं है। अत: यह कहना अनुचित है कि श्रम-संघ मजदूरी हमेशा बढ़ी हुई रख सकते हैं।

जहाँ श्रम-संघ बहुत शक्तिशाली हैं वहाँ वे मजदूरों की ओर से उत्पादकों से मजदूरी तय करते हैं। जब तक उत्पादक संगठित नहीं होते वे अनुकूल मजदूरी तय करने में समर्थ होते हैं। उत्पादकों के संगठित होने पर परिस्थिति बदल जाती है। उस दशा में उत्पादक इतनी सरलता से श्रम-संघ की माँगें स्वीकार नहीं करेंगे। पहली दशा में भी श्रम-संघ की मजदूरी की माँग तभी स्वीकार की जा सकती है जब उत्पादक को यह विश्वास हो जाय कि उस मजदूरी के देने से व्यवसाय की कोई दूसरी फर्म उससे आगे नहीं निकल जायगी।

वास्तव में श्रम-संघ और उत्पादकों के बीच में मजदूरी कहाँ पर तय होगी यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। सिद्धान्त के दृष्टिकोण से यह वह दशा है जिसे अंग्रेजी में Bilateral Monopoly कहते हैं।

न्यूनतम मजदूरी (Minimum Wage)

एक साधारण धारणा यह है कि उत्पादक श्रमिकों को बहुत कम मजदूरी देते हैं जो उनके जीवन-निर्वाह के लिये भी काफी नहीं होती । इस तर्क के सहारे कहा जाता है कि सरकार को कानून द्वारा एक न्यूनतम मजदूरी निश्चित कर देनी चाहिये ताकि मजदूरों को कम से कम उनके जीवन-निर्वाह के लिये पर्याप्त आय हो जाय । सिद्धान्त के दृष्टिकोण से इस विचार को स्वीकार करने में कठिनाई है । उत्पादक श्रमिक को उतनी ही मजदूरी देगा जितनी कि उसके रखने से आय में वृद्धि होती है अर्थात् मजदूरी सीमान्त उत्पादकता के बराबर दी जायगी । यह सम्भव है कि मजदूर की सीमान्त उत्पादकता उसके जीवन-निर्वाह के लिये आवश्यक प्रतिफल से कम हो । इस दशा में उत्पादक को सीमान्त उत्पादकता से अधिक देना पड़ेगा जो उसके हित के विरुद्ध होगा । अतः यह सम्भव है कि इस दशा में वह अकुशल श्रमिकों को निकाल दे और केवल इतने श्रमिकों को ही रक्खे जिनकी सीमान्त उत्पादकता जीवन-निर्वाह के लिये आवश्यक मजदूरी के बराबर हो । इस दशा में न्यूनतम मजदूरी का निश्चित करना श्रमिकों के लिये हितकर नहीं होगा क्योंकि अनेक श्रमिक बेकार हो जायेंगे ।

वास्तव में न्यूनतम मजदूरी का विचार न्याय की भावना से अधिक प्रेरित है अन्यथा आर्थिक सिद्धान्त के दृष्टिकोण से सीमान्त उत्पादकता के बराबर की मजदूरी, चाहे वह जीवन-निर्वाह के लिये काफी हो या न हो—ही न्यायोचित मजदूरी है । यदि न्यूनतम मजदूरी का कानून बनाया भी जाय तो प्रश्न यह उठता है कि न्यूनतम मजदूरी कितनी रक्खी जाय ? श्रमिक के परिवार के आकार, उनके उपभोग के स्वरूप भिन्न-भिन्न होते हैं । अतः जो मजदूरी एक श्रमिक के लिये उचित हो सकती है वह दूसरे श्रमिक के लिये अपर्याप्त होगी । सांख्यशास्त्रियों (Statisticians) का कहना है कि पाँच व्यक्ति के परिवार के आधार पर न्यूनतम मजदूरी निश्चित करनी चाहिये; परन्तु यह आकार विवादास्पद है । भारत जैसे बड़े देश में सारे देश के लिये एक न्यूनतम मजदूरी निश्चित करना और भी कठिन है क्योंकि इस देश के भिन्न-भिन्न भागों में मजदूरों की उपभोग की आदतें भी भिन्न-भिन्न हैं और इसलिये पारिवारिक खर्चे भी भिन्न-भिन्न हैं ।

EXERCISES

1. What is meant by 'the marginal net product of labour' ? To what extent are wages determined by this product ? What influence does the standard of living have on the determination of wages ? Allad. U. B. A. 1949

2. Explain the marginal productivity theory of wages, and consider in this connection the case for minimum wages legislation. Allad. U. B. A. 1950

3. Distinguish between real and nominal wages. What factors would you take into consideration in determining real wages? At present in India nominal wages are high but real wages are low, Why? Allad. U. B. A. 1951

4. Consider whet er wages can be permanently increased by the action of trade unions. Allad. U. B. A. 1952

5. What are the factors which determine the wages of a particular class of workers? How far can trade unions raise wages per. manently. Agra U. B. A. 1953

6. "The normal forces of supply of demand do not always act freely on wages of labour." Explain the above statement, with special reference to Indian Conditions. Agra U. B. A. 1951

7. Distinguish between Real and Nominal wages. What factors would you take into consideration in determining real wages?

Under what conditions is it possible for the two to move in the opposite directions. Agra U. B. Com. 1952

8. State the subsistence theory of wages. How far has it been modified by the emergence of what is called the "Standard of living" among the working population?

Agra U. B. Com. 1950

9. What are the peculiarities of labour as a factor of production? How far wages are inflnenced by them? Rajputana U. B. A. 1951

10. Discuss the marginal productivity theory of wages. How far trade unions can influence the determination of wages.

Rajputana U. B. A. 1950

अध्याय ३०

ब्याज

(INTEREST)

ब्याज पूँजी का प्रतिफल है। पूँजी की अनेक प्रकार से परिभाषा की गई है। यहाँ हम केवल इस तथ्य को लेकर चलेंगे कि पूँजी उत्पादन का साधन है और उसके त्याग के प्रतिफल स्वरूप ब्याज दिया जाता है। इस अध्याय में पँजी से तात्पर्य द्राव्यिक पूँजी से है जिसे उधार दिया जाता है।

साधारणतया ब्याज के दो प्रकार बताये जाते हैं।

१. वास्तविक ब्याज (Net Interest) :

वास्तविक ब्याज में केवल पूँजी का प्रतिफल शामिल है। साधारणतया हम इसे ब्याज कहकर ही पुकारते हैं।

२. कुल ब्याज (Gross Interest) :

कुल ब्याज के अन्तर्गत वास्तविक ब्याज के अतिरिक्त अन्य अंश भी शामिल हैं। जैसे जोखिम का बीमा तथा प्रबन्धक की आय। प्रो० मार्शल ने रुपया उधार देने के जोखिम को दो भागों में बाँटा है:—

१. व्यापारिक जोखिम

२. व्यक्तिगत जोखिम

व्यापारिक जोखिम वस्तुओं के मूल्य गिर जाने या व्यापार में मन्दी आ जाने के कारण होती है। ब्याज की दर माँगते समय एक व्यक्ति इस जोखिम का भी ध्यान रखता है। ऐसी आर्थिक व्यवस्था में जहाँ जोखिम अधिक है उधार देने वाला अधिक ऊँची दर पर उधार देगा। अपेक्षाकृत कम जोखिम वाली स्थिति में ब्याज की दर भी कम होगी। ब्याज की दरों का यह अन्तर, यदि दोनों स्थितियाँ अन्य बातों में समान हैं, ब्याज में शामिल जोखिम का प्रतिफल बता रहा है।

व्यक्तिगत जोखिम भी ब्याज की दर पर असर डालते हैं। एक साहूकार एक व्यक्ति को ५ प्रतिशत पर ही उधार दे देगा यदि उसे विश्वास हो कि उसे रुपया नियत समय पर मिल जावेगा। यदि दूसरे व्यक्ति की साख उतनी अच्छी नहीं है तो उसे अपेक्षाकृत ऊँची दर पर ब्याज दिया जायगा। ब्याज की दर का यह अन्तर ब्याज में शामिल व्यक्तिगत जोखिम के प्रतिफल को स्पष्ट करता है।

व्यापारिक और व्यक्तिगत जोखिम प्रत्येक व्यक्ति के साथ भिन्न होते हैं इसलिए कुल ब्याज की दरों में भिन्नता होती है। कुल ब्याज की दरों में एक निश्चित ब्याज की दर के समान होने की प्रवृत्ति नहीं पाई जाती। वास्तविक ब्याज की दर, यदि पूँजी के बाजार में पूर्ण प्रतिस्पर्धा है, में एक ही दर के बराबर होने की प्रवृत्ति होती है। यदि किसी स्थान पर पूँजी की दर (ब्याज) अधिक हो तो पूँजी वहाँ आकर्षित होकर अपनी पूर्ति बढ़ा देगी और इस प्रकार वास्तविक दर लगभग समान ही रहेगी।

अब हम ब्याज के सिद्धान्तों का अध्ययन करेंगे।

ब्याज-निर्धारण के सिद्धान्त

माँग और पूर्ति का सिद्धान्त या क्लासिकल सिद्धान्त (Classical Theory of Interest)

इस सिद्धान्त के अनुसार ब्याज की दर बचत की माँग और पूर्ति पर निर्भर है। बचत पूँजी का ही दूसरा नाम है। जो कुछ बचत की जाती है उसका विनियोग (Investment) कर दिया जाता है। समाज में व्यक्ति अपनी आय का कितना भाग बचायेंगे यह ब्याज की दर पर निर्भर होता है तथा कितना रुपया उधार दिया जायगा यह भी ब्याज की दर पर निर्भर होता है। ब्याज की दर जितनी ऊँची होगी उतनी ही अधिक बचत की जायगी और ज्यों-ज्यों ब्याज की दर कम होती जायगी बचत भी कम की जायगी। इस प्रकार बचत की पूर्ति ब्याज की दर पर निर्भर है और ब्याज की दर घटने बढ़ने के साथ ही घटती बढ़ती है। बचत की माँग भी ब्याज की दर पर निर्भर है परन्तु पूर्ति के विपरीत यह ब्याज की दर बढ़ने के साथ घटती है तथा ब्याज की दर घटने के साथ बढ़ती है।

उपर्युक्त तर्क इस अनुमान पर आधारित है कि सारी बचत बाजार में प्रस्तुत कर दी जाती है तथा बचत विनियोग करने का एक मात्र साधन है। अतः एक दिये हुए समय में बचत की पूर्ति रेखा होती है जो यह दिखाती है कि ब्याज की विभिन्न दरों पर कितनी बचत उधार दी जायगी। इसी प्रकार दिये हुए समय में बचत की माँग-रेखा भी होती है जो यह दिखाती है कि ब्याज की विभिन्न दरों पर बचत की माँग कितनी होगी। बचत की माँग की रेखा दाहिनी ओर गिरती हुई होती है क्योंकि बचत की माँग उसके विनियोग की प्रत्युपलब्धि (Return) पर निर्भर है जो ह्रासमान प्रत्युपलब्धि नियम के कारण क्रमशः कम होती जाती है।

अतः यह कहा गया, कि ब्याज की दर माँग और पूर्ति की दशाओं पर निर्भर होती है तथा वहाँ निश्चित होती है जहाँ बचत की माँग और पूर्ति बराबर होती है। इसे ब्याज की सन्तुलन दर (Equilibrium Rate of Interest) भी कहते हैं। यह स्पष्ट है कि

माँग या पूर्ति की दशा में परिवर्तन होने पर ब्याज की दर बदल जायगी। नीचे दिये हुए चित्र इसे स्पष्ट कर रहे हैं।

पहले चित्र में बचत की माँग और पूर्ति की रेखाएँ जिस बिन्दु पर एक दूसरे को काटती है वही ब्याज की दर निश्चित होती है। इस चित्र में स स' ब्याज की
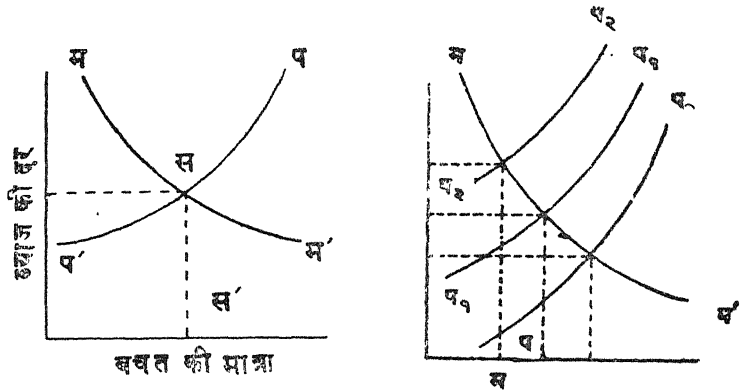
दर दिखा रही है। दूसरे और तीसरे चित्रों में माँग और पूर्ति के परिवर्तन स्वरूप ब्याज की दरों का परिवर्तन दिखाया गया है। दूसरे चित्र में माँग की रेखा पूर्ववत् है, परन्तु
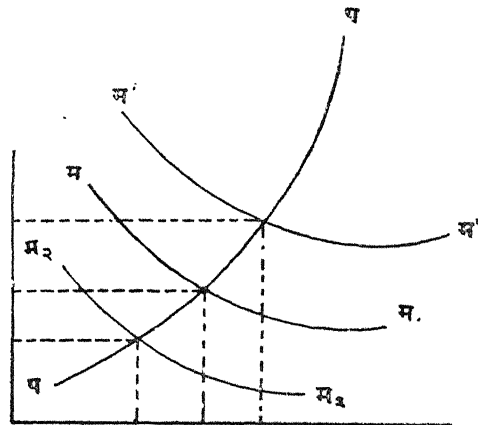
पूर्ति की रेखा में परिवर्तन होता है। जब पूर्ति बढ़ जाती है तो ब्याज की दर कम हो जाती है और जब पूर्ति घट जाती है तब ब्याज की दर बढ़ जाती है। इसी प्रकार तीसरे चित्र में पूर्ति की रेखा पूर्ववत् है। जब माँग बढ़ जाती है तब ब्याज की दर बढ़ जाती है और जब माँग घट जाती है तब ब्याज की दर घट जाती है।

क्लासिकल अर्थशास्त्रियों का विचार था कि ब्याज की दर सदैव धनात्मक होती है। वह शून्य या ऋणात्मक नहीं हो सकती। उनका कहना था कि जैसे ही ब्याज की दर कम होगी बचत की पूर्ति कम हो जायगी और माँग बढ़ जायगी। इसका परिणाम यह होगा कि ब्याज की दर शून्य होने से पहले ही ऐसी स्थिति आ जायगी कि बचत की माँग पूर्ति की अपेक्षा अधिक होगी और इसलिए ब्याज की दर शून्य नहीं हो सकेगी।

इस सिद्धान्त में हम पहले ही कह चुके हैं कि जो कुछ बचत, की जाती है उसका विनियोग कर दिया जाता है। यदि बचत में से कुछ भाग 'आसंचित' (Hoard) कर लिया जाता है तो वह बचत नहीं कहलायेगा क्योंकि उसका विनियोग नहीं किया जा रहा है। इसके अतिरिक्त 'आसंचित' धन से प्रत्यक्ष संतुष्टि (Direct Satisfaction) मिलती है। इसलिये वह उपभोग पदार्थ है। अत: क्लासिकल सिद्धान्त में 'आसंचित' धन (Hoardings) को बचत नहीं कहा गया है।

ब्याज की दर निश्चित करने का यह एक सही सिद्धान्त है। इसमें माँग और पूर्ति दोनों पक्षों पर यथोचित बल दिया गया है। अन्य सिद्धान्तों की भाँति यह एकांगी नहीं है। कुछ आधुनिक अर्थशास्त्री—लार्ड केन्स (Lord Keynes) और उनके अनुयायी—इस सिद्धान्त को दोषपूर्ण बताते हैं। उनका कहना है कि क्लासिकल सिद्धान्त में 'आसंचयन' भी बचत के अन्दर है। उनका यह कहना अशुद्ध है। केन्स के सिद्धान्त को स्पष्ट करते समय इस आलोचना पर अधिक विस्तार से विचार किया जायगा।

ब्याज का परिवर्जन या प्रतीक्षा सिद्धान्त (The Abstinence or Waiting Theory of Interest)

सीनियर (Senior) ने पूँजी को त्याग (Abstinence) कहा और प्रतीक्षा की ओर ध्यान आकर्षित किया। उसके अनुसार पूँजी-निर्माण के लिए वर्तमान उपभोग का त्याग आवश्यक था। यह त्याग कष्टप्रद होता है अत: ऐसे व्यक्तियों को उसका प्रति फल मिलना आवश्यक है। सीनियर के इस सिद्धान्त की आलोचना में कहा गया है कि अमीर व्यक्तियों को बचत करने में किसी भी प्रकार से वर्तमान उपभोग का त्याग नहीं करना होता। मार्शल ने इस कठिनाई को दूर करने के लिए 'प्रतीक्षा' (Waiting) शब्द का प्रयोग किया।

किसी भी शब्द का प्रयोग किया जाय, इस सिद्धान्त का महत्त्व इस बात में है कि वह ब्याज को त्याग से सम्बन्धित करता है। मार्क्सवादी विचार ब्याज को अनुचित ठहराते हैं क्योंकि उनके अनुसार ब्याज एक ऐसी आय है जिसके लिये पूँजी-पति कोई त्याग नहीं करता। सीनियर के सिद्धान्त ने यह स्पष्ट कर दिया कि ब्याज त्याग का प्रतिफल है और इसलिये न्यायोचित आय है।

इस सिद्धान्त का मुख्य दोष यह है कि यह केवल पूर्ति पक्ष को ही ध्यान में रखता है। पूँजी या बचत की पूर्ति अकेले ही ब्याज की दर निश्चित नहीं कर सकती। इसके लिए माँग पक्ष का होना भी आवश्यक है जिसकी कि इस सिद्धान्त में चर्चा भी नहीं की गई है।

सीमान्त उत्पादकता सिद्धान्त (Marginal Productivity Theory)

इस सिद्धान्त का आधार यह तथ्य है कि पूँजी की वृद्धि से एक श्रमिक अधिक मात्रा में उत्पादन कर सकता है। उत्पादन की इस वृद्धि में से कुछ भाग पूँजी देने वाले को मिलना चाहिए। लाडरडेल (Lauderdale) इस सिद्धान्त के प्रथम समर्थकों में से एक था। वान थूनेन (Von Thunen) का कहना था कि ब्याज की दर पूँजी की सीमान्त इकाई की उत्पत्ति द्वारा निश्चित होगी। यदि ब्याज की दर सीमान्त उत्पादकता से कम है तो पूँजी की माँग बढ़ जायगी और उसकी इतनी इकाइयाँ प्रयोग में आयेंगी कि पूँजी की सीमान्त उत्पत्ति और ब्याज की दर बराबर हो जायगी। यदि ब्याज की दर पूँजी की सीमान्त उत्पत्ति से अधिक है तो पूँजी की इतनी इकाइयाँ प्रयोग से हटा दी जायगी ताकि पूँजी की सीमान्त उत्पत्ति और ब्याज की दर फिर से बराबर हो जाय। वान थूनेन का यह सिद्धान्त ह्रासमान प्रत्युपलब्धि नियम को सामान्य उत्पादकता के विचार (General Productivity Idea) में लागू करने का परिणाम था।

यह सिद्धान्त ब्याज की दर की धनात्मकता की पुष्टि करता है; ब्याज की दर सीमान्त उत्पादकता के बराबर होगी और सीमान्त उत्पादकता शून्य या ऋणात्मक नहीं हो सकती। इसलिए ब्याज की दर भी शून्य या ऋणात्मक नहीं हो सकती।

यह सिद्धान्त भी एकांगी हैं। इसमें केवल माँग पक्ष पर विचार किया गया है। यह सच है कि सन्तुलन की स्थिति में ब्याज की दर पूँजी की सीमान्त उत्पादकता और सीमान्त त्याग के बराबर होगी; परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि ब्याज की दर केवल सीमान्त उत्पादकता द्वारा निश्चित हो जायगी।

ब्याज का ऑस्ट्रियन सिद्धान्त (The Austrian or Agio or Preference Theory of Interest)

बॉम-बावर्क (Bohm-Bawerk) एक ऑस्ट्रियन अर्थशास्त्री था जिसने ब्याज के उत्पादकता और समय अधिमान (Time Preference) सिद्धान्तों का मेल (Synthesis) किया। उस समय के सिद्धान्तों के परिश्रम पूर्ण वर्णन और आलोचनाओं के बाद उसने अपना सिद्धान्त प्रतिपादित किया।

बॉम-बावर्क का कहना था कि मनुष्य साधारणतया वर्तमान को भविष्य की अपेक्षा अधिक पसन्द करता है, यद्यपि व्यक्ति के चरित्र, वातावरण की सुरक्षा आदि का इस पर अद्भुत प्रभाव पड़ता है। उसने इसके आर्थिक और मनोवैज्ञानिक कारण भी दिये।

१. मनोवैज्ञानिक कारण

(अ) मनुष्य स्वभाव से ही वर्तमान की अपेक्षा भविष्य का कम मूल्यांकन करता है क्योंकि भविष्य अनिश्चित है।

(ब) भविष्य की आवश्यकता की अपेक्षा वर्तमान की आवश्यकता अधिक तीव्र होती है। इसलिए भी मनुष्य वर्तमान सन्तुष्टि को अधिक चाहता है।

२. आर्थिक कारण

बाँम-बावर्क का कहना था कि पूँजी का कार्य श्रम की उत्पादकता को बढ़ाना है। जो वस्तु आज बनाई जायगी उसका अर्घ इस समय अधिक होगा क्योंकि उसकी उत्पादन लागत आज अधिक है। भविष्य में पूँजी के संयोग से श्रम की उत्पादकता अधिक हो जायगी तथा वस्तु की लागत कम हो जायगी। बॉम-बावर्क के इस कारण की बहुत अधिक आलोचना की गई है।

उपर्युक्त कारणों से मनुष्य भविष्य की अपेक्षा वर्तमान में सन्तुष्टि अधिक पसन्द करता है। इसी कारण भविष्य तक प्रतीक्षा करने के बजाय मनुष्य वस्तुओं का वर्तमान समय में प्रयोग करने के लिये अधिक देने को तैयार हो जाते हैं और जो वर्तमान प्रयोग को त्यागने के लिए तैयार होते हैं उन्हें क्षति-पूर्ति (Compensation) मिलती है। इसके अतिरिक्त दूसरी मुख्य बात पूँजी की ह्रासमान उत्पादकता है। ब्याज की दर वहीं निश्चित होगी जहाँ भविष्य की तुलना में वर्तमान के लिए किया हुआ भुगतान पूँजी की सीमान्त इकाई की उत्पादकता के बराबर हो। यह सिद्धान्त वान थूनेन के सिद्धान्त से कुछ अधिक भिन्न नहीं है। केवल इसमें पूँजी की माँग का विश्लेषण समय अधिमान सिद्धान्त के अनुसार किया गया है।

फिशर का समय-अधिमान सिद्धान्त (Fisher's Time Preference Theory)

बॉम-बावर्क के सिद्धान्त का परिवर्तन और परिशोधन बहुत बड़ी मात्रा में हुआ है। उसका समर्थन प्रो० फिशर जैसे अर्थशास्त्री ने किया है। यद्यपि प्रो० फिशर ने भिन्न भाषा का प्रयोग किया है परन्तु मूलतः उनका विचार बाँम-बावर्क से भिन्न नहीं है। फिशर के सिद्धान्त को समझने से पूर्व समय अधिमान को समझ लेना आवश्यक है। समय अधिमान से तात्पर्य यह है कि मनुष्य वर्तमान को भविष्य की अपेक्षा अधिक पसन्द करता है। इसी कारण वर्तमान के अस्सी रुपये उसके एक साल बाद प्राप्त सौ रुपये के बराबर हो सकते हैं। यदि ऐसा है तो अस्सी रुपये पर उसका समय-अधिमान बीस रुपये अर्थात् २५% है। यह उसके समय अधिमान की दर है।

फिशर के अनुसार ब्याज की दर तब निश्चित होती है जब उधार लेनेवाले के लिये पूँजी की सीमान्त उपयोगिता (माँग-पक्ष)—जो समय अधिमान तथा सीमान्त

उत्पादकता से मिलकर बनी है—उधार देनेवाले के समय अधिमान तथा विनियोग के अवसरों के त्याग के अन्दाज (पूर्तिपक्ष) के बराबर होती है।

उधार लेनेवाले के लिए पूँजी की सीमान्त उपयोगिता को यदि हम उसके समय-अधिमान की दर से दिखायें तथा उधार देनेवाले का सीमान्त त्याग उसके समय-अधिमान की दर से दिखाये तो फिशर के सिद्धान्त के अनुसार ब्याज की दर इस प्रकार निश्चित होगी।

पूँजी की इकाइयाँ	उधार लेने वाले का समय-अधिमान	उधार देने वाले का समय-अधिमान
१०	१०%	१%
२०	८%	१½%
३०	६%	३
४०	५%	५%

यहाँ पर ब्याज की दर ५ प्रतिशत होगी और ४० इकाइयाँ उधार दी जायँगी। उधार देनेवाला ज्यों-ज्यों अधिक पूँजी देगा उसका समय-अधिमान (विनियोग के अन्य अवसरों के अन्दाज के साथ) बढ़ता जायगा। उधार लेनेवाले के लिए ज्यों-ज्यों वह अधिक पूँजी उधार लेगा उसका समय-अधिमान (पूँजी की ह्रासमान सीमान्त उत्पादकता के साथ) घटता जायगा। ब्याज की दर वहाँ निश्चित होगी जहाँ दोनों के समय-अधिमान बराबर होंगे।

इस सिद्धान्त के विरुद्ध एक सामान्य आलोचना यह है कि उधार देने और लेने के मनोवैज्ञानिक कारणों को सही सही नहीं जाना जा सकता। यद्यपि इस विषय पर कुछ अनुमान किये जा सकते हैं परन्तु एक सिद्धान्त के निर्माण के लिए वे अपर्याप्त होंगे। इसके अतिरिक्त इस अनुमान के, कि मनुष्य भविष्य की अपेक्षा वर्तमान को अधिक पसन्द करता है, अनेक अपवाद हैं।

यह सिद्धान्त तभी सच हो सकता है जबकि द्रव्य की क्रय शक्ति और मनुष्य की परिस्थितियों में कोई परिवर्तन न हो। यदि द्रव्य की क्रय शक्ति भविष्य में बढ़ जायगी तो मनुष्य वर्तमान के बजाय भविष्य को अधिक पसन्द करेगा। व्यवहार में यह दोनों अनुमान सही नहीं उतरते। इसलिये यह एक अव्यावहरिक सिद्धान्त है।

तरलता-अधिमान सिद्धान्त (Liquidity Preference Theory)

केन्स (Keynes) का यह सिद्धान्त आधुनिक सिद्धान्त कहा जाता है। इन्होंने ब्याज के क्लासिकल सिद्धान्त की बड़ी कटु आलोचना की है। क्लासिकल सिद्धांत और केन्स के सिद्धान्त की तुलना इस सिद्धान्त को स्पष्ट करने के बाद की जायगी।

केन्स के अनुसार ब्याज की दर द्रव्य की माँग और पूर्ति पर निर्भर होती है। द्रव्य की माँग तरलता-अधिमान द्वारा निश्चित होती है तथा पूर्ति बैंकिंग व्यवस्था

जायगा; अर्थात् ऊँची ब्याज की दर मिलने पर उसका तरलता अधिमान कम हो जायगा। इसी प्रकार यदि उसे बहुत कम ब्याज दिया जायगा तो वह अधिक रुपया उधार नहीं देगा, द्रव्य को तरल रूप में रखना अधिक पसन्द करेगा अर्थात् ब्याज की दर कम होने पर तरलता-अधिमान बढ़ जायगा। इस प्रकार ब्याज की दर और तरलता-अधिमान की गति एक दूसरे के विपरीत होती है। जब ब्याज की दर बढ़ती है तो तरलता-अधिमान कम हो जाता है और जब ब्याज की दर घटती है तो तरलता अधिमान बढ़ जाता है। तरलता-अधिमान के यह परिवर्तन मुख्यतया तरल द्रव्य रखने के तीसरे कारण—भविष्य में लाभ की आशा—से प्रभावित होते हैं। ब्याज की ऊँची दर मिलने पर भविष्य में अधिक लाभ की आशा बहुत कम रह जाती है। इसलिये तीसरे कारण की वजह से संचित तरल द्रव्य को त्यागने के लिए वह प्रस्तुत हो जाता है और तरलता-अधिमान कम हो जाता है। इसी प्रकार ब्याज की दर नीची होने पर भविष्य में अधिक लाभ की आशा से एक व्यक्ति द्रव्य को तरल रूप में रखना अधिक पसन्द करता है अर्थात् तरलता-अधिमान बढ़ जाता है।

हमने एक अति साधारण उदाहरण लेकर यह दिखाने की चेष्टा की है कि तरलता-अधिमान किन बातों पर निर्भर है तथा ब्याज की दर से किस प्रकार सम्बन्धित है। एक व्यवसायिक समाज में उपर्युक्त कारणों से सारे समाज की तरल द्रव्य की माँग बहुत अधिक होती है। यदि हम विभिन्न ब्याज की दरों पर तरलता-अधिमान की एक सारिणी बनायें तो हमें तरलता अधिमान की रेखा मिल जायगी जो द्रव्य की माँग दिखायेगी।
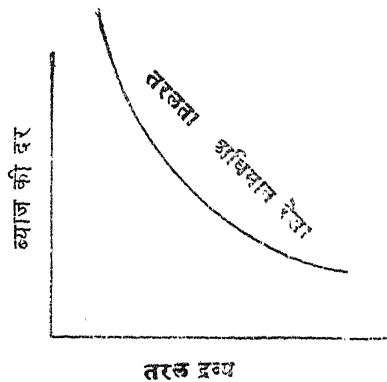
चित्र अ

उपर्युक्त चित्र द्रव्य की माँग की रेखा दिखा रहा है।

एक व्यवसायिक समाज में उपर्युक्त तीन प्रेरकों के कारण तरल द्रव्य की माँग बहुत अधिक होती है। तरल द्रव्य की माँग पूर्ति से अधिक नहीं हो सकती। ब्याज की दर तरल द्रव्य की माँग और पूर्ति बराबर कर देती है।

पूर्ति-पक्ष (The Supply Side)

द्रव्य की पूर्ति बैंकिंग व्यवस्था द्वारा निश्चित होती है। एक दिये हुए समय में द्राव्यिक मुद्रा, बैंक नोट आदि मिलकर द्रव्य की पूर्ति बनाते हैं। द्रव्य की यह पूर्ति
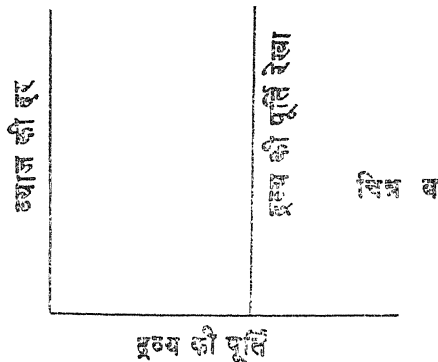
ब्याज की दर से प्रभावित नहीं होती। ब्याज की दर कम या अधिक होने पर बैंकिंग व्यवस्था द्रव्य का परिमाण न तो घटाती ही है और न बढ़ाती ही है। अतः द्रव्य की पूर्ति रेखा एक शीर्ष रेखा होती है जिस पर ब्याज के परिवर्तन का कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

चित्र अ और ब द्रव्य की माँग और पूर्ति दिखाते हैं। इन दोनों चित्रों को एक ही चित्र में प्रस्तुत करने पर हमें ब्याज की दर मालूम हो जायगी।
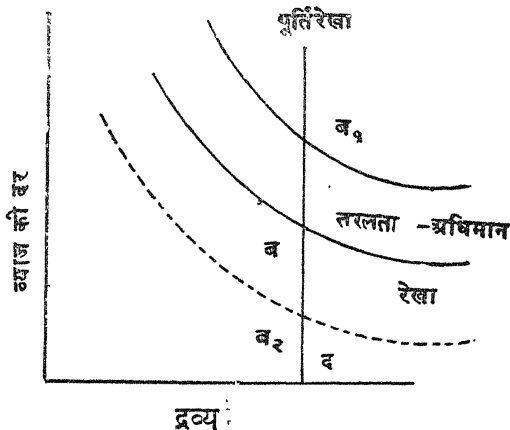
उपर्युक्त चित्र में द्रव्य की माँग और पूर्ति की रेखाय एक दूसरे को ब बिन्दु पर काटती हैं। ब द ब्याज की वह दर है जिस पर द्रव्य की माँग और पूर्ति बराबर हो जाती है। इस चित्र से यह बात भी स्पष्ट है कि ब्याज की दर में परिवर्तन मुख्यतया माँग

की ओर से होता है क्योंकि द्रव्य की पूर्ति समान रहती है। यदि द्रव्य की माँग बढ़ जाती है तो ब्याज की दर भी बढ़ जायगी और यदि द्रव्य की माँग घट जाती है तो ब्याज की दर भी घट जायगी। $ब_1$ द तथा $ब_2$ द माँग के बढ़ने और घटने पर ब्याज की बढ़ी और घटी हुई दर को दिखा रही है।

द्रव्य की माँग में परिवर्तन मुख्यतया पूर्वकल्पी प्रेरकों के कारण होते हैं। पूर्वकल्पी प्रेरक भविष्य की अनिश्चयता के कारण होते है। यह अनिश्चयता ब्याज की दरों के परिवर्तन के कारण होती है। अनिश्चयता प्रवैगिक दशा का लक्षण है। अतः केन्स का दावा है कि उसने एक प्रवैगिक सिद्धान्त (Dynamic Theory) का प्रतिपादन किया है।

केन्स के सिद्धान्त की श्रेष्ठता (Superiority of Keynes' Theory)

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है केन्स का सिद्धान्त प्रवैगिक दशा से सम्बन्धित है। इसके अतिरिक्त ब्याज की दर और तरलता-अधिमान का सही सम्बन्ध, केन्स का दावा है, इसी सिद्धान्त में दिखाया गया है। ब्याज की दर और पूर्ति के जिस सम्बन्ध को क्लासिकल अर्थशास्त्रियों ने दिखाया था वह त्रुटिपूर्ण है। केन्स का कहना है कि उसका सिद्धान्त इस दृष्टिकोण से भी त्रुटिहीन है; ब्याज की दर और द्रव्य की पूर्ति का कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है जैसा कि पूर्ति की शीर्ष रेखा ज्ञात होता है। पूर्ति की रेखा के अनुसार ब्याज की दर घटने-बढ़ने से पूर्ति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

आलोचना

केन्स के सिद्धान्त की आलोचना भी की गई है। द्रव्य की पूर्ति से उनका क्या तात्पर्य है, यह स्पष्ट नहीं है। एक स्थान पर उन्होंने लिखा है कि साख (credit) द्रव्य के अन्तर्गत है परन्तु रोबर्टसन (Robertson) से वाद-विवाद में उन्होंने कहा है कि उनका सिद्धान्त साख की माँग और पूर्ति पर ध्यान नहीं देता।

केन्स का सिद्धान्त एक बन्द आर्थिक व्यवस्था (Closed Economy) में ही लागू होता है; परन्तु ब्याज की दर विदेशों से उधार के लेन-देन से प्रभावित होती है जिस पर केन्स ने विचार नहीं किया है।

केन्स का सिद्धान्त केवल ऐसी आर्थिक व्यवस्था में लागू हो सकता है जहाँ द्रव्य का प्रचलन हो। यदि अदल-बदल (Barter) की प्रथा का प्रचलन हो तो केन्स का सिद्धान्त लागू नहीं होगा। अदल-बदल की प्रथा के समय में भी पूँजी का होना अवश्यम्भावी है और इसलिये ब्याज का होना भी। अतः केन्स का सिद्धान्त संकुचित है।

केन्स के सिद्धान्त से यह स्पष्ट हो गया होगा कि ब्याज की दर मुख्यतया द्रव्य की माँग से ही प्रभावित होती है। इस प्रकार यह सिद्धान्त एकांगी है।

तरलता अधिमान और क्लासिकल सिद्धान्त की तुलना

जहाँ तक माँग पक्ष का सवाल है, दोनों सिद्धान्त समान हैं। दोनों सिद्धान्तों में माँग की रेखा दाहिनी ओर गिरती हुई है। दोनों ही सिद्धान्तों में माँग पूँजी की उत्पादकता पर निर्भर है। केन्स ने कहा भी है कि संस्थिति की दशा में पूँजी की सीमान्त क्षमता (Marginal Efficiency of Capital) बाजार की ब्याज-दर के बराबर होती है। दोनों सिद्धान्तों का मुख्य भेद पूर्ति पक्ष में है।

क्लासिकल सिद्धान्त के अनुसार पूँजी की पूर्ति का ब्याज की दर से सीधा-सीधा सम्बन्ध है जबकि केन्स के सिद्धान्त में ब्याज की दर और पूँजी की पूर्ति का कोई सम्बन्ध नहीं है। क्लासिकल सिद्धान्त में पूँजी की रेखा दाहिनी ओर ऊपर उठती हुई होती है तथा केन्स के सिद्धान्त में एक शीर्ष रेखा होती है जो इस बात को स्पष्ट करती है कि ब्याज की दर का पूँजी की पूर्ति पर कोई प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं है।

केन्स का कहना है कि क्लासिकल अर्थशास्त्रियों के अनुसार सारी बचत ब्याज की दर निश्चित करती है। इस बचत में 'आसंचयन' (Hoarding) भी शामिल है जिसमें तरलता का त्याग नहीं है। क्लासिकल सिद्धान्त की यह अशुद्धता भ्रमपूर्ण है। हम पहले ही कह चुके हैं कि क्लासिकल सिद्धान्त में जितनी भी बचत होती है उसका विनियोग कर दिया जाता है। 'आसंचयन' का विनियोग नहीं होता अतः वह बचत के अन्तर्गत नहीं है। केन्स ने क्लासिकल अर्थशास्त्रियों के बचत के विचार को गलत समझ लिया।

ब्याज की शून्य और ऋणात्मक दर (Zero and Negative Rate of Interest)

क्लासिकल सिद्धान्त और उत्पादकता सिद्धान्त का अध्ययन करते समय हम कह चुके हैं कि ब्याज की दर कभी शून्य या ऋणात्मक नहीं हो सकती। मार्शल ने फोक्सवैल (Foxwell) के बैंकर्स मैगजीन (Banker's Magazine) में दिये हुए विचार की चर्चा करते हुए कहा है कि ब्याज की दर ऋणात्मक भी हो सकती है। उदाहरण देते हुए वह कहते हैं कि एक बैंक प्रारम्भ में पूँजी जमा करने पर, मान लीजिये ३ प्रतिशत ब्याज देता है। यदि जमा करने के लिए पूँजी धीरे धीरे बहुत अधिक हो जाय तो बैंक ब्याज की दर घटा देंगे और एक ऐसी भी स्थिति आयेगी जब बैंक जमा की हुई पूँजी पर जमा करने वालों से कुछ न कुछ ब्याज जरूर लेंगे। इस स्थिति में ब्याज की दर ऋणात्मक है क्योंकि पूँजी जमा करने पर ब्याज मिलने के बजाय देना पड़ता है। यह एक भूल है क्योंकि जमा की हुई पूँजी के लिए हम जो रकम बैंक को देते हैं वह पूँजी को सुरक्षा से रखने के लिए दिया हुआ प्रतिफल (Wages for superintendence) है। पूँजी एक उत्पादन का साधन है और उत्पा-

दक (Productive) है। ब्याज पूँजी का प्रतिफल है अतः वह ऋणात्मक या शून्य नहीं हो सकता।

प्रो० फिशर के अनुसार भी ब्याज की दर ऋणात्मक हो सकती है। उन्होंने ताजे—अन्जीरों का उदाहरण दिया है। यदि ताजे अन्जीरों को सुरक्षा से रखने का प्रबन्ध न हो और एक दिन में उनमें से ५० प्रतिशत खराब हो जायँ तो ऐसी स्थिति में एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को दस अन्जीर इस शर्त पर देने को तैयार हो जायगा कि अगले दिन वह उसे केवल पाँच अन्जीर ही वापस करे। दस अन्जीर के बदले में वह पाँच अन्जीर लेने को तैयार है अर्थात् ब्याज की दर ऋणात्मक है।

फिशर का यह उदाहरण भ्रमपूर्ण है क्योंकि इसमें अन्जीरों के नष्ट होने की सम्भावना का हस्तांतरण (Transfer) ही हुआ है। वास्तव में फिशर एक ऐसा उदाहरण ढूंढ़ने का प्रयत्न करते हैं जहाँ पूँजी की उत्पादकता ऋणात्मक या शून्य हो जो कि असम्भव है। यदि हम उत्पादकता को स्थूल पदार्थों के अलावा सन्तुष्टि या उपयोगिता के रूप में देखें तो इस प्रकार के भ्रम दूर हो जायेंगे। एक व्यक्ति भविष्य में वर्तमान के बराबर या उससे कम वस्तु तभी स्वीकार कर सकता है जबकि भविष्य में उस वस्तु से वर्तमान की अपेक्षा अधिक सन्तुष्टि हो। ब्याज इन सन्तुष्टियों का अन्तर है जो सदैव धनात्मक होगा।

EXERCISES

1. What is Liquidity Preference Theory of interest ? Indicate its relation to the supply and demand of Capital.
Allad. U. B. A. 1948

2. Write a short note on—"Liquidity Preference."
Agra U. B. A. 1953

3. Distinguish between Net and Gross interest. How is Net Interest determined.
Agra U. B. A. 1950

4. Distinguish between Net and Gross Interest. What are the factors which determine the Rate of Interest in a country ? Explain fully.
Agra U. B. A. 1952

5. "Interest is the reward for pure Waiting. It is the price of the use of Capital for a given period and as such its rate is determined by the demand for and the supply of Capital." Explain and amplify this statement.
Agra U. B. Com. 1950

6. Discuss the Abstinence Theory of Interest and explain the influence of the Rate of Interest and Social Customs on the growth of Capital. Give Indian illustrations wherever possible.

Rajputana U. B. A. 1949

7. Explain the meaning of "Liquidity Preference." Show how interest is determined.
Allad. U. B. Com. I 1950

अध्याय ३१

लाभ

(PROFIT)

लाभ की व्याख्या अनेक प्रकार से की गई है। इस विभिन्नता का मुख्य कारण लाभ को उत्पादन के साधन तथा साधक दोनों के साथ सम्बन्धित करना है। मोटे तौर पर लाभ के बारे में व्यक्त किये गये इन विभिन्न विचारों को हम दो वर्गों में विभाजित कर सकते हैं।

१. लाभ के सम्बन्ध में वह धारणायें जो उसे उत्पादन के साधक से सम्बन्धित करती हैं। प्राचीन अर्थशास्त्री इसी परम्परा के हैं।

२. लाभ के सम्बन्ध में वह धारणायें जो उसे उत्पादन के साधन का प्रतिफल मानती हैं तथा उसे एक ही उत्पादन के साधन से सम्बन्धित करती हैं।

यह ध्यान में रखना चाहिये कि पहली विचारधारा लाभ को उत्पादन के साधक से सम्बन्धित करती है और उत्पादन के साधक एक से अधिक उत्पादन के साधनों के माध्यम होते हैं। लाभ का सम्बन्ध साहसोद्यम (enterprise) (जो कि एक उत्पादन का साधन है) से है। वह व्यक्ति जो इस साधन का साधक है और जिसे हम साहसोद्यमी कहते हैं, संगठन और पूँजी का भी साधक हो सकता है और होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि एक ही व्यक्ति संगठन, साहसोद्यम आदि का साधक हो सकता है। अत: जब हम लाभ को उस व्यक्ति से सम्बन्धित करके देखते हैं तो लाभ के अन्तर्गत साहसोद्यम, संगठन, पूँजी आदि के प्रतिफल भी सम्मिलित हो जाते हैं। इसलिये पहली विचारधारा में लाभ के कई प्रकार हो जाते हैं। दूसरी विचारधारा में यह सम्भव नहीं है। वहाँ लाभ साहसोद्यम मात्र का प्रतिफल है।

पहली विचारधारा के अनुसार लाभ को निम्न मुख्य वर्गों में विभाजित किया गया है।

१. कुल लाभ (Gross Profit)

२. वास्तविक लाभ (Net Profit)

३. शुद्ध लाभ (Pure Profit)

४. सामान्य लाभ (Normal Profit)

५. अतिरिक्त लाभ (Surplus Profit)

१. कुल लाभ

जिस व्यक्ति को हम साहसोद्यमी कहते हैं वह जोखिम उठाने के अतिरिक्त संगठन का भी कार्य करता है। इसके अतिरिक्त वह अपनी निजी पूँजी भी लगा सकता है। उत्पादन के कार्य में इस व्यक्ति के अतिरिक्त वेतन पाने वाले कर्मचारी मजदूर आदि भी योग देते हैं। इन कर्मचारियों का वेतन, मजदूरी, तथा पूँजीपतियों को दिया हुआ ब्याज घटा देने पर जो कुछ शेष बचता है वह कुल लाभ है। यह कुल लाभ अनेक अंशों से मिलकर बना हैं। नीचे हम इनका विश्लेषण करेंगे।

१. कुल लाभ के अन्तर्गत साहसोद्यम का प्रतिफल अर्थात् शुद्ध लाभ सम्मिलित है।

२. इसके अन्तर्गत उस व्यक्ति द्वारा किए हुए संगठन का प्रतिफल भी शामिल है जिसे सामान्य लाभ कहा जाता है।

३. आकस्मिक लाभ (Surplus Profit) भी इसी के अन्तर्गत है।

४. इस व्यक्ति द्वारा लगाई हुई पूँजी का प्रतिफल भी इसी में शामिल है।

५. उस व्यक्ति को भूमि (Land) से प्राप्त लगान (rent) भी इसी के अन्तर्गत है।

६. यदि उसने कुछ श्रम भी किया है तो उसका प्रतिफल भी इसी के अन्तर्गत है।

इसके अतिरिक्त उस व्यक्ति को प्राप्त एकाधिकार का लाभ भी कुल लाभ में शामिल है। जहाँ तक इन विभिन्न अंशों को निश्चित करने का प्रश्न है अर्थात् किस अंश का प्रतिफल कितना होना चाहिये, यह बहुत ही सरल है। श्रम, पूँजी, संगठन का प्रतिफल तथा भूमि का लगान सभी कुल लाभ के अन्तर्गत है। उस व्यक्ति को प्राप्त उपर्युक्त प्रतिफल तथा लगान, उन्हीं विधियों से निश्चित किये जायेंगे जिनकी चर्चा हम लगान, मजदूरी, तथा ब्याज के अध्याय में कर चुके हैं।

वास्तविक लाभ

साहसोद्यमी की कुल आय (लाभ) में से श्रम और पूँजी के प्रतिफल को घटा देने से जो कुछ बचता है वह वास्तविक लाभ है। प्राचीन अर्थशास्त्री वास्तविक लाभ में साहसोद्यमी की निजी पूँजी का प्रतिफल भी सम्मिलित कर लेते थे। आधुनिक अर्थशास्त्री ऐसा नहीं करते, उनके लिये साहसोद्यमी तथा पूँजीपति दो भिन्न व्यक्ति या एक ही व्यक्ति के दो भिन्न व्यक्तित्व हैं।

शुद्ध लाभ

केवल साहसोद्यम के प्रतिफल को शुद्ध लाभ कहते हैं। हम ऊपर कह चुके हैं कि जो व्यक्ति जोखिम उठाता है, वह अन्य साधनों का साधक भी होता है और इसलिये उसकी आय में अन्य साधनों के प्रतिफल भी होते हैं। शुद्ध लाभ के अन्तर्गत केवल साहसोद्यम का प्रतिफल आता है अन्य साधनों का प्रतिफल नहीं आता।

सामान्य लाभ

साहसोद्यमी को प्रबन्ध या संगठन के बदले जो प्रतिफल मिलता है वह सामान्य लाभ है। इसे प्रबन्धक की आय (Earnings of Management) भी कहते हैं। जैसा कि आगे चलकर विदित होगा सामान्य लाभ स्थैतिक दशा में भी प्राप्त होते हैं जब कि शुद्ध लाभ लुप्त हो जाते हैं।

अतिरिक्त लाभ

आकस्मिक लाभ को अतिरिक्त लाभ कहते हैं।

उपर्युक्त वर्गीकरण से यह स्पष्ट हो गया होगा कि कुल लाभ में सहसोद्यमी को प्राप्त सभी प्रकार की आयें सम्मिलित कर दी गई हैं। वास्तव में लाभ साहसोद्यम का प्रतिफल है अतः उसके अन्दर संगठन आदि के प्रतिफल नहीं सम्मिलित होने चाहिए। पहली विचारधारा के अर्थशास्त्रियों ने लाभ को उस व्यक्ति से सम्बन्धित करके देखा है जो साहसोद्यमी है और इसके अतिरिक्त अन्य साधनों का साधक भी। इस व्यक्ति की आय में साहसोद्यम के अतिरिक्त अन्य साधनों के प्रतिफल भी शामिल हैं जिन्हें इन अर्थशास्त्रियों ने लाभ का ही विभिन्न रूप माना है उदाहरणार्थ सामान्य लाभ आदि। यह नितान्त अशुद्ध है।

लाभ साहसोद्यम का प्रतिफल है। हम एक व्यक्ति के साहसोद्यम के प्रतिफल को ही लाभ कहेंगे, भले ही उस व्यक्ति को अन्य कितनी ही आय क्यों न प्राप्त हो। साहसोद्यम, अनिश्चयता—वहन या 'अनजाने जोखिम' उठाने में होता है। 'अनजाने जोखिम' की प्रकृति को हम 'संगठन और साहसोद्यम' के अध्याय में स्पष्ट कर चुके हैं। आधुनिक अर्थशास्त्री उदाहरणार्थ प्रो० नाइट लाभ को इन्हीं 'अनजाने जोखिम' उठाने का प्रतिफल मानते हैं।

'अनजाने जोखिम' प्रवैगिक दशा (Dynamic State में होते हैं क्योंकि इस स्थिति की मुख्य विशेषता परिवर्तन है और यह परिवर्तन भविष्य को अनिश्चित बना देते हैं जिसके कारण अनिश्चयता-वहन आवश्यक हो जाता है। स्थैतिक दशा में भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों ही एक से रहते हैं अतः इस दशा में लाभ नहीं प्राप्त होगा। प्राचीन अर्थशास्त्रियों की भाषा में जिसे शुद्ध लाभ कहा गया है वही आधुनिक अर्थशास्त्रियों की भाषा में लाभ है और प्रवैगिक दशा से सम्बन्धित है। आधुनिक अर्थशास्त्रियों के अनुसार स्थैतिक दशा में कोई लाभ नहीं होता; परन्तु प्राचीन अर्थशास्त्री इस दशा में सामान्य लाभ की उपस्थित मानते हैं। यह सामान्य लाभ (Earnings of Management) आधुनिक अर्थशास्त्रियों के लिये लाभ न होकर प्रबन्ध या संगठन (Management) का प्रतिफल है। उसका साहसोद्यम से कोई सम्बन्ध ही नहीं है।

संक्षेप में आधुनिक विचारधारा के अनुसार लाभ केवल साहसोद्यम का प्रतिफल है। साहसोद्यमी की अन्य आय लाभ या लाभ के अन्य रूप नहीं हो सकती। साहसोद्यम एक उत्पादन का साधन है और उसका प्रतिफल ---लाभ---उत्पादक की लागत है, अतिरिक्त नहीं।

अभी तक हमने लाभ के वर्गीकरण पर प्राचीन और आधुनिक अर्थशास्त्रियों के दृष्टिकोण से विचार किया है। लाभ निश्चित करने के सिद्धान्तों पर विचार करने से पूर्व हम प्रो० मार्शल के लाभ सम्बन्धी एक व्यवहारिक वर्गीकरण को भी स्पष्ट कर देना चाहते हैं।

एक व्यक्ति कुछ पूँजी लगाकर ही रोजगार आरम्भ करता है। इस रोजगार से उसे प्रतिवर्ष कुछ लाभ होता है। लगाई हुई पूँजी पर हुए इस लाभ को प्रतिशत के रूप में भी देखा जा सकता है। प्रो० मार्शल ने इसे 'पूँजी पर वार्षिक लाभ की दर' (annual rate of profits on capital) कहा है। इसके अतिरिक्त रोजगार में लाभ की दर पूँजी के प्रत्यावर्तन पर (Turnover) भी होती है जो पहली लाभ की दर से एक दम भिन्न हैं : यदि एक व्यक्ति ५००) रुपये लगाकर रोजगार आरंभ करता है और तीन महीने बाद इस रोजगार में लगाई हुई रकम लौट आती है तब वह फिर से ५००) रुपये लगायेगा और यह क्रम इसी तरह चलता रहेगा। प्रत्येक तीन महीने बाद पूँजी का प्रत्यावर्तन होता है और इस प्रत्यावर्तन पर उसे कुछ लाभ होता है। इस लाभ के प्रतिशत को प्रो० मार्शल ने प्रत्यावर्तन पर लाभ की दर (Rate of Profits on Turnover) कहा है। इस प्रकार प्रो० मार्शल के अनुसार लाभ की दर दो प्रकार की होती हैं :

१. पूँजी पर वार्षिक लाभ की दर (Annual Rate of Profits on Capital)
२. प्रत्यावर्तन पर लाभ की दर (The Rate of Profits on the Turnover)

इन दोनों लाभ की दरों के बारे में प्रो० मार्शल का कहना है कि वार्षिक लाभ की दर की अपेक्षा प्रत्यावर्तन पर लाभ की दर में कहीं अधिक परिवर्तन होते हैं। (The rate of profits on the turnover varies much more widely than the annual rate of profits on the capital) यह बात स्पष्ट ही है क्योंकि प्रत्यावर्तन पर लाभ की दर उसके (प्रत्यावर्तन) लिये आवश्यक समय तथा कार्य पर निर्भर है। यह व्यवसाय की एक शाखा में बदलती जाती है। थोक व्यापारियों का उदाहरण लीजिये। यह लोग एक एक सौदे (Transaction) में बहुत बड़ी मात्रा में क्रय-विक्रय करते हैं और इस प्रकार इनकी पूँजी का प्रत्यावर्तन बड़ी तेजी से होता है। इनके प्रत्यावर्तन को लाभ की दर भले ही १% हो परन्तु इनका लाभ बहुत होता है। यह बात स्टाक-एक्सचेंज (Stock-Exchange) के व्यापार के सम्बन्ध में भी उतनी

ही लागू होती है। यहाँ भी प्रत्यावर्तन के लाभ की दर भले ही १% से भी कम हो परन्तु लाभ बहुत अधिक होता है। इन उदाहरणों में प्रत्यावर्तन के लाभ की दर बहुत कम थी, क्योंकि पूँजी का प्रत्यावर्तन कई बार होता था ऐसे व्यवसायों में जहाँ पूँजी का प्रत्यावर्तन इतनी शीघ्रता से नहीं होता प्रत्यावर्तन की लाभ की दर काफी ऊँची होती है। उदाहरण के लिए एक जहाज निर्माण करने वाले के प्रत्यावर्तन के लाभ की दर कहीं अधिक होगी। कपड़े के व्यवसाय में कुछ फर्म कच्चा माल खरीद कर तैयार माल बनाती हैं और कुछ अन्य फर्म सूत कातने, बुनने या कपड़ा बनाने का काम करती हैं। पहले वाली फर्म बाद की तीनों फर्मों के काम को (spinning, weavin finishing) करती है और इसलिए उसके प्रत्यावर्तन पर लाभ की दर अवश्य ही बाद की तीन फर्मों के प्रत्यावर्तन पर की दर का जोड़ होगी।

संक्षेप में तात्पर्य यह है कि प्रत्यावर्तन के लाभ की दर में बहुत परिवर्तन होता है और सामान्यतः उनके समान होने की कोई प्रवृत्ति नहीं पाई जाती। व्यापार-विधियों के बदलने के कारण प्रत्यावर्तन के लाभ की दर बदलती रहती है। उदाहरण के लिये यदि व्यवसायी अपने व्यापार की मात्रा बढ़ाना चाहते हैं, और इस प्रकार अपने वार्षिक लाभ को भी बढ़ाना चाहते हैं तो वे प्रत्यावर्तन पर अपेक्षाकृत कम लाभ पर काम प्रारंभ कर देंगे। यह सब होते हुए भी व्यवसाय की परम्परा के कारण प्रत्येक व्यवसाय में एक विशेष प्रकार के कार्य के लिये प्रत्यावर्तन पर लाभ की दर निश्चित सी होती है। प्रो० मार्शल ने इस दर को प्रत्यावर्तन पर लाभ की उचित दर ('Fair' rate of profit on the turnover) कहा है। साधारणतया कोई भी व्यक्ति इसी दर पर व्यवसाय आरंभ करेगा।

लाभ की वार्षिक दर और प्रत्यावर्तन पर लाभ की दर दो भिन्न वस्तुएँ हैं। ऊपर जो उदाहरण हमने दिया है उसमें पाँच सौ रुपये का वर्ष भर में चार बार प्रत्यावर्तन होता है। यदि प्रत्यावर्तन पर लाभ की दर ४% हो तो वर्ष भर में उसे १६% लाभ होगा अर्थात् १६% उसके वार्षिक लाभ की दर है। वार्षिक लाभ की दर में भी परिवर्तन होता है, परन्तु परिवर्तन की सीमायें अपेक्षाकृत कम होती है। जिस व्यवसाय में अत्यधिक योग्य प्रबन्ध की आवश्यकता होती है वहाँ पर वार्षिक लाभ की दर उन व्यवसायों की अपेक्षा, जहाँ प्रबन्ध में साधारण योग्यता की आवश्यकता है, अधिक होती है। साधारणतया बड़े व्यवसायों के वार्षिक लाभ की दर अधिक होती है, क्योंकि छोटे व्यवसायों की तुलना में उन्हें वस्तुएँ सस्ते दामों में मिल जाती हैं तथा अन्य अनेक सुविधायें भी प्राप्त होती हैं। इस प्रकार वार्षिक लाभ की दर में अन्तर तो अवश्य होगा परन्तु इस अन्तर की सीमायें प्रत्यावर्तन पर लाभ की दर की अपेक्षा कहीं कम होगी। इसका मुख्य कारण यह है कि बड़े व्यवसायों तथा प्रबन्ध की

विशेष योग्यता वाले व्यवसायों में पारस्परिक प्रतिस्पर्धा उनके वार्षिक लाभ की दर को कम करती रहती है। दूसरे छोटे व्यवसाय के व्यक्ति खरीदारों के निजी सम्पर्क में आकर उनकी आवश्यकताओं को ठीक तरह से जान सकते हैं। और उनकी उचित सेवा भी कर सकते हैं लाभ की दर बढ़ जाती है। परिणाम यह होता है कि इससे उनके वार्षिक लाभ की दरों की परिवर्तन की सीमायें संकुचित हो जाती हैं? उपर्युक्त कारणों से वार्षिक लाभ की दर का परिवर्तन प्रत्यावर्तन के लाभ के दर की अपेक्षा कम होता है या दूसरे शब्दों में जैसा कि प्रो० मार्शल ने कहा है, प्रत्यावर्तन के लाभ की दर का परिवर्तन वार्षिक लाभ के दर की अपेक्षा कहीं अधिक होता है।

अब हम लाभ के सिद्धान्तों का अध्ययन करेंगे।

लाभ के सिद्धान्त (THEORIES OF PROFIT)

यों तो अनेक अर्थशास्त्रियों ने लाभ के भिन्न-भिन्न सिद्धान्त दिये हैं; परन्तु उनमें से अधिकांश सिद्धान्तों ने लाभ के सम्बन्ध में आधारभूत तथ्य—वह साहसोद्यम का प्रतिफल है—को भुला दिया है। अतः हम पहले लाभ के उस सिद्धान्त का अध्ययन करेंगे जो लाभ के आधारभूत तथ्य को ध्यान में रखते हुए लाभ के निर्णय करने की विधि को सही सही बताता है। यह सिद्धान्त निम्नलिखित है।

माँग और पूर्ति का सिद्धान्त (The Supply and Demand Theory of Profit)

इस सिद्धान्त के अनुसार लाभ जोखिम या साहसोद्यम की माँग और पूर्ति द्वारा निश्चित होता है। उत्पादन के अन्य साधन साहसोद्यम की माँग करते हैं क्योंकि उत्पादन के जोखिमों को वे स्वयं उठाना नहीं चाहते। इस सिद्धान्त को स्पष्ट करने के लिए हम एक ऐसी फर्म की कल्पना करेंगें जिसमें साहसोद्यम के अतिरिक्त केवल श्रम ही उत्पादन का दूसरा साधन है। ऐसा केवल सिद्धान्त को अधिक स्पष्टरूप से समझाने के लिए मान लिया गया है। हम केवल एक ही व्यवसाय (industry) पर ध्यान देंगें उस व्यवसाय पर जिसकी एक फर्म पर हम विचार कर रहे हैं।

पूर्ति-पक्ष (Supply Side)

साहसोद्यम की पूर्ति समाज की दशा पर निर्भर है। यदि समाज के व्यक्ति अत्यन्त सावधान प्रकृति के हैं तो जोखिम उठाने वालों की संख्या बहुत कम होगी और उनके प्रतिफल की दर बढ़ जायगी। यदि पूर्ति कम न हो तब भी इस दशा में जोखिम उठाने वालों का प्रतिफल उस समाज की तुलना में अवश्य अधिक होगा जहाँ व्यक्ति इतनी सावधान प्रकृति के नहीं है। इसका स्पष्ट कारण यह है कि जोखिम उठाने में एक सावधान प्रकृति के मनुष्य का त्याग एक असावधान प्रकृति के मनुष्य से कहीं

अधिक होता है । यह बात उन प्रतिफलों से स्पष्ट हो जायगी जो उन दोनों को मान्य होंगे ।

यदि जोखिम उठाने वालों में पूर्ण प्रतिस्पर्धा है तो दोनों ही दशाओं में जोखिम उठाने वालों को एक ही प्रतिफल मिलेगा अर्थात् उस दशा में जब समाज में सावधान प्रकृति के मनुष्य हैं तो एक ही प्रतिफल सबको मान्य होगा । इसी प्रकार दूसरी स्थिति में भी एक ही प्रतिफल प्राप्त होगा, यद्यपि दोनों परिस्थितियों के प्रतिफल में अन्तर होगा ।

समाज की इन दो दशाओं में

(१) जब समाज में सावधान प्रकृति के लोग हैं,

(२) जब समाज में असावधान प्रकृति के मनुष्य हैं

हम साहसोद्यम के पूर्ति पक्ष को रेखाचित्र में जोखिम के प्रतिफल की दर द्वारा निम्न प्रकार से स्पष्ट कर सकते हैं :
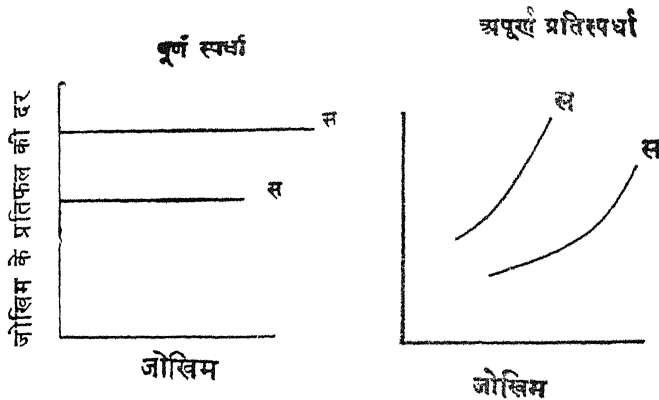
अपूर्ण प्रतिस्पर्धा की दशा में जोखिम की पूर्ति रेखा दाहिनी ओर उठती हुई होगी । पहली दशा में जब कि मनुष्य सावधान प्रकृति के हैं दूसरी दशा की अपेक्षा अधिक प्रतिफल प्राप्त होगा । इसी कारण पहली दशा की पूर्ति रेखा दूसरी दशा की पूर्ति रेखा से ऊपर है । जब जोखिम उठानेवालों में पूर्ण प्रतिस्पर्धा होती है उस समय इनका प्रतिफल एक ही होगा और इसलिए पूर्ति की रेखा अनुभूमिक (Horizontal) होगी । चित्र में भी समाज की पहली दशा की पूर्ति रेखा दूसरी दशा की पूर्ति रेखा से ऊपर है । अपूर्ण और पूर्ण प्रतिस्पर्धा की स्थितियों का पूर्ति पक्ष पर यह प्रभाव पड़ता है कि पहली दशा में पूर्ति की रेखा दाहिनी ओर ऊपर उठती हुई होती है तथा दूसरी दशा में अनुभूमिक ।

ऐसी परिस्थिति भी सम्भव है जहाँ समाज सावधान और असावधान प्रकृति के लोगों से मिल-जुलकर बना हो तथा जोखिम उठानेवालों की इतनी संख्या में माँग हो कि दोनों ही प्रकृति के व्यक्तियों को जोखिम उठाना पड़े। ऐसी दशा में पूर्ति-रेखा का क्या आकार होगा ? इस स्थिति में पूर्ति रेखा दोनों स्थितियों की पूर्ति रेखाओं को मिलाकर बनाई जायेगी।

नीचे के चित्र में अपूर्ण प्रतिस्पर्धा में पूर्ति रेखा क ख ग, ख क और ख ग को मिलाकर बनाई गई है। क ख रेखा असावधान प्रकृति के व्यक्तियों से सम्बन्धित है और ख ग सावधान प्रकृति के व्यक्तियों से। पूर्ण प्रतिस्पर्धा की दशा में भी असावधान प्रकृति के व्यक्तियों की अनुभूमिक पूर्ति रेखा क ख है तथा सावधान प्रकृति के व्यक्तियों के लिये अनुभूमिक पूर्ति रेखा ग बिन्दु से शुरू होती है। इस प्रकार
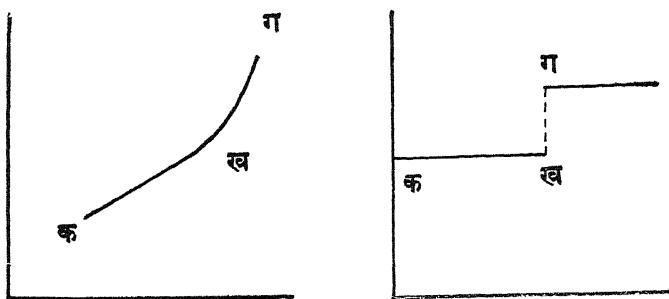
अपूर्ण प्रतिस्पर्धा की दशा में जोखिम उठानेवालों के दो वर्ग होंगे। इन दोनों वर्गों के मान्य प्रतिफल भी भिन्न-भिन्न होंगे। पूर्ण प्रतिस्पर्धा की दशा में प्रतिफल की केवल दो दरें ही होंगी।

जोखिम की इकाइयाँ उसे छोड़कर अन्य साधनों द्वारा प्रस्तुत होती है। हमारे उदाहरण में श्रम ही उत्पादन का दूसरा साधन है और यदि सिद्धान्त को और सरल रूप से प्रस्तुत करने के लिए हम यह भी मान लें कि केवल एक ही श्रमिक काम कर रहा है तो हम जोखिम की इकाइयाँ उसके काम करने के घन्टों में बना सकते हैं। काम करने के घन्टे बढ़ने से जोखिम बढ़ जायगा तथा घटने से घट जायगा।

यदि सभी साधन प्रयुक्त हो रहे हों तब भी सिद्धान्त पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा क्योंकि सभी साधन श्रम के रूप में परिवर्तित किये जा सकते हैं।

माँग-पक्ष (Demand Side)

जैसा हम पहले कह चुके हैं जोखिम या साहसोद्यम की माँग अन्य साधनों द्वारा होती है। जो साधारण उदाहरण हमने लिया है उसमें केवल श्रम ही दूसरा उत्पादन

का साधन है तथा केवल एक ही श्रमिक काम कर रहा है। इस अनुमान से जोखिम की सीमान्त उत्पादकता का पता लगाना बहुत सरल हो जावेगा और इस प्रकार उसकी माँग भी मालूम हो जायेगी क्योंकि उत्पादन के साधन की माँग उसकी सीमान्त उत्पादकता पर निर्भर होती है।

मान लीजिये एक श्रमिक एक रुपया प्रति घंटा की मजदूरी पर दस घन्टा रोज काम करता है। इस प्रकार वह दस रुपये प्रतिदिन कमाता है। मान लीजिये साहसोद्यमी को पाँच रुपये दिये जाते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि उत्पादन का कुल अर्घ पन्द्रह रुपये है जिसमें से दस रुपये श्रमिक को मिलते हैं तथा पाँच रुपये साहसोद्यमी को। अब हम जोखिम की एक इकाई बढ़ाते हैं अर्थात् श्रमिक दस घन्टे के बजाय ग्यारह घन्टे काम करता है। मान लीजिये इसके परिणामस्वरूप उत्पादन का अर्घ १८) रुपये हो जाता है। इस प्रकार तीन रुपये की वृद्धि होती है जिसमें से एक रुपया श्रमिक ले लेगा। शेष दो रुपये जोखिम या साहसोद्यम की प्रति घन्टा सीमान्त उत्पादकता है।

अब हम (प्रति घन्टा) जोखिम की माँग की रेखा तथा (प्रति घन्टा) जोखिम की पूर्ति रेखा खींच सकते हैं। जोखिम या साहसोद्यम का प्रतिफल उस बिन्दु पर निश्चित होगा जहाँ यह दोनों रेखायें एक दूसरे को काटती हैं अर्थात् उस बिन्दु पर जहाँ जोखिम की सीमान्त उत्पादकता और सीमान्त त्याग बराबर होगा। माँग और पूर्ति का सिद्धान्त सभी साधनों के प्रतिफल को निश्चित करता है और वह यहाँ भी लागू है। नीचे दिये हुए चित्र जोखिम के प्रतिफल निश्चय करने की विधि दिखा रहे हैं।
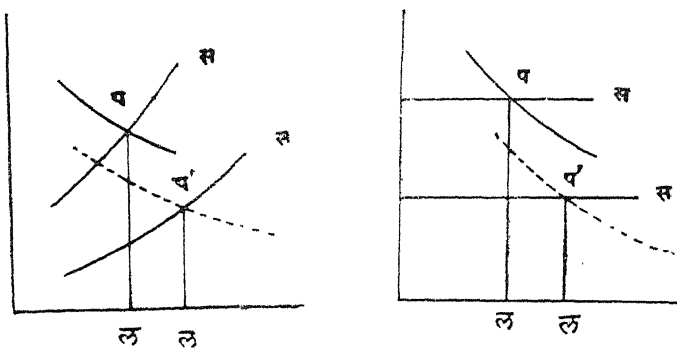
पहला चित्र अपूर्ण प्रतिस्पर्धा का है। इसी कारण जोखिम की पूर्ति रेखा ऊपर को उठती हुई है। दूसरा चित्र जोखिम उठाने वालों में पूर्ण प्रतिस्पर्धा का द्योतक है। दोनों ही दशा में जोखिम की माँग की रेखा दाहिनी ओर गिरती हुई होगी

क्योंकि (जैसा कि ह्रासमान प्रत्युपलब्धि नियम बताता है) साधन की अधिकाधिक इकाइयों के प्रयोग के साथ सीमान्त उत्पादकता कम होती जाती है। चित्रों में ऊपर की 'स' रेखा उस स्थिति की द्योतक है जब समाज में सावधान प्रकृति के लोग हैं तथा उसके नीचे की 'स' रेखा उस स्थिति की द्योतक है जब समाज में असावधान प्रकृति के मनुष्य हैं। इन दोनों दशाओं में जोखिम का प्रतिफल अलग-अलग होगा। पहली दशा में यह प्रतिफल अधिक होगा तथा दूसरी दशा में कम।

अपूर्ण प्रतिस्पर्धा में पहली दशा में जोखिम का प्रतिफल प ल है तथा दूसरी दशा में प' ल है। दूसरे चित्र में (जो पूर्ण प्रतिस्पर्धा का द्योतक है) प ल पहली दशा का तथा प' ल, दूसरी दशा का प्रतिफल है।

सिद्धान्त की विशेषता

इस सिद्धांत की मुख्य विशेषता यह है कि समस्त वितरण के क्षेत्र में उत्पादन के साधनों का प्रतिफल निश्चित करने के लिये एक ही सिद्धांत मिल जाता है। प्रो० नाइट जोखिम के लिये शेष—विधि (Residual Technique) का प्रयोग करते हैं तथा अन्य साधनों के प्रतिफल को निश्चित करने के लिये माँग और पूर्ति के सिद्धांत का प्रयोग करते हैं। उपर्युक्त सिद्धांत को अपनाने से यह कठिनाई दूर हो जाती है।

इस सिद्धांत के द्वारा यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि लाभ लागत है और केवल जोखिम का प्रतिफल है। उसके अन्तर्गत संगठन कर्त्ता का प्रतिफल नहीं है। इस प्रकार एक प्रचलित भ्रम—लाभ जोखिम तथा संगठन दोनो का ही प्रतिफल है—भी दूर हो जाता है।

यह एक संतुलित सिद्धांत (Balanced Theory) है जिसमें माँग और पूर्ति दोनों ही समान रूप से महत्त्वपूर्ण है। केवल माँग या केवल पूर्ति पर बल देने के कारण यह एकांगी होने के दोष से मुक्त है। अतः हम कह सकते हैं कि यह सिद्धांत अन्य सिद्धांतों से कहीं उत्तम है।

सिद्धान्त की आलोचना

इस सिद्धांत के विरुद्ध यह कहा जाता है कि जोखिम की पूर्ति रेखा सम्भव ही नहीं है। यदि हम जोखिम की पूर्ति रेखा जान सकते हैं तो इसका अर्थ यह हुआ कि साहसोद्यमी के लिये जोखिम जाने हुए हैं। यदि ऐसा नही है तो वह अपने त्याग का निश्चित प्रतिफल कैसे माँग सकता है ? (जिसके आधार पर पूर्ति रेखा खींचीं गई है) इस दशा में जोखिम जाने हुए (Known Risks) हो जाते हैं और इसलिये सिद्धांत प्रारम्भ में ही अशुद्ध हो जाता है क्योंकि लाभ अनजाने जोखिम (Unknown Risk) का प्रतिफल है।

यह आलोचना एक मुख्य तथ्य को भुला देती है। जोखिम उठाने में त्याग होता है और इस त्याग को हम माप सकते हैं। भविष्य के सम्बन्ध में अपनी आशाओं के आधार पर हम त्याग को माप सकते हैं। जो चीज मापी गई है वह त्याग है जोखिम नहीं, और उससे 'अनजाने जोखिम' के विचार को कोई क्षति नहीं पहुँचती। 'अनजाने जोखिम' या अनिश्चयता (uncertainty) अपना कार्य करती रहती है। जब कभी भी भविष्य आशाओं के अनुकूल या उससे अच्छा अथवा आशाओं के प्रतिकूल होता है उस समय अतिरिक्त (surplus) या हानि होती है। यह आकस्मिक अतिरिक्त या क्षति (accidental gain or loss) अनिश्चयता के क्रियाशील होने का स्पष्ट प्रमाण है।

कुछ अर्थशास्त्रियों का कथन है कि जोखिम की माँग की रेखा अत्यन्त कल्पित है। उत्पादन में श्रम के अतिरिक्त और भी साधन भाग लेते हैं जब कि इस सिद्धांत में श्रम को ही दूसरा साधन मान लिया गया है।

यह आलोचना भ्रमपूर्ण है। हम प्रारम्भ में ही कह चुके हैं कि श्रम को दूसरा साधन मानने का कारण केवल सिद्धांत को स्पष्ट रूप से समझाना था। यदि समस्त साधनों को भी ले लिया जाय तब भी सिद्धांत पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। हम (जोखिम को छोड़कर) अन्य सभी साधनों को श्रम के रूप में बदल सकते हैं और उपर्युक्त रीति से जोखिम की सीमान्त उत्पादकता निकालकर उसकी माँग की रेखा चित्र में खींच सकते हैं।

हमारे मत से लाभ निश्चित करने का यही सही सिद्धान्त है। इसमें माँग और पूर्ति दोनों पक्षों की प्रधानता है। यह एकांगी नहीं है अर्थात् केवल माँग या केवल पूर्ति पर बल नहीं देता। इसके अतिरिक्त इसकी विशेषतायें जिनकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है, इसे अन्य सिद्धान्तों से श्रेष्ठतर सिद्ध करती है। नीचे हम लाभ सम्बन्धी कुछ मुख्य सिद्धान्तों का उल्लेख कर रहे हैं जिनकी तुलना से उपर्युक्त कथन और भी स्पष्ट हो जायगा।

लाभ का लगान या अतिरिक्त सिद्धान्त (Rent Theory or the Surplus Theory of Profit)

अमेरिकन अर्थशास्त्री वाकर (Walker) के अनुसार लाभ एक अतिरिक्त है। यह साहसोद्यमी को उसकी प्राकृतिक और सीमित योग्यता (Natural and scarce ability) के फलस्वरूप मिलता है। सीमान्त साहसोद्यमी को कोई लाभ प्राप्त नहीं होता, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार की सीमान्त भूमि पर कोई लगान नहीं होता। इससे स्पष्ट है कि वाकर लाभ को एक अतिरिक्त या लगान के रूप में देखते हैं। इसी कारण से इस सिद्धान्त को लाभ का अतिरिक्त या लगान सिद्धान्त कहा जाता है।

इस सिद्धान्त के अनुसार लाभ एक अतिरिक्त है। यह एकदम अशुद्ध है। जिस अर्थ में लाभ का प्रयोग अर्थशास्त्र में होता है उस अर्थ में वह लागत है, अतिरिक्त नहीं। फिर लाभ को लगान का रूप मान कर हम उसे भूमि से सम्बन्धित कर देते हैं जब कि लाभ साहसोद्यम से सम्बन्धित है।

लाभ का प्रवैगिक सिद्धान्त (Dynamic Theory of Profits)

यह सिद्धान्त अमेरिकी अर्थशास्त्री श्री जे० बी० क्लार्क (J. B. Clark) द्वारा प्रतिपादित किया गया है। प्रो० क्लार्क के अनुसार लाभ केवल प्रवैगिक दशा में होते हैं। इस बात में यह सिद्धान्त माँग और पूर्ति के सिद्धान्त के समान है। इस सिद्धान्त में लाभ का कारण केवल प्रवैगिक दशा के परिवर्तन हैं। यदि हम परिवर्तन-शून्य स्थैतिक दशा की कल्पना करें तो लाभ विलुप्त हो जायगें। प्रो० क्लार्क के मत में एक बात और है। वह साहसोद्यमी के संगठन कार्य के प्रतिफल को भी लाभ के अन्तर्गत मानते हैं। इनके अनुसार प्रवैगिक दशा में साहसोद्यमी की आय उसके जोखिम उठाने तथा अन्य साधनों को उत्पादक बनाने के कारण है।

प्रो० क्लार्क के सिद्धान्त में कई दोष हैं। प्रवैगिक दशा के सभी परिवर्तन लाभ को जन्म नहीं देते। इन परिवर्तनों के परिणामस्वरूप उत्पन्न 'अनजाने जोखिम' ही लाभ का कारण है। प्रो० क्लार्क ने ऐसा नहीं कहा है। इसके अतिरिक्त संगठन का प्रतिफल भी लाभ में शामिल कर लिया गया है जो सर्वथा अनुचित है क्योंकि लाभ केवल साहसोद्यम प्रतिफल है। इनके सिद्धान्त से यह बात भी स्पष्ट नहीं होती कि वे आकस्मिक अतिरिक्त को लाभ के अन्तर्गत रक्खेंगे या नहीं।

प्रो० नाइट का सिद्धान्त (Prof. Knights Theory of Profits)

प्रो० नाइट के विचार उनकी पुस्तक "Risk Uncertainty and profit" में विस्तार के साथ दिये हुए हैं। यहाँ हम इसी पुस्तक के आधार पर उनके सिद्धान्त को प्रस्तुत करते हैं।

प्रो० नाइट के अनुसार लाभ साहसोद्यम से संबन्धित हैं। साहसोद्यम प्रवैगिक दशा में ही होता है क्योंकि प्रवैगिक दशा में भविष्य के सम्बन्ध में पहले से ही सोचना पड़ता है और महत्वपूर्ण निर्णय लेने पड़ते हैं। भविष्य के बारे में साहसोद्यमी के विचार गलत भी हो सकते हैं तथा इसके लिये केवल वही जिम्मेदार है। उत्पादन के अन्य साधनों के लिये प्रतिफल देना अत्यन्त आवश्यक है। इन साधनों का भाग निश्चित किया जा सकता है। परन्तु साहसोद्यमी का भाग उस प्रकार से निश्चित नहीं किया जा सकता। साहसोद्यमी का प्रतिफल शेष-आय (Residual Income) है। प्रो० नाइट के अनुसार हम लाभ को इस प्रकार जान सकते हैं।

मान लीजिये किसी वस्तु का प्रति इकाई मूल्य एक रुपया है और उस वस्तु की दो हजार इकाइयों का उत्पादन हुआ है। इस प्रकार कुल उत्पादन से दो हजार रुपये की प्राप्ति होती है। यदि श्रमिकों की मजदूरी १२००) रुपये हो, ब्याज़ तथा घिसाव का भुगतान ५००) रुपये हो, तथा संगठन कर्ता का वेतन २००) रुपये हो, तो इन साधनों को मिलाकर १९००) रुपये दिये जाते हैं। लाभ उत्पादन की कुल आय तथा इन साधनों के लिये किये गये भुगतान का अन्तर है अर्थात्

लाभ = २०००) − १९००) = १००)

प्रो० नाइट के सिद्धान्त तथा माँग और पूर्ति के सिद्धान्त में कुछ महत्वपूर्ण अन्तर है। प्रो० नाइट निर्णय करने तथा जोखिम उठाने, दोनों के प्रतिफल को लाभ के अन्तर्गत मानते हैं। माँग और पूर्ति के सिद्धान्त में लाभ केवल जोखिम का प्रतिफल है। इस अन्तर का मुख्य कारण साहसोद्यम को विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त करना है। प्रो० नाइट मुख्यतया इस बात से प्रभावित हुए हैं कि व्यवहार में जोखिम तथा निर्णय करने के कार्य तथा उनसे प्राप्त आय अलग अलग नहीं की जा सकती। इसीलिये इन दोनों आयों को उन्होंने लाभ में मिला दिया है। सिद्धान्त के दृष्टिकोण से यह तर्क-संगत प्रतीत नहीं होता।

प्रो० नाइट के अनुसार लाभ एक शेष-आय है। इस आय के अन्तर्गत आकस्मिक लाभ भी शामिल है। माँग और पूर्ति के सिद्धान्त के अनुसार आकस्मिक लाभ या अतिरिक्त साहसोद्यमी के लाभ के अन्तर्गत नहीं माने जा सकते। पूर्व उदाहरण में साहसोद्यमी का लाभ १००) रुपये था। यदि संयोगवश वस्तु का मूल्य बढ़कर २) रुपये हो जाय तो उत्पादन से प्राप्त आय ४०००) रुपये होगी। साहसोद्यमी की शेष आय ४०००) — १९००) = २१००) होगी। प्रो० नाइट इसे लाभ कहेंगे। माँग और पूर्ति के सिद्धान्त के अनुसार १००) रुपये लाभ है तथा २०००) रुपये आकस्मिक अतिरिक्त है जो मूल्य के यकायक बढ़ जाने से प्राप्त हुआ है।

उपर्युक्त सिद्धान्तों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि लाभ का माँग और पूर्ति का सिद्धान्त ही सर्वश्रेष्ठ है। उस सिद्धान्त में लाभ केवल साहसोद्यम से संबंधित है और अन्य साधनों के प्रतिफल की तरह माँग और पूर्ति द्वारा ही निश्चित किया जाता है। प्रो० नाइट के लाभ के लिये शेष-विधि तथा अन्य प्रतिफलों के लिये माँग और पूर्ति की विधि का प्रयोग करते हैं। यह समीचीन प्रतीत नहीं होता।

समाजवादी धारणा (The Socialist View)

लाभ के संबंध में समाजवादी अर्थशास्त्रियों का कहना है कि यह श्रमिकों की मजदूरी में से काटकर कमाया जाता है। मजदूरों का शोषण इसका आधार है। उनके अनुसार लाभ एक अनुचित आय है जिसे छीन लेना चाहिये। कार्ल मार्क्स (Karl

Marx) ने तो यहाँ तक भविष्यवाणी की थी कि एक दिन श्रमिक वर्ग संगठित हो कर पूँजीपतियों का विनाश कर देगा।

प्रो० टासिग (Prof. Taussig) ने भी लाभ को मजदूरी का ही एक रूप माना है। प्रो० टासिग का यह मत इसलिये मान्य नहीं हो सकता क्योंकि श्रम और साहसोद्यम में मौलिक अन्तर है।

समाजवादी विचारधारा तथा प्रो० टासिग के मतानुसार लाभ मजदूरी का ही एक रूप है। समाजवादी अर्थशास्त्री लाभ को अनुचित तथा अन्यायपूर्ण मानते हैं। आधुनिक अर्थशास्त्री लाभ का समर्थन करते हैं। उनके अनुसार लाभ साहसोद्यम का प्रतिफल है। साहसोद्यम अनिश्चयता-वहन या 'अनजाने जोखिम' उठाने में हैं जिसमें त्याग होता है। इस त्याग का प्रतिफल लाभ है, वह अनायास मिली हुई आय नहीं है। अतः लाभ पूर्णतया न्यायोचित है।

लाभ का महत्व

व्यवसाय में परिस्थितियाँ सदैव परिवर्तनशील होती हैं तथा भविष्य अनिश्चित होता है। उत्पादन तभी प्रारम्भ किया जा सकता है जब कि कोई व्यक्ति अनिश्चयता वहन करने को तैयार हो। अनिश्चयता-वहन लाभ के लिये ही किया जाता है। यदि लाभ न हो तो वर्तमान समय में उत्पादन का संगठन करना ही असम्भव हो जाय। समाज की कोई भी व्यवस्था क्यों न हो—समाजवादी, पूँजीवादी तथा साम्यवादी—जब तक प्रवैगिक दशायें होंगी अनिश्चयता भी होगी और इसलिये लाभ भी विद्यमान होगा। यह हो सकता है कि लाभ व्यक्तियों को न मिलकर सरकार को प्राप्त हो क्योंकि उत्पादन का सम्पूर्ण संगठन सरकार ने अपने हाथ में ले रखा है।

लाभ के बारे में यह धारणा कि उससे समाज में संघर्ष उत्पन्न होता है, सिद्धान्त के दृष्टिकोण से भ्रान्तिमूलक है। लाभ साहसोद्यम का प्रतिफल उसी प्रकार है जिस प्रकार श्रम का प्रतिफल मजदूरी तथा पूँजी का प्रतिफल ब्याज है। अतः उसके कारण संघर्ष होने का प्रश्न ही नहीं उठता। संघर्ष की धारणा समाजवादी विचार—लाभ मजदूरों के शोषण का परिणाम है तथा अन्यायपूर्ण है—से उत्पन्न हुई है। आधुनिक अर्थशास्त्री लाभ को न्यायपूर्ण तथा उत्पादन के साधन का प्रतिफल मानते हैं, अतः उनके अनुसार संघर्ष का प्रश्न ही नहीं उठता, जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं।

लाभ, लगान, ब्याज, इन तीनों के अन्तर को समझ लेना आवश्यक है। एडम स्मिथ से पूर्व के अर्थशास्त्रियों ने ब्याज और लाभ में कोई अन्तर नहीं किया है। उनके लिये ब्याज और लाभ की दरें पूँजी की आय कमाने की शक्ति से सम्बन्धित है। इसका मुख्य कारण यह था कि उस समय साहसोद्यम एक स्वतन्त्र साधन के रूप में माना ही न जाता था। अब साहसोद्यम को एक स्वतन्त्र साधन के रूप में मानने के बाद

ब्याज और लाभ का अन्तर स्पष्ट है। ब्याज पूंजी का प्रतिफल है तथा लाभ साह-सोद्यम का।

लाभ और लगान का अन्तर बहुत महत्वपूर्ण है।

१. लाभ एक लागत (Cost) है, लगान एक अतिरिक्त (Surplus) है।

२. लाभ केवल प्रवैगिक दशा (Dynamic State) में होता है, लगान प्रवैगिक तथा स्थैतिक (Dynamic and Static) दोनों दशाओं में होता है।

३. यदि हम लाभ के अन्दर आकस्मिक अतिरिक्त और क्षति भी शामिल कर लें तो लाभ धनात्मक तथा ऋणात्मक (Positive and Negative) दोनों ही हो सकता है परंतु लगान सदैव धनात्मक ही होता है।

४. लाभ के अंदर आकस्मिक अतिरिक्त या क्षति शामिल करने पर एक और अंतर उत्पन्न हो जाता है। लाभ एक अनिश्चित आय हो जाती है क्योंकि आकस्मिक अतिरिक्त या क्षति का पहले से पता नहीं रहता। लगान एक निश्चित आय है जो पहले से जानी जा सकती है।

कुछ अर्थशास्त्रियों ने लाभ को एक अतिरिक्त मानकर उसकी तुलना लगान से की है। आधुनिक अर्थशास्त्री लाभ को एक लागत मानते हैं अतिरिक्त नहीं। यह अवश्य है कि कुछ अर्थशास्त्री उसके अन्दर आकस्मिक अतिरिक्त या क्षति को शामिल करते हैं तथा कुछ नहीं करते हैं। हमने इन्हीं दो आधुनिक मतों के आधार पर लाभ और लगान की तुलना की है।

EXERCISES

1. Discuss the nature of Profits. What is the socialist view of Profits ? How do other writers justify Profits.

Allad. U. 1949.

2. Define 'rent'. Distinguish it clearly from Profits and Interest. Show how rent is determined. Also explain clearly the meaning of 'rent of ability, and 'quasi-rent.' Allad. U. B. Com. I 1952.

3. Distinguish between 'normal' and 'pure' Profits and show how pure Profits are derermined. Allad. U. B. Com. 1949.

4. Analyze Profits into its constituent elements. Explain the factors that determine each element.

Allad. U. B. A. 1953

5. The rate of Profits on the turnover varies much more widely than the annual rate of Profits on Capital.

Allad. U. B. A. 1952

6. Write a short note on—Normal Profits and Surplus profits.

Agra U. B. A. 1951

7. How is Profit determined ? Distinguish between Gross and Net Profits and Profits on turnover.

Agra. U. B. A. 1948.

8. "Profits rise as wages fall and fall as wages rise." Do you agree ? Give what you consider to be the right explanation of Profits differentating between "normal Porfits and Surplus Profits."

Agra U. B. A. 1946.

9. Write a short note on—Risk bearing and Profits.

Rajputana U. B. A 1949

अध्याय ३२

लगान

(RENT)

लगान शब्द का प्रयोग अर्थशास्त्र में एक विशेष अर्थ में होता है। साधारण बोलचाल की भाषा में लगान शब्द का प्रयोग आसामी द्वारा जमींदार को दिये हुए लगान से होता है; परन्तु अर्थशास्त्र में लगान शब्द का प्रयोग एक अतिरिक्त (Surplus) के अर्थ में होता है। साधारण बोलचाल के अर्थ से इस अर्थ की भिन्नता दिखाने के लिए कभी-कभी इसे आर्थिक लगान (Economic Rent) भी कहा जाता है।

लगान भूमि से प्राप्त आय को कहते हैं। यहाँ भूमि शब्द का प्रयोग अर्थशास्त्र में प्रयुक्त भूमि के अर्थ में किया गया है, साधारण बोलचाल की भूमि के अर्थ में नहीं। 'भूमि' के अध्याय में हम इस शब्द के क्लासिकल और आधुनिक अर्थ को स्पष्ट कर चुके हैं। लगान भूमि से ही सम्बन्धित है और इसलिये लगान के सम्बन्ध में भी क्लासिकल और आधुनिक विचारधारायें हैं। हम पहले क्लासिकल विचारधारा का अध्ययन करेंगे।

क्लासिकल विचारधारा (The Classical View)

सत्रहवीं शताब्दी में अंग्रेज अर्थशास्त्री सर विलियम पैटी (William Petty) ने लगान के ऊपर अपने विचार प्रकट किये। उनके अनुसार लगान एक अतिरिक्त है जो फसल की उत्पादन-लागत तथा काम करनेवाले व्यक्ति पर किये हुए खर्च को निकाल लेने पर बच रहता है। कृषिवादी विचारकों के अनुसार जमीन की उत्पत्ति से श्रमिक की जीवन-निर्वाह लागत, खेती में प्रयुक्त सामान की लागत तथा बीजों के लिए कुछ भाग निकालने पर जो शेष रहता है वह लगान है। एडम स्मिथ ने लगान के ऊपर कोई निश्चयात्मक विचार प्रकट नहीं किया है। उनकी कृति से तीन निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं।

१. कुछ स्थानों पर उन्होंने कृषिवादी विचारकों की तरह लगान को श्रम और पूंजी के खर्चे को निकालने के बाद बचा हुआ अतिरिक्त माना है।

२. कुछ स्थानों पर उन्होंने लगान को एक फीस के रूप में देखा है जो भूमि के स्वामी को उसकी भूमि के प्रयोग के लिए दी जाती है।

३. लगान भूमि में एकाधिकार के परिणामस्वरूप होता है तथा श्रम द्वारा उत्पन्न किये हुए अर्घ का अनधिकृत रूप से छीना हुआ भाग है।

जे० बी० से (J.B. Say) जिन्होंने अधिकतर एडम स्मिथ के सिद्धान्तों का समर्थन एवम् प्रतिपादन किया है, लगान के विषय पर एडम स्मिथ से एकदम भिन्न विचार रखते हैं। उनके अनुसार लगान दो कारणों से होता है :

(१) लगान भूमि से उत्पन्न वस्तुओं की माँग और पूर्ति के कारण होता है क्योंकि माँग और पूर्ति ऐसा मूल्य निश्चित करती हैं जिसके कारण उत्पादन की समस्त लागत निकाल लेने पर भी अतिरिक्त शेष रहता है।

(२) दूसरे भूमि को खेती योग्य बनाने के लिए किये हुए सुधारों के कारण भी लगान ब्याज के भुगतान की तरह देना पड़ता है।

रिकार्डो के लगान के विश्लेषण के ऊपर जे० बी० से का उनसे बहुत विवाद हुआ और जे० बी० से ने सदैव यही कहा कि पूर्ति की अपेक्षा माँग अधिक होने के कारण ऐसा मूल्य निश्चित होता है जिसके कारण लागत निकाल लेने पर भी अतिरिक्त बचता है। यही लगान का वास्तविक आधार है।

उपर्युक्त अर्थशास्त्रियों ने लगान मिलने के कारणों पर पर्याप्त विस्तार से विचार नहीं किया है। इसी कारण उनके कथन लगान के एक व्यवस्थित सिद्धान्त का रूप नहीं ले सके। यह श्रेय रिकार्डो को प्राप्त हुआ। उन्होंने लगान के सिद्धान्त को एक व्यवस्थित रूप में सामने रखा।

रिकार्डो का सिद्धान्त (The Ricardian Theory)

रिकार्डो के अनुसार लगान भूमि की उत्पत्ति का वह भाग है जो भूस्वामी को भूमि की जन्मजात तथा अक्षय शक्तियों के प्रयोग के लिए दिया जाता है*। रिकार्डो द्वारा लगान का विश्लेषण दो प्रकार से प्रस्तुत किया जाता है।

१. जमीन के टुकड़ों की उपजाऊपन की विभिन्नता द्वारा तथा

२. कृषि में ह्रासमान प्रत्युपलब्धि नियम द्वारा

१. यदि मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये समान रूप से उपजाऊ भूमि यथेष्ट मात्रा में उपलब्ध है तो लगान नहीं होगा। जब जन संख्या की वृद्धि कम उपजाऊ तथा कम अच्छी जगहों पर स्थित भूमि को खेती के प्रयोग में ला देती है तब लगान दिया जायगा। हम यह मान कर चलेंगे कि तीन कोटि की भूमि (Land of

---

*"Rent is that portion of the produce of earth which is paid to the landlord for the use of original and indestructible powers of thesoil."—Ricardo.

three degrees of quality) वर्तमान हैं। मान लीजिये जनसंख्या की वृद्धि के कारण खाद्य-वस्तुओं की माँग इतनी बढ़ जाती है कि दूसरी कोटि की भूमि को प्रयोग में लाना आवश्यक हो जाता है। इस स्थिति में श्रम या यातायात की लागत बढ़ जाने के कारण (क्योंकि दूसरी कोटि की भूमि कम उपजाऊ है या अच्छी जगह नहीं है) वस्तुओं का मूल्य बढ़ जायगा। यह स्पष्ट है कि इस मूल्य की तुलना में पहली कोटि की भूमि पर उत्पादन की औसत लागत कम होगी और इसलिए उत्पत्ति की प्रत्येक इकाई की लागत और उसके लिए प्राप्त मूल्य के अन्तर से अतिरिक्त प्राप्त होगा। रिकार्डो के अनुसार यही लगान है। यदि जनसंख्या और भी बढ़ती है तो तीसरे कोटि की भूमि भी प्रयोग में आ जायगी और पहली तथा दूसरी कोटि की भूमि पर लगान प्राप्त होगा। वस्तुओं का मूल्य तीसरी कोटि की भूमि पर आवश्यक उत्पादन लागत द्वारा निश्चित होगा। दूसरे शब्दों में, वस्तुओं का मूल्य कम से कम अनुकूल परिस्थितियों में उत्पादन के लिए आवश्यक श्रम की लागत द्वारा निश्चित होगा। इसी बात को ध्यान में रखते हुए रिकार्डो ने कहा है कि अनाज का मूल्य इसलिए अधिक नहीं होता क्योंकि लगान दिया जाता है, वरन् लगान इसलिये दिया जाता है क्योंकि अनाज का मूल्य ऊँचा है। उन्हीं के शब्दों में :

Corn is not high because rent is paid but rent is paid because corn is high.

रिकार्डो के अनुसार माँग और पूर्ति के नियम तथा कम से कम अनुकूल भूमि पर उत्पादन लागत अनाज का मूल्य निश्चित करते हैं। ज्यों-ज्यों जनसंख्या की वृद्धि होती जाती है निम्न कोटि की भूमि प्रयोग में आती जाती है। निम्न कोटि की भूमि पर उत्पादन लागत बढ़ने के कारण मूल्य बढ़ता जाता है तथा उच्च कोटि की भूमि पर उत्पादन लागत कम होने के कारण लगान बढ़ता जाता है।

२. (अ) लगान का एक वैकल्पिक विश्लेषण (Alternative Anaylsis) कृषि में ह्रासमान प्रत्युपलब्धि नियम द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। कम उर्वरा या कम उपजाऊ भूमि को प्रयोग में लाने के बजाय एक ही भूमि पर श्रम और पूँजी की इकाइयों का अधिकाधिक प्रयोग किया जा सकता है। श्रम और पूँजी के इस प्रयोग से कुछ समय बाद ह्रासमान प्रत्युपलब्धि प्राप्त होगी अर्थात् लागत बढ़ती जायगी। श्रम और पूँजी की इतनी इकाइयाँ प्रयोग में लाई जायेंगी ताकि उसकी आखिरी इकाई पर किया हुआ व्यय उससे प्राप्त उत्पत्ति के बराबर हो। इस आखिरी इकाई से पहले की इकाइयों पर इसी के बराबर किये हुए व्यय के बदले में प्राप्त उत्पत्ति अन्तिम इकाई से प्राप्त उत्पत्ति से कहीं अधिक होगी। अतः पहले की इकाइयों से प्राप्त उत्पत्ति पर लगान प्राप्त होगा।

इस बात को हम इस प्रकार से भी समझा सकते हैं। मान लीजिये श्रम और पूँजी की सीमान्त इकाई से प्राप्त उत्पत्ति २५ मन गेहूँ है। यह इस इकाई पर किये हुए व्यय के बराबर है। इससे पहले की इकाइयों पर किया हुआ व्यय भी इसी के बराबर होगा परन्तु उनसे प्राप्त उत्पत्ति (ह्रासमान प्रत्युपलब्धि नियम के कारण) कहीं अधिक होगी। इस प्रकारप्र त्येक इकाई के प्रयोग से प्राप्त उत्पत्ति पर लागत प्राप्त होगा। नीचे के चित्र में ऐसी स्थिति में प्राप्त लगान दिखाया गया है।

नीचे के चित्र में जनसंख्या की वृद्धि के कारण जमीन के एक ही टुकड़े पर श्रम और पूँजी की अधिकाधिक इकाइयों का प्रयोग किया जाता है। निम्न कोटि की भूमि
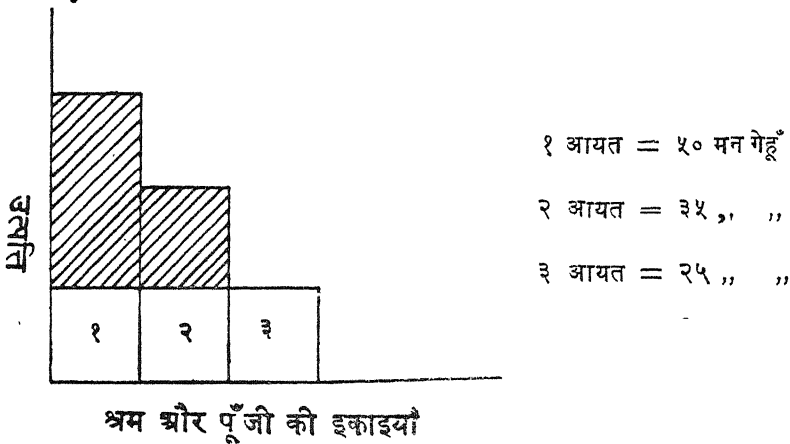
श्रम और पूँजी की इकाइयाँ

प्रयोग में नहीं लाई जाती। श्रम और पूँजी की पहली, दूसरी और तीसरी इकाइयों से क्रमशः ५०, ३५, और २५ मन गेहूँ की उपज होती है। तीसरी इकाई से प्राप्त उपज श्रम और पूँजी की इकाई की लागत (इकाई पर किया हुआ व्यय) के बराबर है। पहली और दूसरी इकाइयों की लागत भी यही है परन्तु उनकी उत्पत्ति अधिक है। इस दशा में (५०-२५) = २५ मन गेहूँ लगान के रूप में पहली इकाई के प्रयोग से प्राप्त हो रहा है तथा (३५-२५) यानी १० मन गेहूँ दूसरी इकाई के प्रयोग से लगान के रूप में प्राप्त हो रहा है। तीसरी इकाई के प्रयोग से कोई लगान प्राप्त नहीं होता। वस्तु का मूल्य सीमान्त इकाई के व्यय से ही निश्चित किया जाता है अतः यह बात फिर स्पष्ट हो जाती है कि लगान मूल्य में शामिल नहीं होता वरन् मूल्य के ऊँचा होने पर लगान प्राप्त होता है।

(ब) ऊपर हमने गहन खेती का उदाहरण लेकर लगान का विश्लेषण किया है। ह्रासमान प्रत्युपलब्धि नियम के सहारे हम विस्तृत खेती में भी इस नियम को स्पष्ट कर सकते हैं। यदि जनसंख्या की वृद्धि के कारण समान रूप से उर्वरा या उपजाऊ

भूमि के अधिक टुकड़े प्रयोग में लाये जायँ परन्तु श्रम और पूँजी की मात्रा में कोई परिवर्तन न किया जाय तब भी लगान मिलेगा। मान लीजिये जनसंख्या की वृद्धि के कारण समान उर्वरा भूमि के तीन टुकड़े प्रयोग में लाये जाते हैं (जनसंख्या की वृद्धि से पहले केवल एक टुकड़ा प्रयोग में लाया जाता था)। श्रम और पूँजी की इकाइयों में कोई परिवर्तन नहीं किया जाता। ह्रासमान प्रत्युपलब्धि नियम से यह स्पष्ट है कि जमीन के प्रत्येक टुकड़े से प्राप्त उत्पत्ति कम होती जायगी तथा इस उदाहरण में केवल तीन ही टुकड़े प्रयोग में लाये जायेंगे क्योंकि तीसरे टुकड़े की उत्पत्ति श्रम और पूँजी की इकाइयों की लागत के बराबर है। इस दशा में भी पहले और दूसरे जमीन के टुकड़े पर लगान प्राप्त होगा। जमीन के तीसरे टुकड़े पर कोई लगान नहीं होगा तथा वस्तु का मूल्य भी इसी टुकड़े की उत्पत्ति की लागत द्वारा निश्चित होगा। इस प्रकार यह बात फिर स्पष्ट हो जाती है कि लगान मूल्य में शामिल नहीं होता। नीचे का चित्र विस्तृत खेती में प्राप्त लगान दिखा रहा है।
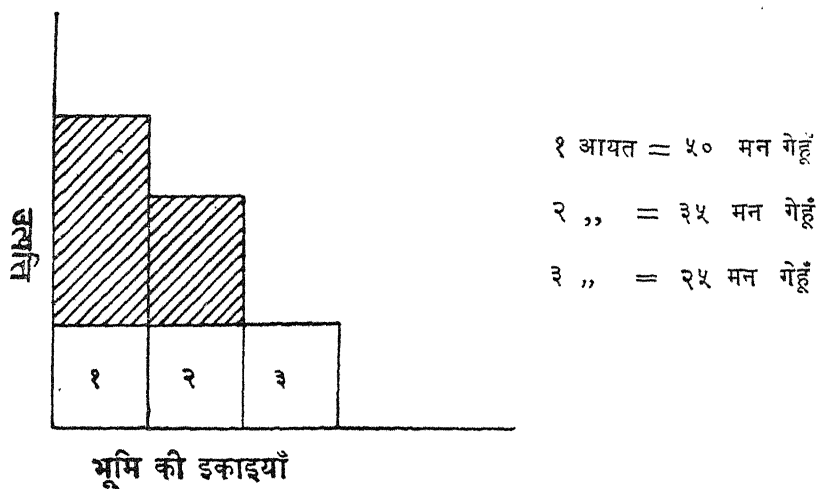
इस चित्र में रंगा हुआ भाग लगान दिखा रहा है।

ऊपर हमने रिकार्डो के लगान के सिद्धान्त का अध्ययन किया है। रिकार्डो के सिद्धान्त से वस्तुओं के मूल्य तथा लगान का सम्बन्ध भी स्पष्ट है। इनके अनुसार लगान वस्तुओं के मूल्य में शामिल नहीं होता क्योंकि मूल्य सीमान्त भूमि या श्रम और पूँजी की सीमान्त इकाई द्वारा निश्चित होता है और सीमा पर कोई लगान नहीं मिलता इसलिये लगान मूल्य को प्रभावित नहीं करता है। मूल्य लगान को प्रभावित करता है। यदि मूल्य बढ़ जाता है तो लगान भी बढ़ जाता है जैसा कि रिकार्डो के कथन से, जिसे हम ऊपर उद्धृत कर चुके हैं, भी स्पष्ट है।

रिकार्डो के सिद्धान्त की आलोचना

रिकार्डो के सिद्धान्त की अनेक कारणों से आलोचना की गई है। इनके आलोचकों की संख्या भी अनेक हैं परन्तु लगान के सिद्धान्त की आलोचना मुख्यतया दो आधारों पर ही की गई है।

१. सिद्धान्त की अव्यवहारिकता तथा
२. सिद्धान्त के अनुमान।

दूसरी प्रकार की आलोचनाओं के दो मुख्य आलोचक केरे (Carey) और बेस्टिया (Bastiat) हैं। यह दोनों अर्थशास्त्र के 'आशावादी स्कूल' (Optimistic School) के प्रतिनिधि हैं। माल्थस और रिकार्डो अर्थशास्त्र के 'निराशावादी स्कूल' (Pessimistic School) के प्रतिनिधि हैं। केरे ने रिकार्डो के सिद्धांत के दो आधारभूत तथ्यों को––कृषि में ह्रासमान प्रत्युपलब्धि नियम तथा माल्थस का खाद्यपदार्थ की अपेक्षा जनसंख्या की अधिक वृद्धि का नियम––गलत ठहराया है।

कई जातियों के बसने के सम्बन्ध में बहुत सी सांख्यिकीय सूचना एकत्रित करके केरे ने यह सिद्ध किया कि सबसे उपजाऊ भूमि ही सबसे पहले प्रयोग में नहीं लाई जाती। सच्चाई इसके बिलकुल विपरीत है। बसनेवाले पहाड़ियों की चोटियों, खाली जगहों पर बस जाते हैं क्योंकि उपजाऊ भूमि को पाने के लिए जंगलों और झाड़ियों को साफ करना तथा घाटियों के पानी को बहाना पड़ता है जिसके लिए वर्षों के परिश्रम तथा पूंजी की आवश्यकता है। अतः ज्यों-ज्यों नयी भूमि प्रयोग में लायी जायेगी अनाज का मूल्य बढ़ने के बजाय घटता जायगा। इसलिये केरे के अनुसार रिकार्डो का यह कहना कि नई भूमि के प्रयोग के साथ (क्योंकि वे क्रमशः कम उपजाऊ होंगी) अनाज का मूल्य बढ़ता जायगा, उचित नहीं है। वास्तव में केरे एक ऐसे नये देश की बात कर रहा था जहाँ नई भूमि जंगल साफ करने पर ही मिल सकती है। रिकार्डो एक ऐसे देश की चर्चा कर रहा था जहाँ भूमि का हर प्राप्य टुकड़ा प्रयोग में आ चुका था। इसके अतिरिक्त केरे ने रिकार्डो के सिद्धांत की मुख्य बातों को भुला दिया है। रिकार्डो के लगान-सिद्धांत का आधार भूमि के प्रयोग का ऐतिहासिक क्रम न होकर भूमि की उर्वरा-शक्ति का अन्तर है जो बाद में किसी भी समय प्रकट हो सकता है, केरे ने अपनी दूसरी आलोचना बहुत स्पष्ट नहीं की है परन्तु उसका तर्क यह है।

यदि भूमि की उचित रूप से परवाह की जाय तो भूमि से ह्रासमान प्रत्युपलब्धि के स्थान पर वृद्धिमान प्रत्युपलब्धि प्राप्त होगी। इसके अतिरिक्त जनसंख्या की वृद्धि केवल उपभोक्ताओं की ही वृद्धि नहीं है वरन् उत्पादकों की भी वृद्धि है। अतः नयी नयी भूमि पर नयी श्रम और पूंजी की इकाइयों के प्रयोग से भविष्य के लिए कोई

भय नहीं है। भविष्य युद्ध, महामारियों से ग्रसित न होकर एक सुहाना समय होगा। इस प्रकार माल्थस और रिकार्डो के क्रम को केरे ने एकदम उलट दिया। ऐसा होने पर सवाल यह उठता है कि लगान क्या है ? केरे के अनुसार वह भूतकाल में जमीन की उर्वरा शक्ति को बनाये रखने, पानी बहने, सफाई करने आदि के श्रम पर किये हुए व्यय का भुगतान है।

बेस्टिया (Bastiat) की आलोचना इतनी तर्कपूर्ण नहीं है। उसके विचारों में तर्क के स्थान पर आशा अधिक है। उसकी आलोचना भी भूमि की वृद्धिमान उत्पादकता के अनुमान पर आधारित है। उसके अनुसार आर्थिक प्रगति के साथ श्रम की लागत कम होती जाती है। कृषि-पदार्थों को ऐसे मूल्य पर बेचना चाहिए ताकि यह लागत निकल आये। लगान भूमि को खेती योग्य बनाने में प्रयुक्त श्रम और पूँजी का भुगतान है।

वास्तव में केरे और बेस्टिया ने उन परिशोधनों को पहले से ही देख लिया था जो बाद में रिकार्डो के सिद्धांत के सम्बन्ध में किये गये। सीनियर से लेकर जे० बी० से, जे० एस० मिल, एफ०ए० वाकर, कार्ल मैंगर तथा मार्शल* आदि अनेक अर्थशास्त्रियों ने सीमान्त या कम से कम उपजाऊ भूमि की तुलना में अन्य भूमि से प्राप्त अतिरिक्त तक ही लगान के विचार को सीमित रखना अनुपयुक्त समझा। जो बात भूमि के सम्बन्ध में सच थी वह पूँजी के विभिन्न रूपों तथा श्रम पर भी उतनी ही लागू थी। उस समय लगान को एक विवेचनात्मक अतिरिक्त (differential surplus) मानने की प्रवृत्ति का जन्म हुआ। सीनियर ने उस सभी आय को जो बिना त्याग के प्राप्त होती है, लगान कहा।[१]

उपजाऊ भूमि पर लगान, जे० बी० से (J. B. Say) का कहना है, कम उपजाऊ भूमि पर अधिक लागत के कारण नहीं मिलता वरन् वस्तु की माँग उसके मूल्य को इतना बढ़ा देती है कि सारी लागत निकाल लेने पर भी अतिरिक्त बच रहता है। यह बात मशीन से उत्पादित वस्तुओं के बारे में भी उतनी ही सच है। अंत में इन लेखकों का मत यह था कि भूमि और उसे खेती योग्य बनाने के लिए प्रयुक्त पूंजी—इन दोनों से अलग-अलग कितनी उत्पत्ति होती है, इसका जानना असम्भव है। अतः लगान किसी भी प्रकार के विनियोग की आय के रूप में देखा जा सकता है।

भूमि की सीमितता तथा उसकी अक्षयता की भी आलोचना की गई है। मशीन भी उसी प्रकार से सीमित है जिस प्रकार से भूमि क्योंकि दोनों ही पृथ्वी से प्राप्त हैं। भूमि की उर्वरता तथा भूमि स्वयं नष्ट हो सकती है।

---

* J. B. Say. J. S. Mill, F. A. Walker, Karl Menger, Marshall.

१ Senior defined rent as, "all revenue earned without sacrifice."

आलोचकों ने उपर्युक्त कारणों से रिकार्डो के सिद्धान्त का अव्यवहारिक तथा गलत ठहराया है। वर्तमान समय में लगान के ऐसे सिद्धान्त का निर्माण किया गया है जो लगान को अत्यन्त व्यापक रूप में प्रस्तुत करता है। लगान के बारे में आधुनिक विचारधारा का अध्ययन करते समय हम उसे स्पष्ट करेंगे।

खानों तथा मकानों का लगान

सिद्धान्त की आलोचना करते समय हम इस बात को कह चुके हैं कि लगान का सिद्धान्त केवल भूमि पर ही लागू नहीं होता वह खानों, मछलियों तथा इमारतों पर भी लागू होता है।

खानों में इस सिद्धान्त को ह्रासमान प्रत्युपलब्धि नियम की सहायता से बड़ी सरलता से देखा जा सकता है। ज्यों-ज्यों खान पर श्रम और पूंजी की अधिकाधिक इकाइयों का प्रयोग किया जायगा प्रत्येक इकाई की लागत बढ़ती जायेगी। सीमान्त इकाई की तुलना में पहले वाली इकाइयों से लगान प्राप्त होगा।

इसी प्रकार मछलियों के ऊपर भी लगान का सिद्धान्त लागू किया जा सकता है। हम सीमान्त मछलीगाह की कल्पना कर सकते हैं तथा उससे अच्छी कोटि के मछलीगाहों को उसकी तुलना में प्राप्त लगान को दिखा सकते हैं। ह्रासमान प्रत्यु-पलब्धि नियम के द्वारा भी इस सिद्धान्त को स्पष्ट किया जा सकता है।

इमारतों या मकानों के लगान की चर्चा करते समय बहुत सावधानी की जरूरत है। मकानों से प्राप्त किराया सबका सब लगान नहीं होता। उसमें लगी हुई पूंजी श्रम जोखिम आदि का प्रतिफल भी होता है। इसके बाद जो किराये में बचता है वह लगान है।

समान उपजाऊ भूमि और लगान

अक्सर प्रश्न किया जाता है, यदि भूमि समान रूप से उपजाऊ हो तो लगान होगा या नहीं? अति अल्पकालीन दृष्टिकोण से ऐसा सम्भव हो सकता है कि लगान न मिले। यदि जनसंख्या की वृद्धि इस प्रकार है कि समान रूप से उपजाऊ भूमि के विभिन्न टुकड़ों पर श्रम और पूँजी की समान इकाइयों का प्रयोग सम्भव है तो लगान नहीं होगा क्योंकि भूमि के प्रत्येक टुकड़े पर उत्पादन लागत समान होगी; परन्तु यह अत्यन्त कल्पित स्थिति है। भूमि सीमित होती है और अन्त में उसी सीमित भूमि पर जनसंख्या की वृद्धि के कारण श्रम और पूँजी की अधिकाधिक इकाइयों का प्रयोग करना पड़ता है। इस प्रकार गहन खेती होती है और ह्रासमान प्रत्युपलब्धि नियम के कारण लगान उत्पन्न होता है। अतः यह कहना कि भूमि के समान रूप से उप-जाऊ होने पर लगान नहीं होगा अशुद्ध है।

भूमि के सुधार तथा परिवहन की सुविधाओं का लगान पर प्रभाव

यदि भूमि के सुधार से उत्पादकता में वृद्धि हो जाय तो इसका प्रभाव लगान

पर अवश्य पड़ेगा। तुलना के लिए हम यह मान लेंगे कि भूमि के सुधार से पहले और बाद में भूमि की बराबर इकइयाँ ही प्रयोग में लाई जायेंगी। भूमि की उत्पादकता में तीन प्रकार का परिवर्तन हो सकता है।

१. भूमि की सभी इकाइयों की उत्पादकता समान रूप से बढ़ जाय।

२. प्रारम्भ की भूमि पर उत्पादकता की वृद्धि अधिक हो तथा बाद की भूमि पर कम।

३. बाद की भूमि पर उत्पादकता की वृद्धि अधिक हो तथा प्रारम्भ की भूमि पर कम।

मान लीजिये भूमि के तीन टुकड़ों का प्रयोग हो रहा है तथा सुधार से पहले इनकी उत्पत्ति क्रमश: ५०, ३५ और २५ मन गेहूँ है। यदि भूमि में सुधार केबाद प्रत्येक टुकड़े की उत्पादकता समान रूप से २०%बढ़ जाती है तो भूमि के तीसरे टुकड़े की तुलना में पहले दो टुकड़ों का लगान बढ़ जायगा। उदाहरण के लिए :

सुधार से पहले (गेहूँ मनों में)	लगान (गेहूँ मनों में)	% वृद्धि	सुधार के बाद (गेहूँ मनों में)	लगान (गेहूँ मनों में)
५०—२५	=२५	२०%	६०—३०	=३०
३५—२५	=१०	२०%	४२—३०	=१२
२५—२५	=०	२०%	३०—३०*	=०
	=३५			=४२

स्पष्ट है कि लगान बढ़ गया है।

इसी प्रकार दूसरी स्थिति में भी लगान बढ़ जायगा यदि भूमि की पहली इकाई की उत्पादकता में २०% वृद्धि हो तथा दूसरी और तीसरी इकाई में १४ २/७% तथा १०% की वृद्धि हो,

सुधार से पहले (गेहूँ मनों में)	लगान (गेहूँ मनों में)	% वृद्धि	सुधार के बाद (गेहूँ मनों में)	लगान (गेहूँ मनों में)
५०—२५	=२५	२०%	६०—२७ १/२	=३२ १/२
३५—२५	=१०	१४ १/७	४०—२७ १/२	=१२ १/२
२५—२५	=०	१०%	२७ १/२—२७ १/२	=०
	=३५			=४५

यहाँ भी लगान पहले की तुलना में बढ़ गया है। तीसरी स्थिति में लगान घट जायगा।

*** लगान सीमान्त इकाई की उपज को घटाकर जाना जाता है अतः बढ़ी हुई उत्पादकता से सीमान्त इकाई की बढ़ी हुई उत्पत्ति को घटाया गया है।**

सुधार से पहले (गेहूँ मनों में)	लगान (गेहूँ मनों में)	% वृद्धि	सुधार के बाद (गेहूँ मनों में)	लगान (गेहूँ मनों में)
५० — २५	= २५	२%	५१ — ३०	= २१
३५ — २५	= १०	६ २/३%	३७ १/३ — ३०	= ७ १/३
२५ — २५	= ०	२०%	३० — ३०	= ०
	= ३५			= २८ १/३

स्पष्ट है कि लगान कम हो गया है। इन निष्कर्षों के प्रति अपवाद भी हो सकता है परन्तु सामान्यतया यह ठीक होंगे। नीचे दिये हुए तीन चित्र इसी बात को स्पष्ट कर रहे हैं :

१. वृद्धि की समान दर

२. प्रारम्भ में अधिक वृद्धि बाद में कम
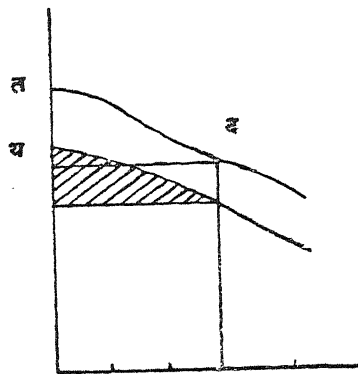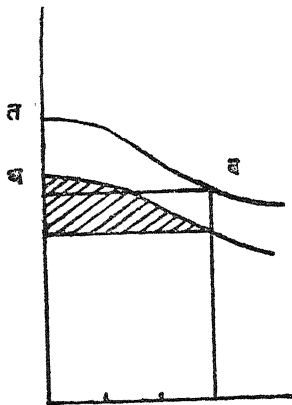
३. प्रारम्भ में कम बाद में अधिक
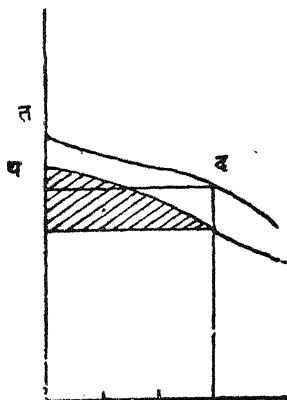
तीनों चित्रों में सुधार के बाद का लगान त थ द द्वारा दिखाया गया है। पहले और दूसरे चित्र में लगान बढ़ गया है तथा तीसरे चित्र में कम हो गया है। पहले प्राप्त लगान रंगीन भाग द्वारा दिखाया गया है।

पहले चित्र में समान वृद्धि होने पर भी त द रेखा प्रारम्भ में अधिक उठी हुई है तथा बाद में कम। इसका कारण यह है। पहली भूमि की उत्पत्ति का २०% अन्य भूमि की उत्पति के २०% से अधिक होगा क्योंकि पहली भूमि की उत्पत्ति शेष दोनों भूमि की उत्पत्ति से अधिक है। इसी प्रकार दूसरी भूमि की उत्पत्ति का २०% तीसरी भूमि की उत्पत्ति के २०% से अधिक और पहली भूमि के २०% से कम होगा।

परिवहन के साधनों के सुधार का भी लगान पर प्रभाव पड़ता है। हम कह चुके हैं कि जनसंख्या की वृद्धि के साथ निम्नकोटि की भूमि भी प्रयोग में आने लगती है और उन पर उत्पादन लागत श्रम तथा परिवहन के कारण बढ़ जाती है जिससे मूल्य बढ़ जाता है और लगान भी बढ़ जाता है। यदि परिवहन की सुविधाओं के कारण निम्नकोटि की भूमि पर पहुँचने तथा उसे प्रयोग में लाने के लिए परिवहन लागत में कमी हो जाती है तो इससे सीमान्त भूमि पर उत्पादन लागत कम हो जायेगी, मूल्य भी कम हो जायेगा और लगान भी कम हो जायेगा। इसके विपरीत परिवहन की सुविधाओं के कारण यदि वस्तु को नये बाजार मिल जाते हैं और इससे वस्तु की माँग बढ़ जाती है तो वस्तु का मूल्य भी बढ़ जायेगा। मूल्य बढ़ जाने के कारण लगान भी बढ़ जायगा।

योग्यता का लगान (Rent of Ability)

हम 'भूमि' के अध्याय में इस बात को स्पष्ट कर चुके हैं कि भूमि प्रकृति की निःशुल्क देन है। मनुष्यों के अन्दर भी ऐसी योग्यता होती है जिसे हम स्वाभाविक या प्रकृति-प्रदत्त कह सकते हैं। यह स्पष्ट है कि इस प्रकार की योग्यता भूमि ही है और इसलिये इससे प्राप्त आय लगान है। साधारणतया लगान को भूमि (जमीन) से सम्बन्धित करके देखा जाता है अतः योग्यता से प्राप्त लगान को उसकी भिन्नता स्पष्ट करने के लिए 'योग्यता का लगान' कहा जाता है। यहाँ यह याद रखना चाहिये कि सीखी हुई योग्यता से प्राप्त आय पूँजी का प्रतिफल है, लगान नहीं। एक बात और भी ध्यान देने योग्य है कि योग्यता का लगान मिलने के लिए योग्यता को दुर्लभ होना चाहिए क्योंकि दुर्लभ न होने पर उसका कोई भी मूल्य न होगा।

योग्यता का लगान हमारा ध्यान इस बात की ओर आकर्षित करता है कि मनुष्य को भी लगान मिल सकता है। प्राचीन अर्थशास्त्री उदाहरणार्थ कृषिवादी अर्थशास्त्री भूमि (जमीन) को ही उत्पादन मानते थे और लगान को उसी से सम्बन्धित करते थे। योग्यता के लगान से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि मनुष्य भी, चाहे वह श्रमिक, पूँजीपति आदि हो, लगान प्राप्त कर सकता है। यदि किसी कार्यक्षेत्र में लोगों की आय बहुत अधिक है परन्तु फिर भी पर्याप्त संख्या में मनुष्य उस क्षेत्र में प्रविष्ट नहीं होते तो इसका कारण योग्यता का लगान हो सकता है।

आभास लगान (Quasi-Rent)

सबसे पहले प्रो० मार्शल ने आभास लगान के विचार को हमारे सामने रखा। आभास लगान पूँजी (यन्त्रादि) में अस्थाई रूप से भूमि की विशेषताओं के प्रकट होने के कारण प्राप्त होता है। यदि किसी प्रकार की मशीन का कुछ समय के लिए बहुत अभाव हो जाय तो उनसे लागत से कहीं अधिक आय प्राप्त होती है। जब तक इन

मशीनों का अभाव रहेगा, आय और लागत के अन्तर से आभास लगान प्राप्त होता रहेगा। यह आभास लगान इसलिये है क्योंकि पूँजी ने अस्थाई समय के लिए ही भूमि की विशेषता—(Fixity) स्थिरता—प्राप्त कर ली है। कुछ समय के बाद मशीनों की पूर्ति बढ़ जायगी तथा उनसे प्राप्त आभास लगान विलुप्त हो जायँगे।

आभास लगान को एक दूसरे दृष्टिकोण से भी देखा जा सकता है। एक वस्तु की उत्पादन लागत अनुपूरक (Supplementary cost) तथा प्राथमिक लागत (Prime cost) से मिलकर बनती है। अनुपूरक लागत उत्पादन की मात्रा के प्रत्येक परिवर्तन के साथ नहीं बदलती। प्राथमिक लागत उत्पादन की मात्रा के साथ बदलती रहती है। किसी समय उत्पादन से इतनी आय हो सकती है कि प्राथमिक लागत निकाल लेने के बाद भी अतिरिक्त बचता है। आय और लागत का यह अन्तर लगान ही है; परन्तु यह लगान अस्थाई है क्योंकि दीर्घकाल में जब उत्पादन की अनुपूरक लागत को भी शामिल किया जायगा तो यह सम्भव है कि आय और प्राथमिक लागत के अन्तर से प्राप्त अतिरिक्त अर्थात् लगान विलुप्त हो जाय। इस अस्थाई रूप के कारण ही उसे आभास लगान कहते हैं। यह आभास लगान मूल्य के प्राथमिक लागत से अधिक होने के कारण प्राप्त होता है। इस प्रकार से प्राप्त कुल आभास लगान को हम नीचे दी हुई विधि द्वारा माप सकते हैं।
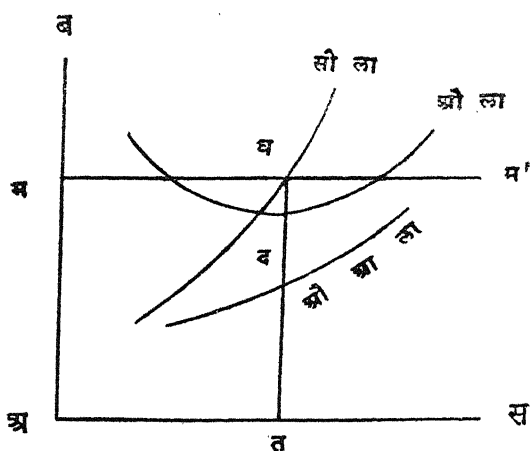
ऊपर के चित्र में औ आ० ला औसत प्राथमिक लागत दिखा रही है। औ ला तथा सी ला क्रमशः औसत तथा सीमान्त लागत दिखा रही हैं। म म' द्वारा दिखाई हुई रेखा वस्तु का मूल्य बता रही है। जब वस्तु का मूल्य म म' रेखा द्वारा दिखाया जाता है तब वस्तु की अ त इकाइयाँ उत्पन्न की जायेंगी क्योंकि उत्पादन की इसी मात्रा

पर सीमान्त लागत तथा सीमान्त आय ध बिन्दु पर बराबर है। द ध, मूल्य और प्राथमिक लागत का अन्तर है अतः कुल आभास लगान (Total Quasi-Rent)

= अ त × द ध

यह स्पष्ट है कि उत्पादन के किसी साधन की अस्थाई कमी के कारण आय और लागत का अन्तर आभास लगान है।

आभास लगान का महत्व

आभास लगान ऐसी स्थितियों को समझने में हमारी सहायता करता है जहाँ अस्थाई रूप से किसी वस्तु का मूल्य अत्यधिक बढ़ जाय। मूल्य की इस वृद्धि के कारण अतिरिक्त आय, क्योंकि वह लगान है, को न्यायपूर्वक नियंत्रित किया जा सकता है। उदाहरण के लिए लड़ाई के जमाने में मकानों की माँग बढ़ जाने के कारण तथा उनकी पूर्ति स्थिर रहने के कारण उनका किराया बहुत बढ़ गया जिससे उनके स्वामियों को बहुत अधिक मात्रा में आभास लगान की प्राप्ति होने लगी। सरकार ने किरायों के नियंत्रण द्वारा इस स्थिति को सुलझाने का प्रयत्न किया।

आभास लगान एक अस्थाई आय है और इसलिए उसके आधार पर हम किसी व्यक्ति की आर्थिक स्थिति को सही-सही नहीं जान सकते। यदि हम आभास लगान के आधार पर ही किसी व्यक्ति की आर्थिक स्थिति को आँकने का प्रयत्न करें तो हमारा अनुमान अतिरंजित (exaggerated) होगा।

लगान, आभास लगान और ब्याज (Rent, Quasi-rent and Interest)

आभास लगान और ब्याज के अन्तर को समझ लेना चाहिये। ब्याज पूँजी का प्रतिफल है। आभास लगान पूँजी में कुछ समय के लिए उत्पन्न हुई भूमि की विशेषताओं से प्राप्त आय है। अतः इन दोनों में आधारभूत अन्तर है।

कुछ अर्थशास्त्रियों का कहना है कि लगान ब्याज का ही एक रूप है। भूमि को खेती योग्य बनाने के लिए उस पर बहुत पूँजी व्यय करनी पड़ती है। अतः भूमि से प्राप्त लगान वास्तव में पूंजी के इस विनियोग का ही प्रतिफल है। यह धारणा भ्रामक है। भूमि की परिभाषा देते समय हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि प्रत्येक वस्तु में भूमिपक्ष होता है। अतः जिस वस्तु को हम पूँजी कहते हैं उसमें भी भूमिपक्ष होता है। लगान इसी भूमि पक्ष से प्राप्त आय है, वह पूँजी का प्रतिफल नहीं है।

आधुनिक विचारधारा (THE MODERN VIEW)

लगान की आधुनिक परिभाषा उसे विशिष्ट साधन की आय मानती है। सीधे-सादे शब्दों में आय और लागत का अन्तर ही लगान है। आधुनिक अर्थशास्त्री लगान को आय तथा अवसर लागत का अन्तर या आय तथा हस्तांतरण आय (Transfer Earning) का अन्तर मानते हैं। अवसर लागत तथा हस्तांतरण आय की चर्चा भूमि

के अध्याय में की जा चुकी है। लगान की इस परिभाषा की विशेषता यह है कि इसके द्वारा लगान के विचार का विस्तार हो जाता है। लगान केवल भूमि (जमीन) और पूँजी (मशीन) से ही सम्बन्धित नहीं रह जाता। इस परिभाषा के अनुसार हम प्रत्येक व्यक्ति की आय में, चाहे वह श्रमिक हो या संगठनकर्त्ता, लगान का अंश देख सकते हैं। यदि एक श्रमिक को एक स्थान पर सौ रुपये माहवार मिलता हो, उस स्थान पर काम करने में उसे अस्सी रुपये माहवार की नौकरी छोड़नी पड़ती हो तो इस दशा में उसकी अवसर लागत अस्सी रुपये है। यही उसकी हस्तांतरण आय भी है। आय तथा अवसर लागत या हस्तांतरण आय का अन्तर ही लगान है। अतः इस श्रमिक की आय में १००) रुपये–८०) रुपये = २०) रुपये लगान का अंश है जो उसमें विद्यमान भूमि पक्ष के कारण है।

आधुनिक अर्थशास्त्रियों के अनुसार लगान विशिष्टता के कारण मिलता है। Rent is due to specifity)

लगान और मूल्य का सम्बन्ध (Relation between Rent and Price)

रिकार्डो के सिद्धान्त को समझाते समय हम उसके इस निष्कर्ष की ओर बराबर संकेत करते गये हैं कि लगान मूल्य को प्रभावित नहीं करता वरन् मूल्य से प्रभावित होता है। वह लागत का भाग नहीं है और इसलिये मूल्य निश्चित करने में उसका कोई हाथ नहीं होता। क्लासिकल अर्थशास्त्रियों का तर्क, हम उसे संक्षेप में दुहराते हैं, इस प्रकार है।

सीमान्त भूमि पर कोई लगान प्राप्त नहीं होता। वस्तु का मूल्य इसी भूमि की उत्पादन लागत द्वारा निश्चित होता है। इस लागत में लगान का कोई भाग नहीं होता और इस लिए लगान मूल्य निश्चित नहीं करता। यदि सीमान्त भूमि न हो तब श्रम और पूँजी की सीमान्त इकाई की लागत वस्तु का मूल्य निश्चित करेगी। इस सीमान्त इकाई की लागत में लगान का अंश नहीं होगा और इस प्रकार इस बात की फिर पुष्टि हो जाती है कि लगान मूल्य को नहीं निश्चित करता।

यह बात लगान की आधुनिक परिभाषा से भी स्पष्ट है। एक व्यक्ति की अवसर लागत उसे स्वीकार आय की निम्नतम सीमा है। वह उससे अधिक लेने को तो प्रस्तुत होगा परन्तु इससे कम लेने को नहीं। किसी भी व्यक्ति की सेवाओं का प्रतिफल उसकी अवसर लागत पर निर्भर है जिसमें लगान शामिल नहीं है लगान केवल अतिरिक्त मात्र है। इस परिभाषा से एक बात अवश्य स्पष्ट हो जाती है कि एक व्यक्ति के लिए लगान अतिरिक्त है परन्तु दूसरे व्यक्ति के लिए पहले व्यक्ति का लगान लागत हो सकता है। यह बात ऊपर के श्रमिक के उदाहरण से भली-भाँति स्पष्ट हो जायेगी। इस उदाहरण में श्रमिक को सौ रुपये की आय प्राप्त हो रही है, अस्सी

रुपये अवसर लागत है, तथा बीस रुपये लगान है। यह लगान उसकी लागत (अवसर लागत) का भाग नहीं है; परन्तु उत्पादक के लिए जो उसे यह मजदूरी देता है, मजदूर का लगान लागत है। अतः इस तथ्य को समझने के लिए कि लगान लागत का भाग नहीं है तथा अतिरिक्त मात्र है, यह याद रखना चाहिए कि यह बात एक व्यक्ति के लिए उसके बारे में ही सच है। किसी व्यक्ति का लगान दूसरे व्यक्ति की लागत का भाग हो सकता है। उदाहरण के लिये ऊपर वाले मजदूर का लगान उत्पादक की लागत में शामिल होगा, यह स्पष्ट ही है।

EXERCISES

1. Rent is a surplus accruing to a specific factor, the supply of which is fixed. Explain.

Allad. U. B. A. 1950.

2. Distinguish between rent and quasi-rent ?

Allad. U. B. A. 1951

3. Define 'rent' and examine the relation between the price of agricultural produce and the rent of land.

Allad. U. B. A. 1952.

4. Define 'rent'. Distinguish it clearly from profits and interest Show how rent is determined. Also explain clearly the meaning of 'rent of ability' and 'quasi-rent.'

Allad. U. B. A. 1952.

5. What is 'quasi-rent' ? How does it differ from (a) rent and (b) interest.

Allad. U. B. A. 1953.

6. Outline the theory of Rent in a coherent manner and show how according to the theory, rent does not determine, but is determined, by the price of the produce of the land.

Agra U. B. Com, 1952

7. How is rent of agricultural land affected by improvements in (a) Methods of cultivation and (b) means of transport ?

Agra U. B. Com. 1951.

8. Show as briefly as you can how rent (a) is the result of the operation of the law of diminishing returns (b) rises with increases in population and (c) does not deternine the price of the produce.

Agra U. B. Com. 1950

9. Critically examine the Ricardian theory of Rent. Will there be rent if all lands were equally desirable.

Rajputana U. B. A. 1951.